गीता माता

गीता हमारी सद्गुरु रूप है, माता रूप है और हमें विश्वास रखना चाहिए कि उसकी गोद में सिर रखकर हम सही-सलामत पार हो जायंगे.

मो. क. गांधी
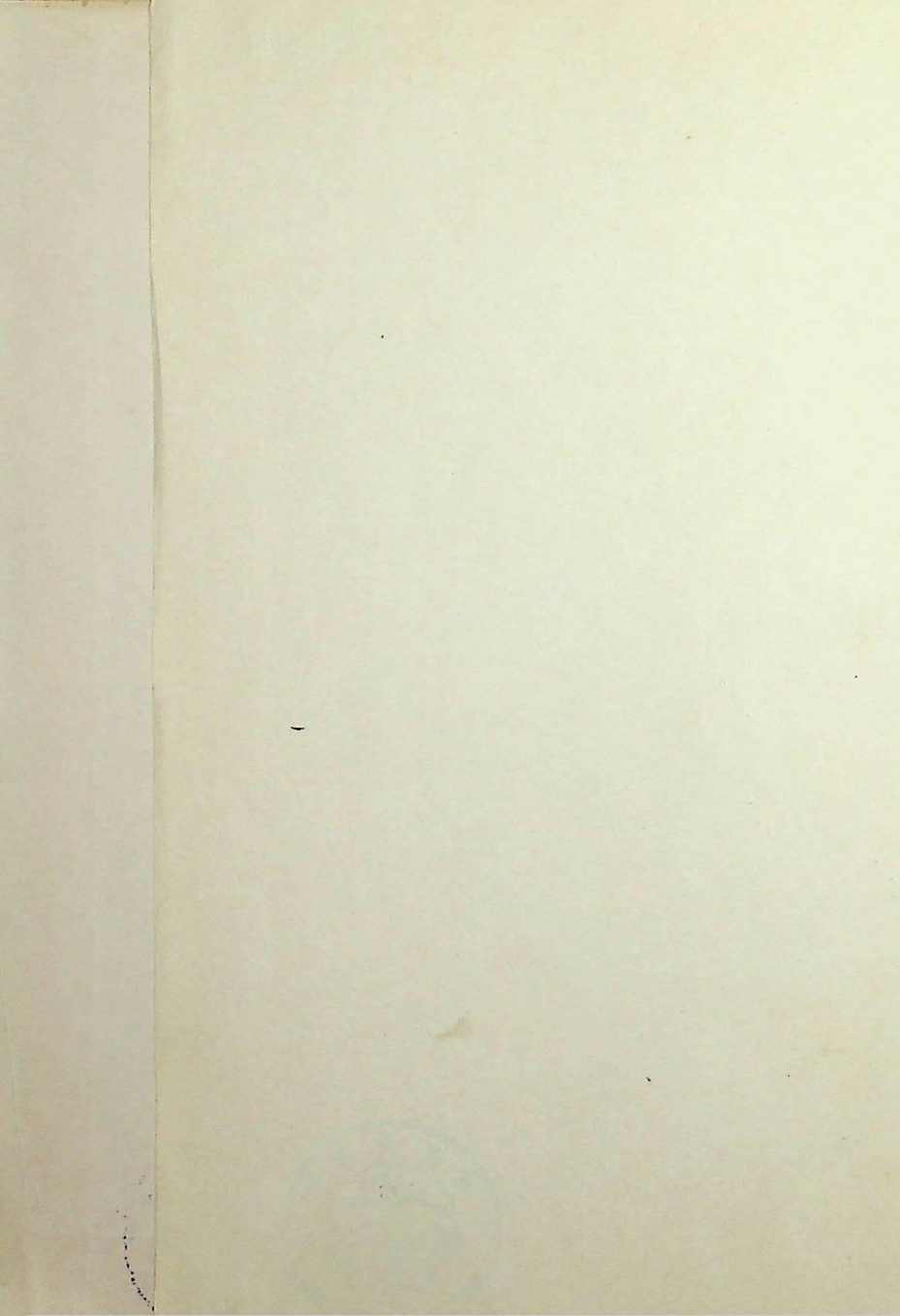
गीता माता

श्रीमद्भगवद्गीता का मूल संस्कृत पाठ, तात्पर्य,
हिन्दी-टीका, सरल और भक्ति प्रधान
श्लोकों का संग्रह, गीता-पदार्थ-कोश तथा
गीता-संबंधी लेख

महात्मा गांधी

१९८४

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशकीय

महात्मा गांधी के महाप्रयाण के उपरान्त 'मंडल' ने निश्चय किया था कि वह उनके विचारों के व्यापक प्रसार के लिए सस्ते-से-सस्ते मूल्य में 'गांधी-साहित्य' का विधिवत प्रकाशन करेगा। इसी निश्चय के अनुसार उसने दस पुस्तकें प्रकाशित कीं। हमें हर्ष है कि इन पुस्तकों का सर्वत्र स्वागत हुआ। आज उनमें से अधिकांश पुस्तकें अप्राप्य हैं।

इस पुस्तक-माला के एक खण्ड में हमने गीता के विषय में गांधीजी ने जो कुछ लिखा था, उसका संग्रह किया। पाठक जानते हैं कि गांधीजी ने गीता को 'माता' की संज्ञा दी थी। उसके प्रति उनका असीम अनुराग और भक्ति थी। उन्होंने गीता के श्लोकों का सरल-सुबोध भाषा में तात्पर्य दिया, जो 'गीता-बोध' के नाम से प्रकाशित हुआ; उन्होंने सारे श्लोकों की टीका की और उसे 'अनासक्तियोग' का नाम दिया; कुछ भक्ति-प्रधान श्लोकों को चुनकर 'गीता-प्रवेशिका' पुस्तिका निकलवाई; इतने से भी उन्हें संतोष नहीं हुआ तो उन्होंने 'गीता-पदार्थ-कोश' तैयार करके न केवल शब्दों का सुगम अर्थ दिया, अपितु उन शब्दों के प्रयोग-स्थलों का निर्देश भी किया। गीता की ओर उनका ध्यान क्यों और कैसे आकर्षित हुआ, उनपर उसका क्या प्रभाव पड़ा, गीता के स्वाध्याय से क्या लाभ होता है, आदि-आदि बातों पर उन्होंने समय-समय पर लेख भी लिखे। गीता के मूल पाठ के साथ यह सम्पूर्ण सामग्री हमने प्रस्तुत पुस्तक में संकलित कर दी।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस पुस्तक का पहला संस्करण शीघ्र ही समाप्त हो गया। दूसरा संस्करण किया। वह भी कुछ ही समय में

खप गया। अब नया संस्करण पाठकों को सुलभ हो रहा है।

गीता को हमारे देश में ही नहीं, सारे संसार में असामान्य लोकप्रियता प्राप्त है। असंख्य व्यक्ति गहरी भावना से उसे पढ़ते हैं और उससे प्रेरणा लेते हैं। जीवन की कोई भी ऐसी समस्या नहीं, जिसके समाधान में गीता सहायक न होती हो। उसमें ज्ञान, भक्ति एवं कर्म का अद्भुत समन्वय है और मानव-जीवन इन्हीं तीन अधिष्ठानों पर आधारित है।

ऐसी पुस्तकें कभी पुरानी नहीं होतीं, बल्कि उनमें से नित नये अर्थ प्रकट होते हैं। उनमें जो जितनी गहराई से डुबकी लगाता है, उतने ही मूल्यवान रत्न उसके हाथ पड़ते हैं।

हमें पूरा विश्वास है कि पाठक पुस्तक को चाव से पढ़ेंगे और इसके अध्ययन से भरपूर लाभ उठावेंगे।

—मंत्री

गीता-माता

गीता शास्त्रों का दोहन है। मैंने कहीं पढ़ा था कि सारे उपनिषदों का निचोड़ उसके सात सौ श्लोकों में आ जाता है। इसलिए मैंने निश्चय किया कि कुछ न हो सके तो भी गीता का ज्ञान प्राप्त कर लूं। आज गीता मेरे लिए केवल बाइबिल नहीं है, केवल कुरान नहीं है, मेरे लिए वह माता हो गई है। मुझे जन्म देनेवाली मात तो चली गई, पर संकट के समय गीता-माता के पास जाना मैं सीख ग हूं। मैंने देखा है जो कोई इस माता की शरण जाता है, उसे ज्ञानामृत से तृप्त ती है।

कुछ लोग कहते हैं कि गीता तो महा ग्रंथ है। स्व० लोकमान्य तिलक ने अनेक ग्रंथों का मनन करके पंडित दृष्टि से उसका अभ्यास किया और उसके गूढ़ अर्थों को वह प्रकाश में लाये। उसपर एक महा-भाष्य की रचना भी की। तिलक महाराज के लिए यह गूढ़ ग्रंथ था; पर हमारे जैसे साधारण मनुष्य के लिए यह गूढ़ नहीं है। सारी गीता का वाचन आपको कठिन मालूम हो तो आप केवल पहले तीन अध्याय पढ़ लें। गीता का सारा सार इन तीन अध्यायों में आ जाता है। बाकी के अध्यायों में वही बात अधिक विस्तार से और अनेक दृष्टियों से सिद्ध की गई है। यह भी किसी को कठिन मालूम हो तो इन तीन अध्यायों में से कुछ ऐसे श्लोक छांटे जा सकते हैं, जिनमें गीता का निचोड़ आ जाता है। तीन जगहों पर तो गीता में यह भी आता है कि सब धर्मों को छोड़कर तू केवल मेरी ही शरण ले। इससे अधिक सरल और सादा उपदेश और क्या हो सकता है? जो मनुष्य गीता में से अपने लिए आश्वासन प्राप्त करना चाहे तो उसे उसमें से वह पूरा-पूरा मिल जाता है। जो मनुष्य गीता का भक्त होता है, उसके लिए निराशा की कोई जगह नहीं है, वह हमेशा आनन्द में रहता है।

मो० क० गांधी

अनुक्रम

□□

□

□□

गीता-बोध

[श्रीमद्भगवद्गीता का तात्पर्य]

भूमिका

...जिस पुस्तक का हम नित्य थोड़ा-थोड़ा करके पारायण और मनन करते हैं, जिसे अपने लिए हमने आध्यात्मिक दीपस्तंभरूप बना रखा है, मैंने उसे जैसा समझा है, उस पर अपने विचार देने की इच्छा है। यह खयाल पहले एक पत्र पाकर हुआ था। लेकिन गत सप्ताह भाई...के पत्र ने मुझे इसके लिए तैयार कर दिया। वह लिखते हैं कि वह 'अनासक्तियोग' पढ़ते हैं, लेकिन समझने में बड़ी कठिनाई पड़ती है। सबकी समझ में आने योग्य भाषा में अर्थ करने का प्रयत्न करते हुए भी, शब्दशः अनुवाद देने में समझने की कठिनाई तो अवश्य रहेगी। विषय ही जहां कठिन हो, वहां सरल भाषा क्या कर सकती है? इसलिए अब विषय को ही सरल रीति से रखने का प्रयत्न करना चाहता हूं। जिस वस्तु का हम उठते-बैठते उपयोग करना चाहते हैं, जिसकी सहायता से अपनी सारी आंतरिक उलझनें सुलझाने का प्रयत्न करते हैं, उस ग्रंथ को जितनी रीतियों से, जैसे भी, समझा जा सके, वैसे समझने और बारंबार उसका मनन करने से अन्त में हम तन्मय हो सकते हैं। मैं तो अपनी सारी कठिनाइयों में गीता-माता के पास दौड़ा आता हूं और अबतक आश्वासन पाता आया हूं। दूसरों को भी, जो उसमें से आश्वासन पाने के इच्छुक हैं, शायद, जिस रीति से मैं उसे रोज-रोज समझता जाता हूं, वह रीति जानकर, कुछ अधिक मदद मिले। उस रीति को जानकर उनको कुछ नया प्रकाश पाना भी असंभव नहीं है।

—मो० क० गांधी

यरवदा जेल
४-११-१९३०

प्रास्ताविक

गीता महाभारत का एक नन्हा-सा विभाग है। महाभारत ऐतिहासिक ग्रंथ माना जाता है, पर हमारे मत से महाभारत और रामायण ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं हैं, बल्कि धर्मग्रंथ हैं; या उसे ऐतिहासिक ही कहना चाहें तो वह आत्मा का इतिहास है और वह हजारों वर्ष पहले क्या हुआ, यह नहीं बताता, बल्कि प्रत्येक मनुष्य-देह में क्या जारी है, इसकी वह एक तस्वीर है। महाभारत और रामायण दोनों में देव और असुर के—राम और रावण के—बीच नित्य चलनेवाली लड़ाई का वर्णन है। ऐसे वर्णन में गीता कृष्ण-अर्जुन के बीच का संवाद है। उस संवाद का वर्णन अंध धृतराष्ट्र से संजय करता है। गीता के मानी हैं गाई गई। इसमें 'उपनिषद्' अध्याहार है। अत: पूरा अर्थ हुआ, गाया गया उपनिषद्। उपनिषद् अर्थात् ज्ञान-बोध, यानी गीता का अर्थ हुआ श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया हुआ बोध। हमें यह समझकर गीता पढ़नी चाहिए कि हमारी देह में अन्तर्यामी श्रीकृष्ण भगवान आज विराजमान हैं और जब जिज्ञासु अर्जुनरूप होकर धर्म-संकट में अन्तर्यामी भगवान से पूछेगा, उसकी शरण लेगा तो उस समय वह हमें शरण देने को तैयार मिलेंगे। हम ही सोये हैं, अन्तर्यामी तो सदा जाग्रत है। वह बैठा राह देखता है कि हममें कब जिज्ञासा उत्पन्न हो; पर हमें सवाल भी पूछना नहीं आता, सवाल पूछने की मन में भी नहीं उठती। इस कारण हम गीता-सरीखी पुस्तक का नित्य ध्यान धरते हैं, उसका भजन करते-करते अपने मन में धर्म-जिज्ञासा उत्पन्न करने की इच्छा करते हैं, सवाल पूछना सीखना चाहते हैं और जब-जब मुसीबत में पड़ते हैं तब-तब अपनी मुसीबत दूर करने के लिए गीता की शरण जाते हैं और उससे आश्वासन लेते हैं।

इसी दृष्टि से गीता पढ़नी है। वह हमारी सद्गुरुरूप है, मातारूप है और हमें विश्वास रखना चाहिए कि उसकी गोद में सिर रखकर हम सही-सलामत पार हो जायंगे। गीता के द्वारा अपनी सारी धार्मिक गुत्थियां सुलझा लेंगे। इस भांति नित्य गीता का मनन करनेवालों को उसमें से नित्य नये अर्थ मिलेंगे। ऐसी एक भी धर्म की उलझन नहीं है कि जिसे गीता न सुलझा सकती हो। हमारी अल्प श्रद्धा के कारण हमें उसका पढ़ना-समझना न आये तो वह दूसरी बात है, पर हम अपनी श्रद्धा नित्य-नित्य बढ़ाते जाने और अपने को सावधान रखने के लिए गीता का पारायण करते हैं। इस भांति गीता का मनन करते हुए जो कुछ अर्थ मुझे उसमें से मिला है और आज भी मिलता जाता है, उसका सार आश्रमवासियों की सहायता के लिए यहां दे रहा हूं।

यरवदा जेल

११-११-१९३०

—मो० क० गांधी

शुक्लकृष्णे गतीह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥

जगत में ज्ञान और अज्ञान के दो परम्परा से चलते आये मार्ग माने गये हैं। ज्ञान-मार्ग से मनुष्य मोक्ष पाता है, अज्ञान-मार्ग से उसे पुनर्जन्म प्राप्त होता है।

(गीता ८/२६)

गीता-बोध

पहला अध्याय

मंगलप्रभात
११-११-३०

पांडव और कौरवों के अपनी सेनासहित युद्ध के मैदान कुरुक्षेत्र में एकत्र होने पर दुर्योधन द्रोणाचार्य के पास जाकर दोनों दलों के मुख्य-मुख्य योद्धाओं के बारे में चर्चा करता है। युद्ध की तैयारी होने पर दोनों ओर के शंख बजते हैं और अर्जुन के सारथी श्रीकृष्ण भगवान उसका रथ दोनों सेनाओं के बीच में लाकर खड़ा करते हैं। अर्जुन घबराता है और श्रीकृष्ण से कहता है कि मैं इन लोगों से कैसे लड़ूं ? दूसरे हों तो मैं तुरंत भिड़ सकता हूं, लेकिन ये तो अपने स्वजन ठहरे। सब चचेरे भाई-बंधु हैं। हम एक साथ पले हैं। कौरव और पांडव कोई दो नहीं हैं। द्रोण केवल कौरवों के ही आचार्य नहीं हैं, हमें भी उन्होंने सब विद्याएं सिखाई हैं। भीष्म तो हम सभी के पुरखा हैं। उनके साथ लड़ाई कैसी ? माना कि कौरव आततायी हैं, उन्होंने बहुत दुष्ट कर्म किये हैं, अन्याय किये हैं, पांडवों की जगह-जायदाद छीन ली है, द्रौपदी जैसी महासती का अपमान किया है। यह सब उनके दोष अवश्य हैं, पर मैं उन्हें मारकर कहां रहूंगा ? ये तो मूढ़ हैं, मैं इन-जैसा कैसे बनूं ? मुझे तो कुछ समझ है, सारासार का विवेक है। मुझे यह जानना चाहिए कि अपनों के साथ लड़ने में पाप है। चाहे उन्होंने हमारा हिस्सा हजम कर लिया हो, चाहे वे हमें मार ही

डालें, तब भी हम उनपर हाथ कैसे उठावें ? हे कृष्ण ! मैं तो इन सगे-संबंधियों से नहीं लड़ूंगा।

इतना कहते-कहते अर्जुन की आंखों के सामने अंधेरा छा गया और वह अपने रथ में गिर पड़ा।

यह पहले अध्याय का प्रसंग है। इसका नाम 'अर्जुन-विषाद-योग' है। विषाद के मानी दुःख के होते हैं। जैसा दुःख अर्जुन को हुआ, वैसा हम सबको होना चाहिए। धर्म-वेदना तथा धर्म-जिज्ञासा के बिना ज्ञान नहीं मिलता। जिसके मन में अच्छे और बुरे का भेद जानने की इच्छा तक नहीं होती, उसके सामने धर्म-चर्चा कैसी ? कुरुक्षेत्र युद्ध तो निमित्तमात्र है, सच्चा कुरुक्षेत्र हमारा शरीर है। यही कुरुक्षेत्र है और धर्म-क्षेत्र भी। यदि इसे हम ईश्वर का निवास-स्थान समझें और बनावें तो यह धर्मक्षेत्र है। इस क्षेत्र में कुछ-न-कुछ लड़ाई तो नित्य चलती ही रहती है और ऐसी अधिकांश लड़ाइयां 'मेरा'-'तेरा' को लेकर होती हैं। अपने-पराये के भेदभाव से पैदा होती हैं। इसीलिए आगे चलकर भगवान अर्जुन से कहेंगे कि 'राग', 'द्वेष' सारे अधर्म की जड़ है। जिसे 'अपना' माना उसमें राग पैदा हुआ, जिसे 'पराया' जाना, उसमें द्वेष—वैरभाव—आ गया। इसलिए 'मेरे'-'तेरे' का भेद भूलना चाहिए, या यों कहिये कि राग-द्वेष को तजना चाहिए। गीता और सभी धर्म-ग्रंथ पुकार-पुकार कर यही कहते हैं। पर कहना एक बात है और उसके अनुसार करना दूसरी बात। हमें गीता इसके अनुसार करने की भी शिक्षा देती है। कैसे, सो आगे समझने की कोशिश की जायगी।

दूसरा अध्याय

सोमप्रभात
१७-११-३०

अर्जुन को जब कुछ चेत हुआ तो भगवान ने उसे उलाहना दिया और कहा कि यह मोह तुझे कहां से आ गया ? तेरे-जैसे वीर पुरुष को यह शोभा नहीं देता। पर अर्जुन का मोह यों टलनेवाला नहीं था। वह लड़ने से इनकार करके बोला, "इन सगे-संबंधियों और गुरुजनों को मारकर, मुझे राजपाट तो दर-किनार, स्वर्ग का सुख भी नहीं चाहिए। मैं कर्त्तव्यविमूढ़ हो गया हूं। इस स्थिति में धर्म क्या है, यह मुझे नहीं सूझता। मैं आपकी शरण हूं, मुझे धर्म बतलाइये !"

इस भांति अर्जुन को बहुत व्याकुल और जिज्ञासु देखकर भगवान को दया आई। वह उसे समझाने लगे, "तू व्यर्थ दुःखी होता है और बेसमझे-बूझे ज्ञान की बातें करता है। जान पड़ता है कि तू देह और देह में रहनेवाले आत्मा का भेद ही भूल गया है। देह मरती है, आत्मा नहीं मरता। देह तो जन्म से ही नाशवान है, देह में जैसे जवानी और बुढ़ापा आता है, वैसे ही उसका नाश भी होता है। देह का नाश होने पर देही का नाश कभी नहीं होता। देह का जन्म है, आत्मा का जन्म नहीं है। वह तो अजन्मा है। वह बढ़ता-घटता नहीं। वह तो सदैव था, आज है और आगे भी रहनेवाला है। फिर तू किसका शोक करता है ? तेरा शोक तेरे मोह का कारण है। इन कौरव आदि को तू अपना मानता है, इसलिए तुझे ममता हो गई है, पर तुझे समझना चाहिए कि जिस देह से तुझे ममता है वह तो

नाशवान ही है। उसमें रहनेवाले जीव का विचार करने पर तो तत्काल तेरी समझ में आ जायगा कि उसका नाश तो कोई कर ही नहीं सकता। उसे न अग्नि जला सकती है, न वह पानी में डूब सकता है, न वायु उसे सुखा सकती है। इसके सिवा तू अपने धर्म को तो सोच! तू तो क्षत्रिय है। तेरे पीछे यह सेना इकट्ठी हुई है। अब अगर तू कायर बन जाय तो तू जो चाहता है, उससे उलटा नतीजा होगा और तेरी हँसी होगी। आजतक तेरी गिनती बहादुरों में हुई है। अब यदि तू बीच में लड़ाई छोड़ देगा तो लोग कहेंगे कि अर्जुन कायर होकर भाग गया। यदि भागने में धर्म होता तो लोकनिंदा की कोई परवा न थी, पर यहां तो यदि तू भागे तो अधर्म होगा और लोकनिंदा उचित समझी जायगी, यह दोहरा दोष होगा।

"यह तो मैंने तेरे सामने बुद्धि की दलील रखी, आत्मा और देह का भेद बताया और तेरे कुल-धर्म का तुझे भान कराया, पर अब तुझे मैं कर्मयोग की बात समझाता हूं। इस योग पर अमल करने वाले को कभी नुकसान नहीं होता। इसमें तर्क की बात नहीं है, आचरण की है, करके अनुभव पाने की बात है, और यह तो प्रसिद्ध अनुभव है कि हजारों मन तर्क की अपेक्षा तोला-भर आचरण की कीमत अधिक है। इस आचरण में भी यदि अच्छे-बुरे परिणाम का तर्क आ घुसे तो वह दूषित हो जाता है। परिणाम के विचार से ही बुद्धि मलिन हो जाती है। वेदवादी लोग कर्मकांड में पड़कर अनेक प्रकार के फल पाने की इच्छा से अनेक क्रियाएं आरम्भ कर बैठते हैं। एक से फल न मिलने पर दूसरी के पीछे दौड़ते हैं। फिर कोई तीसरी बता देता है तो उसके पीछे हैरान होते हैं, और ऐसा करने में उनकी मति भ्रम

में पड़ जाती है। वास्तव में मनुष्य का धर्म फल का विचार छोड़कर कर्तव्य-कर्म किये जाने का है। इस समय यह युद्ध तेरा कर्तव्य है, इसे पूरा करना तेरा धर्म है। लाभ-हानि, हार-जीत तेरे हाथ में नहीं है। तू गाड़ी के नीचे चलने वाले कुत्ते की भांति इसका बोझ क्यों ढोता है ? हार-जीत, सरदी-गरमी, सुख-दुःख देह के साथ लगे ही हुए हैं, उन्हें मनुष्य को सहना चाहिए। जो भी नतीजा हो, उसके विषय में निश्चिंत रहकर तथा समता रखकर मनुष्य को अपने कर्तव्य में तन्मय रहना चाहिए। इसका नाम योग है और इसी में कर्मकुशलता है। कार्य की सिद्धि कार्य के करने में छिपी है, उसके परिणाम में नहीं। तू स्वस्थ हो, फल का अभिमान छोड़ और कर्तव्य का पालन कर।"

यह सुनकर अर्जुन पूछता है, "यह तो मेरे बूते के बाहर जान पड़ता है। हार-जीत का विचार छोड़ना, परिणाम का विचार ही न करना, ऐसी समता, ऐसी स्थिर बुद्धि, कैसे आ सकती है ? मुझे समझाइये कि ऐसी स्थिर बुद्धि वाले कैसे होते हैं, उन्हें कैसे पहचाना जा सकता है ?"

तब भगवान ने जवाब दिया :

"हे अर्जुन ! जिस मनुष्य ने अपनी कामना-मात्र का त्याग किया है और जो अपने अन्तर में ही संतोष प्राप्त करता है, वह स्थिरचित्त, स्थितप्रज्ञ, स्थिरबुद्धि या समाधिस्थ कहलाता है। ऐसा मनुष्य न दुःख से दुःखी होता है, न सुख से फूल उठता है। सुख-दुःखादि पांच इंद्रियों के विषय हैं। इसलिए ऐसा बुद्धिमान मनुष्य कछुए की भांति अपनी इंद्रियों को समेट लेता है, पर कछुआ तो जब किसी दुश्मन को देखता है तब अपने अंगों को ढाल के नीचे समेटता है; लेकिन मनुष्य की इंद्रियों पर तो विषय

नित्य चढ़ाई करने को खड़े ही हैं, अतः उसे तो हमेशा इंद्रियों को समेटे रखना और स्वयं ढालरूप होकर विषयों के मुकाबले में लड़ना है। यह असली युद्ध है। कोई तो विषयों से बचने को देह-दमन करता है, उपवास करता है। यह ठीक है कि उपवास-काल में इंद्रियां विषयों की ओर नहीं दौड़तीं, पर अकेले उपवास से रस नहीं सूख जाता। उपवास छोड़ने पर यह तो और भी बढ़ जाता है। रस को दूर करने के लिए तो ईश्वर का प्रसाद चाहिए। इंद्रियां तो ऐसी बलवान हैं कि वे मनुष्य को उसके सावधान न रहने पर जबरदस्ती घसीट ले जाती हैं। इसलिए मनुष्य को इंद्रियों को हमेशा अपने वश में रखना चाहिए। पर यह हो तब सकता है जब वह ईश्वर का ध्यान धरे, अंतर्मुख हो, हृदय में रहने वाले अंतर्यामी को पहचाने और उसकी भक्ति करे। इस प्रकार जो मनुष्य मुझमें परायण रहकर अपनी इंद्रियों को वश में रखता है, वह स्थिरबुद्धि योगी कहलाता है। इससे विपरीत करनेवाले के हाल भी मुझसे सुन। जिसकी इंद्रियां स्वच्छंद रूप से बरतती हैं, वह नित्य विषयों का ध्यान धरता है। तब उसमें उसका मन फंस जाता है। इसके सिवा उसे और कुछ सूझता ही नहीं। ऐसी आसक्तियों से काम पैदा होता है। बाद को उसकी पूर्ति न होने पर उसे क्रोध आता है। क्रोधातुर तो बावला-सा हो ही जाता है, आपे में नहीं रह जाता। अतः स्मृति भ्रंश के कारण जो-सो बकता और करता है। ऐसे व्यक्ति का अंत में नाश के सिवा और क्या होगा? जिसकी इंद्रियां यों भटकती फिरती हैं, उसकी हालत पतवार-रहित नाव की-सी हो जाती है। चाहे जो हवा नाव को इधर-उधर घसीट ले जाती है और अंत में किसी चट्टान से टकराकर नाव चूर हो जाती है।

जिसकी इंद्रियां भटका करती हैं, उसके ये हाल होते हैं। अतः मनुष्य को कामनाओं को छोड़ना और इंदियों पर काबू रखना चाहिए। इससे इंद्रियां न करने योग्य कार्य नहीं करेंगी, आंखें सीधी रहेंगी, पवित्र वस्तु को ही देखेंगी, कान भगवद्-भजन सुनेंगे, या दुःखी की आवाज सुनेंगे। हाथ-पांव सेवा-कार्य में रुके रहेंगे और ये सब इंद्रियां मनुष्य के कर्तव्य-कार्य में ही लगी रहेंगी और उसमें से उन्हें ईश्वर की प्रसादी मिलेगी। वह प्रसादी मिली कि सारे दुःख गये समझो। सूर्य के तेज से जैसे बर्फ पिघल जाती है, वैसे ईश्वर-प्रसादी के तेज से दुःखमात्र भाग जाते हैं और ऐसे मनुष्य को स्थिरबुद्धि कहते हैं। पर जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है, उसे अच्छी भावना कहां से आवेगी ? जिसे अच्छी भावना नहीं, उसे शांति कहां ? जहां शांति नहीं, वहां सुख कहां ? स्थिरबुद्धि मनुष्य को जहां दीपक की भांति साफ दिखाई देता है, वहां अस्थिर मनवाले दुनिया की गड़बड़ में पड़े रहते हैं और देख ही नहीं सकते, और ऐसी गड़बड़वालों को जो स्पष्ट लगता है, वह समाधिस्थ योगी को स्पष्ट रूप से मलिन लगता है और वह उधर नजर तक नहीं डालता। ऐसे योगी की तो ऐसी स्थिति होती है कि नदी-नालों का पानी जैसे समुद्र में समा जाता है, वैसे विषयमात्र इस समुद्र-रूप योगी में समा जाते हैं। और ऐसा मनुष्य समुद्र की भांति हमेशा शांत रहता है। इससे जो मनुष्य सब कामनाएं तजकर, निरहंकार होकर, ममता छोड़कर, तटस्थ रूप से बरतता है, वह शांति पाता है। यह ईश्वर-प्राप्ति की स्थिति है और ऐसी स्थिति जिसकी मृत्यु तक टिकती है, वह मोक्ष पाता है।"

तीसरा अध्याय

सोमप्रभात
२४-११-३०

स्थितप्रज्ञ के लक्षण सुनकर अर्जुन को ऐसा लगा कि मनुष्य को शांत होकर बैठ रहना चाहिए। उसके लक्षणों में कर्म का तो नाम तक भी उसने नहीं सुना। इसलिए भगवान से पूछा, "आपके वचनों से तो लगता है कि कर्म से ज्ञान बढ़कर है। इससे मेरी बुद्धि भ्रमित हो रही है। यदि ज्ञान अच्छा हो तो फिर मुझे घोर कर्म में क्यों उतार रहे हैं? मुझे साफ कहिए कि मेरा भला किसमें है?"

तब भगवान ने उत्तर दिया:

"हे पापरहित अर्जुन! आरंभ से ही इस जगत में दो मार्ग चलते आये हैं: एक में ज्ञान की प्रधानता है और दूसरे में कर्म की। पर तू स्वयं देख ले कि कर्म के बिना मनुष्य अकर्मी नहीं हो सकता, बिना कर्म के ज्ञान आता ही नहीं। सब छोड़कर बैठ जानेवाला मनुष्य सिद्ध पुरुष नहीं कहला सकता।

"तू देखता है कि प्रत्येक मनुष्य कुछ-न-कुछ तो करता ही है। उसका स्वभाव ही उससे कुछ करावेगा। जगत का यह नियम होने पर भी जो मनुष्य हाथ-पांव ढीले करके बैठा रहता है और मन में तरह-तरह के मनसूबे करता रहता है, उसे मूर्ख कहेंगे और वह मिथ्याचारी भी गिना जायगा। क्या इससे यह अच्छा नहीं है कि इंद्रियों को वश में रखकर, राग-द्वेष छोड़कर, शोर-गुल के बिना, आसक्ति के बिना अर्थात् अनासक्त भाव से, मनुष्य हाथ-पांवों से कुछ कर्म करे, कर्मयोग का आचरण करे? नियत

कर्म—तेरे हिस्से में आया हुआ सेवा-कार्य—तू इंद्रियों को वश में रखकर करता रह। आलसी की भांति बैठे रहने से यह कहीं अच्छा है। आलसी होकर बैठे रहने वाले के शरीर का अंत में पतन हो जाता है। पर कर्म करते हुए इतना याद रखना चाहिए कि यज्ञ-कार्य के सिवा सारे कर्म लोगों को बंधन में रखते हैं। यज्ञ के मानी हैं, अपने लिए नहीं, बल्कि दूसरे के लिए, परोपकार के लिए, किया हुआ श्रम अर्थात्, संक्षेप में,'सेवा', और जहां सेवा के निमित्त ही सेवा की जायगी, वहां आसक्ति, राग-द्वेष नहीं होगा। ऐसा यज्ञ, ऐसी सेवा, तू करता रह। ब्रह्मा ने जगत उपजाने के साथ-ही-साथ यज्ञ भी उपजाया, मानो हमारे कान में यह मंत्र फूंका कि पृथ्वी पर जाओ, एक-दूसरे की सेवा करो और फूलो-फलो, जीवमात्र को देवता रूप जानो, इन देवों की सेवा करके तुम उन्हें प्रसन्न रखो, वे तुम्हें प्रसन्न रखेंगे। प्रसन्न हुए देव तुम्हें बिना मांगे मनोवांछित फल देंगे। इसलिए यह समझना चाहिए कि लोक-सेवा किये बिना, उनका हिस्सा उन्हें पहले दिये बिना, जो खाता है, वह चोर है और जो लोगों का, जीवमात्र का, भाग उन्हें पहुंचाने के बाद खाता है या कुछ भोगता है, उसे वह भोगने का अधिकार है अर्थात् वह पापमुक्त हो जाता है। इससे उलटा, जो अपने लिए ही कमाता है—मजदूरी करता है—वह पापी है और पाप का अन्न खाता है। सृष्टि का नियम ही यह है कि अन्न से जीवों का निर्वाह होता है। अन्न वर्षा से पैदा होता है और वर्षा यज्ञ से अर्थात् जीवमात्र की मेहनत से उत्पन्न होती है। जहां जीव नहीं हैं, वहां वर्षा नहीं पाई जाती; जहां जीव हैं, वहां वर्षा अवश्य है। जीवमात्र श्रमजीवी हैं। कोई पड़े-पड़े खा नहीं सकता और मूढ़ जीवों के लिए जब यह सत्य है तो

मनुष्य के लिए यह कितने अधिक अंश में लागू होना चाहिए ? इससे भगवान ने कहा, कर्म को ब्रह्मा ने पैदा किया। ब्रह्मा की उत्पत्ति अक्षर-ब्रह्म से हुई, इसलिए यह समझना चाहिए कि यज्ञ मात्र में—सेवामात्र में—अक्षरब्रह्म, परमेश्वर, विराजता है। ऐसी इस प्रणाली का जो मनुष्य अनुसरण नहीं करता, वह पापी है और व्यर्थ जीता है।

मंगल प्रभात

यह कह सकते हैं कि जो मनुष्य आंतरिक शांति भोगता है और संतुष्ट रहता है, उसे कोई कर्त्तव्य नहीं है, उसे कर्म करने से कोई फायदा नहीं, न करने से हानि नहीं है। किसी के संबंध में कोई स्वार्थ उसे न होने पर भी यज्ञ-कार्य को वह छोड़ नहीं सकता। इससे तू तो कर्तव्य-कर्म नित्य करता रह, पर उसमें राग-द्वेष न रख, उसमें आसक्ति न रख। जो अनासक्तिपूर्वक कर्म का आचरण करता है, वह ईश्वर-साक्षात्कार करता है। फिर जनक-जैसे निःस्पृही राजा भी कर्म करते-करते सिद्धि को प्राप्त हुए, क्योंकि वे लोकहित के लिए कर्म करते थे। तो तू कैसे इससे विपरीत बर्ताव कर सकता है ? नियम ही यह है कि जैसा अच्छे और बड़े माने जाने वाले मनुष्य आचरण करते हैं, उसका अनुकरण साधारण लोग करते हैं। मुझे देख। मुझे काम करके क्या स्वार्थ साधना था ? पर मैं चौबीसों घंटे, बिना थके, कर्म करता ही रहता हूं और इससे लोग भी उसके अनुसार अल्पाधिक प्रमाण में बरतते हैं। पर यदि मैं आलस्य कर जाऊं तो जगत का क्या हो ? तू समझ सकता है कि सूर्य, चंद्र तारे इत्यादि स्थिर हो जायं तो जगत का नाश हो जाय और इन सबको गति देनेवाला, नियम में रखने वाला, तो मैं ही

ठहरा। किंतु लोगों में और मुझमें इतना फर्क जरूर है कि मुझे आसक्ति नहीं है, लोग आसक्त हैं, वे स्वार्थ में पड़े भागते रहते हैं। यदि तुझ-जैसा बुद्धिमान कर्म छोड़े तो लोग भी वही करेंगे और बुद्धि-भ्रष्ट हो जायंगे। तुझे तो आसक्तिरहित होकर कर्त्तव्य करना चाहिए, जिससे लोग कर्म-भ्रष्ट न हों और धीरे-धीरे अनासक्त होना सीखें। मनुष्य अपने में मौजूद स्वाभाविक गुणों के वश होकर काम तो करता ही रहेगा। जो मूर्ख होता है वही मानता है कि 'मैं करता हूं।' सांस लेना, यह जीवमात्र की प्रकृति है, स्वभाव है। आंख पर किसी मक्खी आदि के बैठते ही तुरंत मनुष्य स्वभावतः ही पलकें हिलाता है। उस समय नहीं कहता कि मैं सांस लेता हूं, मैं पलक हिलाता हूं। इस तरह जितने कर्म किये जायं सब स्वाभाविक रीति के गुण के अनुसार क्यों न किये जायं ? उनके लिए अहंकार क्या ? और यों ममत्वरहित सहज कर्म करने का सुवर्ण मार्ग है, सब कर्म मुझे अर्पण करना और ममत्व हटाकर मेरे निमित्त करना। ऐसा करते-करते जब मनुष्य में से, अहंकार-वृत्ति का, स्वार्थ का, नाश हो जाता है तब उसके सारे कर्म स्वाभाविक और निर्दोष हो जाते हैं। वह बहुत जंजाल में से छूट जाता है। उसके लिए फिर कर्म-बंधन जैसा कुछ नहीं है और जहां स्वभाव के अनुसार कर्म हो, वहां बलात्कार से न करने का दावा करने में ही अहंकार समाया हुआ है। ऐसा बलात्कार करनेवाला बाहर से चाहे कर्म न करता जान पड़े, पर भीतर-भीतर तो उसका मन प्रपंच रचता ही रहता है। बाहरी कर्म की अपेक्षा यह बुरा है, अधिक बंधन-कारक है।

तो वास्तव में तो इंद्रियों का अपने-अपने विषयों में राग-

द्वेष विद्यमान ही है । कानों को यह सुनना रुचता है, वह सुनना नहीं; नाक को गुलाब के फूल की सुगंधि भाती है, मल वगैरह की दुर्गन्धि नहीं । सभी इंद्रियों के संबंध में यही बात है । इसलिए मनुष्य को इन राग-द्वेष रूपी दो ठगों से बचना चाहिए और इन्हें मार भगाना हो तो कर्मों की श्रृंखला में न पड़े । आज यह किया, कल दूसरा काम हाथ में लिया, परसों तीसरा, यों भटकता न फिरे, बल्कि अपने हिस्से में जो सेवा आ जाय, उसे ईश्वरप्रीत्यर्थ करने को तैयार रहे। तब यह भावना उत्पन्न होगी कि हम जो करते हैं, वह ईश्वर ही कराता है। यह ज्ञान उत्पन्न होगा और अहंभाव चला जायगा । इसे स्वधर्म कहते हैं । स्वधर्म से चिपटे रहना चाहिए, क्योंकि अपने लिए तो वही अच्छा है । देखने में परधर्म अच्छा दिखाई दे तो भी उसे भयानक समझना चाहिए। स्वधर्म पर चलते हुए मृत्यु होने में मोक्ष है ।"

भगवान के राग-द्वेषरहित होकर किये जानेवाले कर्म को यज्ञरूप बतलाने पर अर्जुन ने पूछा, "मनुष्य किसकी प्रेरणा से पाप कर्म करता है ? अक्सर तो ऐसा लगता है कि पापकर्म की ओर कोई उसे जबर्दस्ती ढकेल ले जाता है ।"

भगवान बोले, "मनुष्य को पापकर्म की ओर ढकेल ले जानेवाला काम है और क्रोध है । दोनों सगे भाई की भांति हैं, काम की पूर्ति के पहले ही क्रोध आ धमकता है । कांम-क्रोध वाला रजोगुणी कहलाता है। मनुष्य के महान शत्रु ये ही हैं । इनसे नित्य लड़ना है । जैसे मैल चढ़ने से दर्पण धुंधला हो जाता है, या अग्नि धुएं के कारण ठीक नहीं जल पाती और गर्भ झिल्ली में पड़े रहने तक घुटता रहता है, उसी प्रकार काम-क्रोध ज्ञानी

के ज्ञान को प्रज्वलित नहीं होने देते, फीका कर देते हैं, या दबा देते हैं। काम अग्नि के समान विकराल है और इंद्रिय, मन, बुद्धि, सब पर अपना काबू करके मनुष्य को पछाड़ देता है। इसलिए तू इंद्रियों से पहले निपट, फिर मन को जीत, तो बुद्धि तेरे अधीन रहेगी, क्योंकि इंद्रियां, मन और बुद्धि यद्यपि क्रमशः एक-दूसरे से बढ़-चढ़कर हैं, तथापि आत्मा उन सबसे बहुत बढ़ा-चढ़ा है। मनुष्य को आत्मा की अपनी शक्ति का पता नहीं है, इसीलिए वह मानता है कि इंद्रियां वश में नहीं रहती, मन वश में नहीं रहता या बुद्धि काम नहीं करती। आत्मा की शक्ति का विश्वास होते ही बाकी सब आसान हो जाता है। इंद्रियों को, मन और बुद्धि को ठिकाने रखने वाले का काम, क्रोध या उनकी असंख्य सेना कुछ नहीं कर सकती।"

इस अध्याय को मैंने गीता समझने की कुंजी कहा है। एक वाक्य में उसका सार यह जान पड़ता है कि जीवन सेवा के लिए है, भोग के लिए नहीं है। अतः हमें जीवन को यज्ञमय बना डालना उचित है, पर इतना जान लेने भर से वैसा हो जाना संभव नहीं हो जाता। जानकर आचरण करने पर हम उत्तरोत्तर शुद्ध होते जायेंगे। पर सच्ची सेवा क्या है, यह जानने को इंद्रिय-दमन आवश्यक है। इस प्रकार उत्तरोत्तर हम सत्यरूपी परमात्मा के निकट होते जाते हैं। युग-युग में हमें सत्य की अधिक झांकी होती है। स्वार्थ-दृष्टि से होनेवाला सेवा-कार्य यज्ञ नहीं रह जाता। अतः अनासक्ति की बड़ी आवश्यकता है। इतना जानने पर हमें इधर-उधर के वाद-विवादों में नहीं उलझना पड़ता। भगवान ने अर्जुन को क्या सचमुच ही स्वजनों को मारने की शिक्षा दी? क्या उसमें धर्म था? ऐसे प्रश्न आते रहते हैं। अना-

सक्ति आने पर योंही हमारे हाथ में किसी को मारने को छुरी हो तो वह भी छूट जाती है, पर अनासक्ति का ढोंग करने से वह नहीं आती। हमारे प्रयत्न पर वह आज आ सकती है अथवा, संभव है, हजारों वर्ष तक प्रयत्न करते रहने पर भी न आवे। इसका भी फिकर छोड़ देना चाहिए। प्रयत्न में ही सफलता है। यह हमें सूक्ष्मता से जांचते रहना चाहिए कि प्रयत्न वास्तव में हो रहा है या नहीं। इसमें आत्मा को धोखा नहीं देना चाहिए और इतना ध्यान रखना तो सभी के लिए सभव है।

चौथा अध्याय

सोमप्रभात
१-१२-३०

भगवान ने अर्जुन से कहा कि मैंने जो निष्काम कर्मयोग तुझे बतलाया है वह बहुत प्राचीन काल से चला आता है, यह नया नहीं है। तू प्रिय भक्त है इसलिए, और इस समय धर्म-संकट में है इसलिए, उसमें से मुक्त करने के लिए, मैंने तेरे सामने इसे रखा है। जब-जब धर्म की निंदा होती है और अधर्म फैलता है तब-तब मैं अवतार लेता हूं और भक्तों की रक्षा करता हूं, पापी का संहार करता हूं। मेरी इस माया को जो जाननेवाला है वह विश्वास रखता है कि अधर्म का लोप अवश्य होगा, साधु पुरुष का रक्षक ईश्वर है। ऐसे मनुष्य धर्म का त्याग नहीं करते और अंत में मुझे पाते हैं, क्योंकि वे मेरा ध्यान धरनेवाले, मेरा आश्रय लेनेवाले होने के कारण काम-क्रोधादि से मुक्त रहते हैं और तप

तथा ज्ञान से शुद्ध हुए रहते हैं। मनुष्य जैसा करता है, वैसा फल पाता है। मेरे नियमों से बाहर कोई रह नहीं सकता। गुण-कर्म-भेद से मैंने चार वर्ण पैदा किये हैं, फिर भी मुझे उनका कर्ता मत समझ, क्योंकि मुझे इस कर्म में से किसी फल की आकांक्षा नही है, न इसका पाप-पुण्य मुझे होता है। यह ईश्वरी माया समझने योग्य है। जगत में जितनी प्रवृत्तियां हैं, सब ईश्वरी नियमों के अधीन होती हैं, फिर भी ईश्वर उनसे अलिप्त रहता है, इसलिए वह उनका कर्ता है और अकर्ता भी। यों अलिप्त रहकर, अछूते रहकर, फलेच्छा से रहित होकर चले तो अवश्य मोक्ष पा जाय। ऐसा मनुष्य कर्म में अकर्म देखता है और ऐसे मनुष्य को न करने योग्य कर्म का भी तुरंत पता चल जाता है। कामना से संबंधित कर्म, जो कामना के बिना हो ही नहीं सकते, वे सब न करने योग्य कर्म कहलाते हैं—उदाहरण के लिए, चोरी, व्यभिचार इत्यादि। ऐसे कर्म कोई अलिप्त रहकर नहीं कर सकता। इसलिए जो कामना और संकल्प छोड़कर कर्त्तव्य-कर्म करता है, उसके बारे में कहा जाता है कि उसने अपने ज्ञानरूपी अग्निद्वारा अपने कर्मों को जला डाला है। यों कर्मफल का संग छोड़नेवाला मनुष्य सदा संतुष्ट रहता है, सदा स्वतंत्र होता है। उसका मन ठिकाने होता है, वह किसी संग्रह में नहीं पड़ता और जैसे आरोग्यवान पुरुष की शारीरिक क्रियाएं अपने-आप चलती रहती हैं, उसी प्रकार ऐसे मनुष्य की प्रवृत्तियां अपने-आप चला करती हैं। उनके अपने चलाने का उसे अभिमान नहीं होता, भान तक नहीं होता। वह स्वयं निमित्तमात्र रहता है—सफलता मिली तो भी 'वाह-वाह', न मिली तो भी। सफलता से वह फूल नहीं उठता, विफलता से घबराता नहीं। उसके सब कर्म यज्ञरूप, सेवा के लिए, होते हैं।

वह सारी क्रियाओं में ईश्वर को ही देखता है और अंत में उसी को पाता है।

यज्ञ तो अनेक प्रकार के कहे गये हैं। उन सबके मूल में शुद्धि और सेवा होती है। इंद्रियदमन एक प्रकार का यज्ञ है, किसी को दान देना दूसरी प्रकार का। प्राणायामादि भी शुद्धि के लिए आरंभ किये जानेवाले यज्ञ हैं। इनका ज्ञान किसी ज्ञाता गुरु से प्राप्त किया जा सकता है। वह मिलाप, विनय, लगन और सेवा से ही संभव है। यदि सब लोग बिना समझे-बूझे यज्ञ के नाम पर अनेक प्रवृत्तियां करने लग जायं तो अज्ञान के निमित्त होने के कारण, भले के बदले बुरा नतीजा भी हो सकता है। इसलिए हरेक काम के ज्ञानपूर्वक होने की पूरी आवश्यकता है।

यहां ज्ञान से मतलब अक्षर-ज्ञान नहीं है। इस ज्ञान में शंका की कोई गुंजायश ही नहीं रहती। उसका श्रद्धा से आरंभ होता है और अंत में उसका अनुभव आता है। ऐसे ज्ञान से मनुष्य सब जीवों को अपने में देखता है और अपने को ईश्वर में देखता है, यहां तक कि यह सब प्रत्यक्ष की भांति उसे ईश्वरमय लगता है। ऐसा ज्ञान पापी-से-पापी को भी तार देता है। यह ज्ञान कर्मबंधन में से मनुष्य को मुक्त करता है, अर्थात् कर्म का फल उसे स्पर्श नहीं करता। इसके समान पवित्र इस जगत में दूसरा कुछ नहीं है। इसलिए तू श्रद्धा रखकर, ईश्वरपरायण होकर, इंद्रियों को वश में रखकर ऐसा ज्ञान पाने का प्रयत्न कर, उससे तुझे परम शांति मिलेगी।

तीसरा, चौथा और पांचवां अध्याय, तीनों एक साथ मनन करने योग्य हैं। उनमें से अनासक्ति योग क्या है, इसका अनुमान हो जाता है। इस अनासक्ति—निष्कामता से मिलने का उपाय

भी उनमें थोड़े-बहुत अंश में बतलाया गया है। इन तीनों अध्यायों को यथार्थ रूप से समझ लेने पर आगे के अध्यायों में कम कठिनाई पड़ेगी। आगे के अध्याय में हमें अनासक्ति-प्राप्ति के साधन की अनेक रीतियां बतलाते हैं। हमें इस दृष्टि से गीता का अध्ययन करना चाहिए, इससे अपनी नित्य पैदा होनेवाली समस्याओं को हम गीता द्वारा बिना परिश्रम के हल कर सकेंगे। यह नित्य के अभ्यास से संभव होनेवाली वस्तु है। सबको आजमा देखनी चाहिए। क्रोध आया कि तुरंत उससे संबंधित श्लोक का स्मरण करके उसे शांत करना चाहिए। किसी का द्वेष हो, अधीरता आवे, आहारैषणा आवे, किसी काम को करने या न करने का संकट आवे तो ऐसे सब प्रश्नों का निपटारा, श्रद्धा हो और नित्य मनन हो तो, गीता-माता से कराया जा सकता है। इसके लिए नित्य का यह पारायण है और तदर्थ यह प्रयत्न है।

यज्ञ—१

मंगलप्रभात

२१-१०-३०

हम यज्ञ शब्द का व्यवहार बारंबार करते हैं। हमने नित्य का महायज्ञ भी रचा है। इसलिए यज्ञ शब्द का विचार कर लेना जरूरी है। इस लोक में या परलोक में कुछ भी बदला लिये या चाहे बिना, परार्थ के लिए किये हुए किसी भी कर्म को यज्ञ कहेंगे। कर्म कायिक हो या मानसिक, चाहे वाचिक, कर्म का विशाल-

से-विशाल अर्थ लेना चाहिए। 'परार्थ के लिए' का मतलब केवल मनुष्य-वर्ग नहीं, बल्कि जीवमात्र लेना चाहिए और अहिंसा की दृष्टि से भी मनुष्य-जाति की सेवा के लिए भी, दूसरे जीवों का होमना या उनका नाश करना यज्ञ की गिनती में नहीं आ सकता। वेदादि में अश्व, गाय इत्यादि को होमने की जो बात आती है, उसे हमने गलत माना है। वहां पशुहिंसा का अर्थ लें तो सत्य और अहिंसा की तराजू पर ऐसे होम नहीं चढ़ सकते, इतने से हमने संतोष मान लिया है। जो वचन धर्म के नाम से प्रसिद्ध हैं, उनका ऐतिहासिक अर्थ करने में हम नहीं फंसते और वैसे अर्थों के अन्वेषण की अपनी अयोग्यता हम स्वीकार करते हैं। उस योग्यता की प्राप्ति का प्रयत्न भी हम नहीं करते, क्योंकि ऐतिहासिक अर्थ से जीवहिंसा संगत भी ठहरे तो भी अहिंसा को सर्वोपरि धर्म मानने के कारण हमारे लिए उस अर्थ को रुचनेवाला आचार त्याज्य है।

उक्त व्याख्या के अनुसार विचारने पर हम देख सकते हैं कि जिस कर्म में अधिक-से-अधिक जीवों का, अधिक-से-अधिक क्षेत्र में, कल्याण हो और जो कर्म अधिक-से-अधिक मनुष्य अधिक-से-अधिक सरलता से कर सकें, और जिसमें अधिक-से-अधिक सेवा होती हो, वह महायज्ञ है या अच्छा यज्ञ है। अतः किसी की भी सेवा के निमित्त अन्य किसी का कल्याण चाहना या करना यज्ञ-कार्य नहीं है और यज्ञ के अलावा किया हुआ कार्य बन्धनरूप है, यह हमें भगवद्गीता और अनुभव भी सिखाता है।

ऐसे यज्ञ के बिना यह जग क्षणभर भी नहीं टिक सकता, इसीलिए गीताकार ने ज्ञान की कुछ झलक दूसरे अध्याय में

दिखाकर तीसरे अध्याय में उसकी प्राप्ति के साधनों में प्रवेश कराया है और साफ शब्दों में कहा है कि हम यज्ञ को जन्म से ही साथ लाये हैं, यहां तक कि हमें यह शरीर केवल परमार्थ के लिए मिला है और इसलिए यज्ञ किये बिना जो खाता है, वह चोरी का खाता है, ऐसी सख्त बात गीताकार ने कह डाली। जो शुद्ध जीवन बिताना चाहता है, उसके सब काम यज्ञरूप होते हैं। हमारे यज्ञसहित जन्मने का मतलब है कि हम हरदम के ऋणी या देनदार हैं। इसलिए हम जग के सदा के गुलाम हैं और जैसे स्वामी गुलाम को सेवा के बदले में खाना-कपड़ा आदि देता है, वैसे हमें जगत का स्वामी हमसे गुलामी लेने के लिए जो अन्न-वस्त्रादि देता है, वह कृतज्ञतापूर्वक लेना चाहिए। यह न समझना चाहिए कि जो मिलता है, उतने का भी हमें हक है, न मिलने पर मालिक को दोष न दें। यह देह उसकी है, जी चाहे इसे रखे, या न रखे। यह स्थिति दुःखद नहीं है, न दयनीय है। यदि हम अपना स्थान समझ लें तो यह स्वाभाविक है और इसलिए सुखद और चाहने योग्य है। ऐसे परम सुख के अनुभव के लिए अचल श्रद्धा तो अवश्य चाहिए। अपने लिए कोई चिंता न करना, सब परमेश्वर को सौंप देना, ऐसा आदेश मैंने तो सब धर्मों में पाया है।

पर इस वचन से किसी को डरना नहीं चाहिए। मन को स्वच्छ रखकर सेवा का आरंभ करनेवाले को उसकी आवश्यकता दिन-प्रतिदिन स्पष्ट होती जाती है और वैसे ही उसकी श्रद्धा बढ़ती जाती है। जो स्वार्थ छोड़ने को तैयार ही नहीं है, अपनी जन्म की स्थिति को पहचानने को तैयार ही नहीं, उसके लिए तो सेवा के सब मार्ग मुश्किल हैं। उसकी सेवा में तो स्वार्थ की गंध

आती ही रहेगी, पर ऐसे स्वार्थी जगत में कम ही मिलेंगे। कुछ-न-कुछ निःस्वार्थ सेवा हम सब जाने-अनजाने करते ही रहते हैं। यही चीज विचारपूर्वक करने लगने से हमारी पारमार्थिक सेवा की वृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती रहेगी। उसमें हमारा सच्चा सुख है और जगत का कल्याण है।

यज्ञ—२

मंगलप्रभात
२८-१०-३०

यज्ञ के विषय में पिछले सप्ताह लिखकर भी इच्छा पूरी नहीं हुई। जिस चीज को जन्म के साथ लेकर हमने इस संसार में प्रवेश किया है, उसके बारे में कुछ अधिक विचार करना व्यर्थ न होगा। यज्ञ नित्य-कर्त्तव्य है, चौबीसों घंटे आचरण में लाने की वस्तु है, इस विचार से और यज्ञ का अर्थ सेवा समझ कर 'परोपकाराय सतां विभूतयः' वचन कहा गया है। निष्काम सेवा परोपकार नहीं है, बल्कि अपने निज के ऊपर उपकार है। जैसे कर्ज चुकाना परोपकार नहीं, बल्कि अपनी सेवा है, अपने ऊपर उपकार है, अपने ऊपर से भार उतारना है, अपने धर्म को बचाना है। फिर कोई संत की ही पूंजी 'परोपकारार्थ'—अधिक सुंदर भाषा में कहिये तो—'सेवार्थ' हो, सो नहीं है, बल्कि मनुष्यमात्र की पूंजी सेवार्थ है और यह होने पर सारे जीवन में भोग का खातमा हो जाता है, जीवन त्यागमय हो जाता है, या यों कहें कि मनुष्य का त्याग ही उसका भोग है।

पशु और मनुष्य के जीवन में यह भेद है। जीवन का यह अर्थ जीवन को शुष्क बना देता है, इससे कला का नाश हो जाता है, अनेक लोग यह आरोप करके उक्त विचार को सदोष समझते हैं, पर मेरे खयाल में ऐसा कहना त्याग का अनर्थ करना है। त्याग के मानी संसार से भागकर जंगल में जा बसना नहीं है, बल्कि जीवन की प्रवृत्तिमात्र में त्याग का होना है। गृहस्थ-जीवन त्यागी और भोगी दोनों हो सकता है। मोची का जूते सीना, किसान का खेती करना, व्यापारी का व्यापार करना और नाई का हजामत बनाना त्याग-भावना से हो सकता है या उसमें भोग की लालसा हो सकती है। जो यज्ञार्थ व्यापार करता है, वह करोड़ों के व्यापार में भी लोकसेवा का ही खयाल रखेगा, किसी को धोखा नहीं देगा, अकरणीय साहस नहीं करेगा, करोड़ों की सम्पति रखते हुए भी सादगी से रहेगा, करोड़ों कमाते हुए भी किसी की हानि नहीं करेगा। किसीकी हानि होती होगी तो करोड़ों से हाथ धो देगा। कोई इस ख़याल से न हँसे कि ऐसा व्यापारी मेरी कल्पना में बसता है। संसार के सौभाग्य से ऐसे व्यापारी पश्चिम और पूर्व दोनों में हैं। हों चाहे अंगुलियों पर ही गिनने-भर को, पर एक भी जीवित उदाहरण रखने पर उसे फिर कल्पना की वस्तु नहीं कह सकते। ऐसे दरजी को हमने वढ़वाण में ही देखा है। ऐसे एक नाई को मैं जानता हूं और ऐसे बुनकर को हम लोगों में से[1] कौन नहीं जानता। देखने-ढूंढ़ने पर हम सब धंधों में केवल यज्ञार्थ अपना धंधा करने और तदर्थ जीवन बितानेवाले

---

[1]यानी आश्रमवासियों में से

आदमी पा सकते हैं। यह अवश्य है कि ऐसे याज्ञिक अपने धंधे से अपनी आजीविका प्राप्त करते हैं। पर वे धन्धा आजीविका के निमित्त नहीं करते, आजीविका उनके लिए उस धंधे का गौण फल है। मोतीलाल पहले भी दर्जी का धंधा करता था और ज्ञान होने के बाद भी दर्जी बना रहा। भावना बदल जाने से उसका धंधा यज्ञरूप बन गया, उसमें पवित्रता आ गई और पेशे में दूसरे के सुख का विचार दाखिल हो गया। उसी समय उसके जीवन में कला का प्रवेश हो गया। यज्ञमय जीवन कला की पराकाष्ठा है, सच्चा रस उसी में है, क्योंकि उसमें से रस के नित्य नये झरने प्रकट होते हैं। मनुष्य उन्हें पीकर अघाता नहीं है, न वे झरने कभी सूखते हैं। यज्ञ यदि भाररूप जान पड़े तो यज्ञ नहीं है, जो अखरे वह त्याग नहीं है। भोग का अंत नाश है, त्याग का अन्त अमरता। रस स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, रस तो हमारी वृत्ति में मौजूद है। एक को नाटक के पर्दों में मजा आता है, अन्य को आकाश में नित्य नये-नये प्रकट होनेवाले दृश्यों में। रस परिशीलन का विषय है। जो रसरूप से बचपन में सिखाया जाता है, जिसे रस के नाम से जनता में प्रवेश कराया जाता है, वह रस माना जाता है। हम ऐसे उदाहरण पा सकते हैं कि जिनमें एक प्रजा को रसमय लगनेवाली चीज दूसरी प्रजा को रसहीन लगती है।

यज्ञ करनेवाले अनेक सेवक मानते हैं कि हम निष्काम भाव से सेवा करते हैं, अतः लोगों से आवश्यकता भर को और अनावश्यक भी, लेने का हमें परवाना मिल गया है। जहां किसी सेवक के मन में यह विचार आया कि उसकी सेवकाई गई, सरदारी आई। सेवा में अपनी सुविधा के विचार की गुंजाइश ही

नहीं होती है। सेवक की सुविधा स्वामी—ईश्वर—देखे, देनी होगी तो वह देगा। यह खयाल रखते हुए सेवक को चाहिए कि जो कुछ आ जाय, सबको न अपना बैठे। आवश्यकता भर को ही ले, बाकी का त्याग करे। अपनी विधा की सुरक्षा न होने पर भी शांत रहे, रोष न करे, मन में भी खिन्नता न लावे। याज्ञिक का बदला, सेवक की मजदूरी, यज्ञ—सेवा—ही है। उसी में उसका संतोष है।

सेवा-कार्य में बेगार भी नहीं काटी जाती। उसे अंत के लिए नहीं छोड़ा जाता। अपना काम तो संवारे, लेकिन पराया, बिना पैसे के करना है, इस खयाल से जैसा-तैसा या जब चाहे तब करने में भी हर्ज न समझनेवाला, यज्ञ का ककहरा भी नहीं जानता। सेवा में तो सोलहों सिंगार भरने पड़ते हैं, अपनी सारी कला उसमें खर्च कर देनी पड़ती है। पहले यह, फिर अपनी सेवा। मतलब यह कि शुद्ध यज्ञ करनेवाले के लिए अपना कुछ नहीं है। उसने सब 'कृष्णार्पण' कर दिया है।

यज्ञ—३
(व्यक्तिगत पत्रों में से)

१३-११-३०

चर्खे और फ्रेंच के विषय में तुमने जो लिखा है, उसमें भी सिद्धान्त-दृष्टि से त्रुटि पाता हूं। चर्खे को सर्वार्पण करने पर उस समय को दूसरे काम में नहीं लगाया जा सकता। कोई बात करने आ जाय तो विवेक के खयाल से कर सकते हैं, पर बातों

के बजाय कुछ सीखा ही जाय तो उसमें क्या बुराई है, यह न्याय यहां नहीं लग सकता। बातों में से तो जब चाहे छुट्टी पाई जा सकती है। बात करनेवाला भी बहुत देर तक बैठकर बातें नहीं करेगा। पर शिक्षक बन जाने पर तो वह पूरा समय देने को मजबूर हो जाता है। यह सब तब के लिए है जबकि चर्खे को यज्ञरूप में चलाते हों, अपने विषय में मैं इस सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव करता हूं। चर्खा चलाते समय जब अन्य विचारों में पड़ता हूं तब गति पर, नंबर पर, समानता पर, उसका असर पड़ता है। कल्पना करो कि रोम्या रोलां या बिथोवन पियानो पर बैठे हैं। उस पर वे ऐसे तन्मय हो जाते हैं कि बात नहीं कर सकते, न मन में अन्य विचार कर सकते हैं। कला और कलाकार पृथक् नहीं होते। यदि यह पियानो के लिए सत्य हो तो फिर चर्खा यज्ञ के लिए कितना अधिक सत्य होना चाहिए ? यह विचार जाने दो कि यह आचरण आज ही संभव नहीं है। अपने विचार-क्षेत्र को बावन तोला पाव रत्ती शुद्ध रख सकें तो तदनुसार आचरण किसी दिन हो ही जायगा। यह न समझो कि इसमें गुजरे हुओं की आलोचना है। मैं खुद बहुत अधूरा हूं, मुझे आलोचना करने का हक भी कहां है ? जितना जानता हूं, उस पर मैं खुद कहां पूरी तरह चलता हूं ? चलता होता तो कब का चर्खा सात लाख गांवों में गूंज जाता। आज भी जो जानता हूं, उसके अनुसार सौ फीसदी चल सकूं तो मेरे यहां बैठे भी चर्खा हवा की तरह फैले। पर यदि मालवीयजी भागवत पुराण की चर्चा से थकें तो मैं चर्खा-संगीत की बातों से थकूं। चर्खा-पुराण तो कैसे कहूं ? पुराण तो भविष्य की पीढ़ी रचेगी, बशर्ते कि हम कुछ रचनें लायक कर जायंगे। आज तो हम इसका टूटा-फूटा

संगीत रच रहे हैं। कैसा सुर निकलता है, यह हमारी तपश्चर्या और हमारे समर्पण पर निर्भर रहेगा।

...मुझे आदर्श तो यह लगता है कि यज्ञ के समय मौन हो। उस समय जो विचार हो, वह चर्खे, या कहो खादी संबंधी अथवा रामनाम का हो। रामनाम को विस्तृत अर्थ में लेना चाहिए। वास्तव में तो रामनाम जाने-अनजाने हमेशा ही होना चाहिए, जैसे संगीत में तंबूरा। पर हाथ जो काम करते हों, उसमें हम एकध्यान न हों तो रामनाम का इच्छापूर्वक रटन होना चाहिए। चर्खा चलाते हुए हम बातें करें, कुछ सुनें या और कुछ करें तो यह क्रिया यज्ञ तो नहीं होगी। यदि यह यज्ञ कर्त्तव्य है तो उतने समय के लिए उसमें लीन हो जाना चाहिए। जिसका सारा जीवन यज्ञरूप है और जो अनासक्त है, वह एक समय में एक ही काम करेगा। इतना जानते हुए भी (अल्पाधिक प्रमाण में) मैं ही पहला पापी ठहरता हूं, क्योंकि कह सकते हैं कि मैंने किसी दिन चुपचाप एकांत में बैठकर अर्थात् मौन धरकर नहीं काता। मौनवार के दिन कातते-कातते डाक सुनता या किसी की कोई बात सुननी होती तो वह सुनता। यह कुटेव यहां भी नहीं गई। इसलिए कोई ताज्जुब नहीं कि कातने में बहुत नियमित होते हुए भी मैं सुस्त रह गया और घंटे में मुश्किल से २०० तार तक अब पहुंचा हूं! और भी अनेक दोष अपने में पाता हूं, जैसे तार टूटना, माल बनाना न जानना, चमरख का अल्पज्ञान, रुई की किस्म न पहचानना, समानता वगैरह पूरी तरह से न निकाल सकना, तार की परख न कर सकना इत्यादि। क्या यह सब किसी याज्ञिक को शोभा देता है? फिर खादी की गति धीमी रह गई तो इसमें क्या आश्चर्य है? यदि दरिद्रनारायण है और

उसके होने में कोई शक नहीं है, और यदि उसकी प्रसादी खादी है, और यह कहनेवाला, जाननेवाला जो कुछ कहो वह मैं हूं, फिर भी मेरा अमल कितना ढीला-ढाला है। इसलिए इस विषय में किसी और को दोषी ठहराने का जी नहीं चाहता है। मैं तो सिर्फ तुम्हें अपने दोष का, दुःख का और उसमें से उत्पन्न होने वाले खयाल का और ज्ञान का दर्शन कराना चाहता हूं। यद्यपि काका के साथ यदा-कदा ऐसी बातें हुई हैं, तथापि इतनी स्पष्टता से यही पहले-पहल तुमसे कर रहा हूं और यह स्पष्टता भी आई तुम्हारे उस फ्रेंच को चरखे के साथ जोड़ने के कारण। तुमने जो किया, उसमें मैं तुम्हारा तनिक भी दोष नहीं पाता। मैं देख रहा हूं कि चर्खे का कैसा कच्चा 'मंत्रा' हूं मैं। मंत्र को तो जाना, पर उसकी पूरी विधि आचार में नहीं उतारी, इसलिए मंत्र अपनी पूरी शक्ति नहीं प्रकट कर सका। चर्खे की भांति ही इस बात को सारे जीवन पर घटाकर देखो तो कल्पना में तो तुम्हें जीवन की अद्भुत शांति का अनुभव होगा और सफलता का भी। 'योगः कर्मसु कौशलम्' का तात्पर्य यह है। इस बात को ध्यान में रखकर जितना हो सके, उतना ही करने को हाथ में लें और संतोष मानें। मेरा दृढ़ विश्वास है कि इससे हम अपने को और समाज को अधिक-से-अधिक आगे बढ़ाने में अपना कर्त्तव्य करते हैं। जबतक इसका पूरा-पूरा अमल न हो ले तबतक तो यह कोरा पांडित्य ही कहा जायगा। दिन-दिन इस दिशा में बढ़ तो रहा हूं। बाहर निकलने पर क्या होगा, वह भगवान जानें। तुम इसमें से बन सके तो इतना तो अमल में ला सकते हो कि यज्ञ के निमित्त जितने तार तय कर लो उतने तो शास्त्रीय रीति से कातो। बाकी तो चाहे जिस दिशा में हिन्दुस्तान की संपत्ति

बढ़ाने के इरादे से कातते रहो। अभी लिखते जाने की इच्छा होती है। पर अब बस करता हूं।

पांचवां अध्याय

अर्जुन कहता है, "आप ज्ञान को विशेष बतलाते हैं। इससे मैं समझता हूं कि कर्म करने की आवश्यकता नहीं है, संन्यास ही अच्छा है। पर फिर आप कर्म की भी स्तुति करते हैं, तब यह लगता है कि योग ही अच्छा है। इन दोनों में अधिक अच्छा क्या है, यह मुझको निश्चयपूर्वक कहिये। तभी मुझे कुछ शांति मिल सकती है।"

यह सुनकर भगवान बोले, "संन्यास अर्थात् ज्ञान और कर्मयोग अर्थात् निष्काम कर्म, ये दोनों अच्छे हैं, पर यदि तुझे चुनाव ही करना है तो मैं कहता हूं कि योग अर्थात् अनासक्ति-पूर्वक कर्म अधिक अच्छा है। जो मनुष्य किसी वस्तु या मनुष्य का न द्वेष करता है, न कोई इच्छा रखता है और सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी इत्यादि द्वंद्वों से परे रहता है, वह संन्यासी ही है। फिर वह कर्म करता हो या न करता हो। ऐसा मनुष्य सहज में बंधनमुक्त हो जाता है। अज्ञानी ज्ञान और योग में भेद करता है, ज्ञानी नहीं। दोनों का परिणाम एक ही होता है, अर्थात् दोनों को एक ही समझता है, क्योंकि शुद्ध ज्ञान वाले की संकल्प भर से कार्यसिद्धि होती है, अर्थात् बाहरी कर्म करने की उसे जरूरत नहीं रहती। जब जनकपुरी जल रही थी तब दूसरों का धर्म था कि जाकर आग बुझायें। जनक के संकल्प से ही उनका आग

बुझाने का कर्तव्य पूरा हो रहा था, क्योंकि उनके सेवक उनके अधीन थे। यदि वह घड़ाभर पानी लेकर दौड़ते तो कुल चौपट कर देते। दूसरे लोग उनकी ओर ताकते रहते और अपना कर्त्तव्य बिसर जाते और विशेष भलमनसी दिखाते तो हक्के-बक्के होकर जनक की रक्षा करने दौड़ते। पर झटपट जनक नहीं बन सकते। जनक की स्थिति बड़ी दुर्लभ है। करोड़ों में से किसी को अनेक जन्मों की सेवा से वह प्राप्त हो सकती है। यह भी नहीं है कि इसकी प्राप्ति पर कोई विशेष शांति हो। उत्तरोत्तर निष्काम कर्म करते मनुष्य का संकल्प-बल बढ़ता जाता है और बाहरी कर्म कम होते जाते हैं। कहा जा सकता है कि वास्तव में देखने पर उसे इसका पता भी नहीं चलता। इसके लिए उसका प्रयत्न भी नहीं होता। वह तो सेवा-कार्य में ही डूबा रहता है। उससे उसकी सेवा-शक्ति इतनी अधिक बढ़ जाती है कि उसे सेवा से कोई थकान आती नहीं जान पड़ती। इससे अंत में उसके संकल्प में ही सेवा आ जाती है, वैसे ही जैसे बहुत जोर से गति करती हुई वस्तु स्थिर-सी लगती है। ऐसा मनुष्य कुछ करता नहीं है, यह कहना प्रत्यक्ष रूप से अयुक्त है। पर ऐसी स्थिति साधारणतः कल्पना की वस्तु है, अनुभव में नहीं आती। इसलिए मैंने कर्म-योग को विशेष कहा है। करोड़ों निष्काम कर्म में से ही संन्यास का फल प्राप्त करते हैं। वे संन्यासी होने जायं तो मिथ्याचारी हो जाने की पूरी संभावना है, और कर्म से तो गये ही, मतलब सब खोया, पर जो मनुष्य अनासक्ति-सहित कर्म करता हुआ शुद्धता प्राप्त करता है, जिसने अपने मन को जीता है, जिसने अपनी इंद्रियों को वश में रक्खा है, जिसने सब जीवों के साथ अपनी एकता साधी है और सबको अपने समान ही मानता है, वह कर्म

करते हुए भी उससे अलग रहता है, अर्थात् बंधन में नहीं पड़ता। ऐसे मनुष्य के बोलने-चालने आदि की क्रियाएं करते हुए भी ऐसा लगता है कि इन क्रियाओं को इंद्रियां अपने धर्मानुसार कर रही हैं। स्वयं वह कुछ नहीं करता। शरीर से आरोग्यवान मनुष्य की क्रियाएं स्वाभाविक होती हैं। उसके जठर आदि अपने-आप काम करते हैं, उनकी ओर उसे खयाल नहीं दौड़ाना पड़ता, वैसे ही जिसकी आत्मा आरोग्यवान है, उसके लिए कहा जा सकता है कि शरीर में रहते हुए भी स्वयं अलिप्त है, कुछ नहीं करता। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि सब कर्म ब्रह्मार्पण करे, ब्रह्म के ही निमित्त करे। तब वह करते हुए भी पाप-पुण्य का पुंज नहीं रचता। पानी में कमल को भांति कोरा-का-कोरा ही रहेगा। इसलिए जिसने अनासक्ति का अभ्यास कर लिया है, वह योगी काया से, मन से, बुद्धि से कार्य करते हुए भी संग रहित होकर, अहंकार तजकर, बरतता है, जिससे शुद्ध हो जाता है और शांति पाता है। दूसरा रोगी, जो परिणाम में फंसा हुआ है, कैदी की भांति अपनी कामनाओं में बंधा रहता है। इस नौ दरवाजे वाले देहरूपी नगर में सब कर्मों का मन से त्याग करके स्वयं कुछ न करता-कराता हुआ योगी सुखपूर्वक रहता है। संस्कारवान संशुद्ध आत्मा न पाप करता है, न पुण्य। जिसने कर्म में आसक्ति नहीं रखी, अहंभाव नष्ट कर दिया, फल का त्याग किया, वह जड़ की भांति बरतता है, निमित्तमात्र बना रहता है। भला उसे पाप-पुण्य कैसे छू सकते हैं ? इसके विपरीत जो अज्ञान में फंसा है, वह हिसाब लगाता है, इतना पुण्य किया, इतना पाप किया और इससे वह नित्य नीचे को गिरता जाता है और अंत में उसके पल्ले पाप ही रह जाता है। ज्ञान से अपने अज्ञान का नित्य नाश

करते जाने वाले के कर्म में नित्य निर्मलता बढ़ती जाती है, संसार की दृष्टि में उसके कर्मों में पूर्णता और पुण्यता होती है। उसके सब कर्म स्वाभाविक जान पड़ते हैं। वह समदर्शी होता है। उसकी नजरों में विद्या और विनयवाला ब्रह्मज्ञाता ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता, विवेकहीन—पशु से भी गया-बीता—मनुष्य सब समान हैं। मतलब, कि सबकी वह समान भाव से सेवा करेगा—यह नहीं कि किसी को बड़ा मानकर उसका मान करेगा और दूसरे को तुच्छ समझकर उसका तिरस्कार करेगा। अनासक्त मनुष्य अपने को सबका देनदार मानेगा, सबको उनका लहना चुकावेगा और पूरा न्याय करेगा। उसने जीते-जी जगत को जीत लिया है, वह ब्रह्ममय है। अपना प्रिय करने वाले पर वह रीझता नहीं, गाली देने वाले पर खीझता नहीं। आसक्तिवान सुख को बाहर ढूंढ़ता है, अनासक्त निरंतर भीतर से शांति पाता है, क्योंकि उसने बाहर से जीव को समेट लिया है। इंद्रियजन्य सारे भोग दुःख के कारण हैं। मनुष्य को काम-क्रोध से उत्पन्न उपद्रव सहन करने चाहिए। अनासक्त योगी सब प्राणियों के हित में ही लगा रहता है। वह शंकाओं से पीड़ित नहीं होता। ऐसा योगी बाहरी जगत से निराला रहता है, प्राणायामादि के प्रयोगों से अंतर्मुखता का यत्न करता रहता है और इच्छा, भय, क्रोध आदि से पृथक रहता है। वह मुझे ही सबका महेश्वर, मित्ररूप, यज्ञादि के भोक्ता की भांति जानता है और शांति प्राप्त करता है।

छठा अध्याय

मंगल प्रभात
१६-१२-३०

श्री भगवान कहते हैं—कर्म-फल त्यागकर कर्त्तव्य-कर्म करने वाला मनुष्य संन्यासी कहलाता है और योगी भी कहलाता है। जो क्रियामात्र का त्याग कर बैठता है, वह आलसी है। असली बात तो है मन के घोड़े दौड़ाना छोड़ने की। जो योग अर्थात् समत्व को साधना चाहता है उसकी कर्म बिना गुजर ही नहीं। जिसे समत्व प्राप्त हो गया है, वह शांत दिखाई देता है। तात्पर्य, उसके विचारमात्र में कर्म का बल आ गया रहता है। जब मनुष्य इंद्रिय के विषयों में या कर्म में आसक्त न हो और मन की सारी तरंगों को छोड़ दे तब कहना चाहिए कि उसने योग साधा है, वह योगारूढ़ हुआ है।

आत्मा का उद्धार आत्मा से ही होता है। तब कह सकते हैं कि आत्मा स्वयं ही अपना शत्रु बनता है और मित्र बनता है। जिसने मन को जीता है, उसका आत्मा मित्र है, जिसने नहीं जीता है, उसका आत्मा शत्रु है। मन को जीतनेवाले की पहचान है कि उसके लिए सरदी-गरमी, सुख-दुःख, मान-अपमान सब एक समान होते हैं। योगी उसका नाम है, जिसे ज्ञान है, अनुभव है, जो अविचल है, जिसने इंद्रियों पर विजय पाई है और जिसके लिए सोना, मिट्टी या पत्थर समान है। वह शत्रु-मित्र, साधु-असाधु इत्यादि के प्रति समभाव रखता है। ऐसी स्थिति को पहुंचने के लिए मन स्थिर करना, वासनाएं त्यागना और एकांत में बैठकर परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। केवल आसन

आदि ही बस नहीं हैं। समत्व-प्राप्ति के इच्छुकों को ब्रह्मचर्यादि महाव्रतों का भली प्रकार पालन करना चाहिए। यों आसनबद्ध हुए यम-नियमों का पालन करनेवाले मनुष्य को अपना मन परमात्मा में स्थिर करने से परम शांति प्राप्त होती है।

यह समत्व ठूंस-ठूंसकर खानेवाला तो नहीं पा सकता, पर कोरे उपवास से भी नहीं मिलता, न बहुत सोनेवाले को मिलता है, वैसे ही बहुत जागने से भी हाथ नहीं आता। समत्व-प्राप्ति के इच्छुक को तो सबमें—खाने में, पीने में, सोने-जागने में भी मर्यादा की रक्षा करनी चाहिए। एक दिन खूब खाया और दूसरे दिन उपवास; एक दिन खूब सोये और दूसरे दिन जागरण; एक दिन खूब काम करना और दूसरे दिन अलसाना, यह योग की निशानी नहीं है। योगी तो सदैव स्थिरचित्त होता है और कामनामात्र का वह अनायास त्याग किये रहता है। ऐसी योगी की स्थिति निर्वात स्थान में दीपक की भांति स्थिर रहती है। उसे जग के खेल अथवा अपने मन में उठनेवाले विचारों की लहरें डावांडोल नहीं कर सकतीं। धीरे-धीरे किंतु दृढ़तापूर्वक प्रयत्न करने से यह योग सध सकता है। मन चंचल है, इससे इधर-उधर दौड़ता है, उसे धीरे-धीरे स्थिर करना चाहिए। उसके स्थिर होने से ही शांति मिलती है, या मन की स्थिरता के लिए निरंतर आत्मचिंतन आवश्यक है। ऐसा मनुष्य सब जीवों को अपने में और अपने को सबमें देखता है, क्योंकि वह मुझे सबमें और सबको मुझमें देखता है। जो मुझमें लीन है, मुझे सर्वत्र देखता है, वह स्वयं नहीं रह गया है, इसलिए चाहे जो करता हुआ भी मुझीमें पिरोया हुआ रहता है। उसके हाथ से कभी कुछ अकरणीय नहीं हो सकता।

अर्जुन को यह योग कठिन लगा। वह बोला, "यह आत्म-स्थिरता कैसे प्राप्त हो ? मन तो बंदर के समान है। मन का रोकना हवा रोकने के समान है। ऐसा मन कब और कैसे वश में आता है ?"

भगवान ने उत्तर दिया, "तेरा कहना सच है। पर राग-द्वेष को जीतने और प्रयत्न करने से कठिन को आसान किया जा सकता है। 'निस्संदेह' मन को जीते बिना योग का साधन नहीं बन सकता।"

तब फिर अर्जुन पूछता है, "मान लीजिये कि मनुष्य में श्रद्धा है, पर उसका प्रयत्न मंद होने से वह सफल नहीं होता। ऐसे मनुष्य की क्या गति होती है ? वह बिखरे बादल की तरह नष्ट तो नहीं हो जाता ?"

भगवान बोले, "ऐसे श्रद्धालु का नाश तो होता ही नहीं। कल्याण-मार्गी की अवगति नहीं होती। ऐसा मनुष्य मरने पर कर्मानुसार पुण्यलोक मे बसने के बाद पृथ्वी पर लौट आता है और पवित्र घर में जन्म लेता है। ऐसा जन्म लोकों में दुर्लभ है। ऐसे घर में उसके पूर्व-संस्कार उदय होते हैं। अब प्रयत्न में तेजी आती है और अंत में उसे सिद्धि मिलती है। यों प्रयत्न करते-करते कोई जल्दी और कोई अनेक जन्मों के बाद अपनी श्रद्धा और प्रयत्न के बल के अनुसार समत्व को पाता है। तप, ज्ञान, कर्मकांड संबंधी कर्म—इन सबसे समत्व विशेष है, क्योंकि तपादि का अंतिम परिणाम भी समता ही होना चाहिए। इसलिए तू समत्व लाभ कर और योगी हो। अपना सर्वस्व मुझे अर्पण कर और श्रद्धापूर्वक मेरी ही अराधना करनेवालों को श्रेष्ठ समझ।"

इस अध्याय में प्राणायाम-आसन आदि की स्तुति है। पर स्मरण रक्खें कि भगवान ने उसी के साथ ब्रह्मचर्य का अर्थात् ब्रह्म-प्राप्ति के यम-नियमादि पालन की आवश्यकता बतलाई है। यह समझ लेना आवश्यक है कि अकेली आसनादि क्रिया से कभी समत्व नहीं प्राप्त हो सकता। यदि उस हेतु से वे क्रियाएं हों तो आसन-प्राणायामादि मन को स्थिर करने में, एकाग्र करने में, थोड़ी-सी मदद करते हैं, अन्यथा उन्हें अन्य शारीरिक व्यायामों की श्रेणी में समझकर उतनी ही—शरीर-सुधारभर ही—कीमत माननी चाहिए। शारीरिक व्यायाम रूप में प्राणायामादि का बहुत उपयोग है। व्यायामों में यह व्यायाम सात्विक है। शारीरिक दृष्टि से इसका साधन उचित है, पर उससे सिद्धियां पाने और चमत्कार देखने को ये क्रियाएं करने में मैंने लाभ के बजाय हानि होते देखी है। यह अध्याय तीसरे, चौथे और पांचवें अध्याय का उपसंहार-रूप समझना चाहिए। यह प्रयत्नशील को आश्वासन देता है। हमें समता प्राप्त करने का प्रयत्न हारकर कभी नहीं छोड़ना चाहिए।

सातवां अध्याय

मंगलप्रभात

२३-१२-३०

भगवान बोले, "हे पार्थ, अब मैं तुम्हें बतलाऊंगा कि मुझ में चित्त पिरोकर और मेरा आश्रय लेकर कर्मयोग का आचरण करता हुआ मनुष्य निश्चयपूर्वक मुझे सम्पूर्ण रीति से कैसे पहचान

सकता है। इस अनुभव-युक्त ज्ञान के बाद फिर और कुछ जानने को बाकी नहीं रहेगा। हजारों में कोई-कोई ही उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करता है और प्रयत्न करनेवालों में कोई ही सफल होता है।

पृथ्वी, जल, आकाश, तेज और वायु तथा मन, बुद्धि और अहंकारवाली आठ प्रकार की एक मेरी प्रकृति है। इसे 'अपरा' प्रकृति और दूसरे को 'परा' प्रकृति कहते हैं, जो जीवरूप है। इन दो प्रकृतियों से अर्थात् देह और जीव के संबंध से सारा जगत है। जैसे माला के आधार पर उसके मणिये रहते हैं, वैसे जगत मेरे आधार पर विद्यमान है। तात्पर्य, जल में रस मैं हूं, सूर्य-चंद्रका तेज मैं हूं, वेदों का ॐकार मैं हूं, आकाश का शब्द मैं हूं, पुरुषों का पराक्रम मैं हूं, मिट्टी में सुगंध मैं हूं, अग्नि का तेज मैं हूं, प्राणीमात्र का जीवन मैं हूं, तपस्वी का तप मैं हूं, बुद्धिमान की बुद्धि मैं हूं, बलवान का शुद्धिबल मैं हूं, जीवनमात्र में विद्यमान धर्म की अवरोधी कामना मैं हूं, संक्षेप में सत्त्व, रजस् और तमस् से उत्पन्न होनेवाले सब भावों को मुझसे उत्पन्न हुआ जान, उनकी स्थिति मेरे आधार पर ही है। मेरी त्रिगुणी माया के कारण इन तीन भावों या गुणों में रचे-पचे लोग मुझ अविनाशी को पहचान नहीं सकते। उसे तर जाना कठिन है, पर मेरी शरण लेनेवाले इस माया को अर्थात् तीन गुणों को लांघ सकते हैं।

पर ऐसे मूढ़ लोग मेरी शरण कैसे ले सकते हैं, जिनके आचार-विचार का कोई ठिकाना नहीं है ? वे तो माया में पड़े अंधकार में ही चक्कर काटा करते हैं और ज्ञान से वंचित रहते हैं, पर श्रेष्ठ आचारवाले मुझे भजते हैं। इनमें कोई अपना दुःख दूर करने को मुझे भजता है, कोई मुझे पहचानने की इच्छा से

भजता है और कोई कर्त्तव्य समझकर ज्ञानपूर्वक मुझे भजता है। मुझे भजने का अर्थ है मेरे जगत की सेवा करना। उसमें कोई दुःख के मारे, कोई कुछ लाभ-प्राप्ति की इच्छा से, कोई इस खयाल से कि चलो, देखा जाय, क्या होता है और कोई समझ-बूझकर इसलिए कि उसके बिना उनसे रहा ही नहीं जाता, सेवा-परायण रहते हैं। ये अंतिम मेरे ज्ञानी भक्त हैं और मैं कहूंगा कि मुझे ये सबसे अधिक प्यारे हैं, या यह समझो कि वे मुझे अधिक-से-अधिक पहचानते हैं और मेरे निकट-से-निकट हैं। अनेक जन्मों के बाद ही मनुष्य ऐसा ज्ञान पाता है और उसे पाने पर इस जगत में मुझ वासुदेव के सिवा और कुछ नहीं देखता। पर कामनावाले मनुष्य तो भिन्न-भिन्न देवताओं को भजते हैं और जिसकी जैसी भक्ति, उसको वैसा फल देनेवाला तो मैं ही हूं। उन ओछी समझवालों को मिलनेवाला फल भी वैसा ही ओछा होता है और उतने से ही उनको संतोष भी रहता है। वे अपनी कमअक्ली से मानते हैं कि मुझे वे इंद्रियों द्वारा पहचान सकते हैं। वे नहीं समझते कि मेरा अविनाशी और अनुपम स्वरूप इंद्रियों से परे है तथा हाथ, कान, नाक, आंख, इत्यादि द्वारा पहचाना नहीं जा सकता। इसे मेरी योगमाया समझ कि इस प्रकार सारी चीजों का विधाता होने पर भी अज्ञानी लोग मुझे पहचान नहीं सकते। रागद्वेष के द्वारा सुख-दुःख होते ही रहते हैं और उसके कारण जगत मोहग्रस्त रहता है, पर जो उसमें से छूट गये हैं और जिनके आचार-विचार निर्मल हो गये हैं, वे तो अपने व्रत में निश्चल रहकर निरंतर मुझे ही भजते हैं। वे पूर्ण ब्रह्मरूप से सब प्राणियों में भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले जीवरूप में रहे हुए मुझे और मेरे कर्म को जानते हैं। यों जो मुझे अभिभूत, अधिदैव और

अधियज्ञरूप से पहचानते हैं और इससे जिन्होंने समत्व प्राप्त किया है, वे मृत्यु के अनंतर जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाते हैं; क्योंकि इतना जान लेने पर उसका मन अन्यत्र नहीं भटकता और सारे जगत को ईश्वरमय देखते हुए वे ईश्वर में ही समा जाते हैं।"

आठवां अध्याय

सोमप्रभात
२९-१२-३०

अर्जुन पूछता है,"आपने पूर्णब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ का नाम लिया, पर इन सबका अर्थ मैंने समझा नहीं। फिर आप कहते हैं कि आपको अधिभूत रूप से जानकर समत्व को प्राप्त हुए लोग मृत्यु के समय पहचानते हैं। यह सब मुझे समझाइये।"

भगवान ने उत्तर दिया, "जो सर्वोत्तम नाशरहित स्वरूप है, वह पूर्णब्रह्म है और जो प्राणीमात्र में कर्त्ता-भोक्ता रूप से देह धारण किये हुए हैं वह अध्यात्म है। प्राणीमात्र की उत्पत्ति जिस क्रिया से होती है, उसका नाम कर्म है। अतः यह भी कह सकते हैं कि जिस क्रिया से उत्पत्तिमात्र होती है, वह कर्म है। मेरा नाशवान देहस्वरूप अधिभूत है और यज्ञ द्वारा शुद्ध हुआ अध्यात्म स्वरूप अधियज्ञ है। यों देहरूप में, मूच्छित जीवरूप में और पूर्ण ब्रह्मरूप में सर्वत्र मैं ही हूं और ऐसा जो मैं हूं उसका मृत्यु के समय में जो ध्यान धरता है, अपने को बिसार

देता है, किसी प्रकार की चिंता नहीं करता, इच्छा नहीं करता, वह निस्संदेह मेरे स्वरूप को प्राप्त करता है। मनुष्य जिस स्वरूप का नित्य ध्यान धरता है, अंतकाल में भी उनका ध्यान रहे तो उस स्वरूप को वह पाता है और इसीलिए तू नित्य मेरा ही स्मरण रख। मुझमें ही मन-बुद्धि पिरो रख। तब मुझे ही पावेगा। तू इस प्रकार चित्त के स्थिर न हो पाने की बात कहेगा। मेरा कहना है कि नित्य के अभ्यास से, नित्य के प्रयत्न से, इस प्रकार मनुष्य एकध्यान अवश्य हो जाता है, क्योंकि मैं तुझसे कह चुका हूं कि मूल की दृष्टि से विचारने पर तो देह-धारी भी मेरा ही स्वरूप है। इसलिए मनुष्य को पहले से ही तैयारी करनी चाहिए कि मृत्यु के समय मन चलायमान न हो, भक्ति में लीन रहे, प्राण को स्थिर रखे और सर्वज्ञ पुरातन, नियन्ता, सूक्ष्म होते हुए भी सबके पालन की शक्ति रखनेवाले, चिंतनद्वारा तत्काल न पहचाने जा सकनेवाले, सूर्य के समान अंधकार-अज्ञान मिटानेवाले, परमात्मा का ही स्मरण करे।

"इस परम पद को वेद अक्षरब्रह्म नाम से पहचानते हैं, राग द्वेषादि-त्यागी मुनि उसे पाते हैं और उस पद की प्राप्ति के सब इच्छुक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। तात्पर्य, काया, वाचा और मन को अंकुश में रखते हैं, विषयमात्र का तीनों प्रकार से त्याग करते हैं। इंद्रियों को समेट कर ॐ का उच्चारण करते, मेरा ही चिंतन करते-करते देह छोड़नेवाले स्त्री-पुरुष परम पद पाते हैं। ऐसों का चित्त कहीं अन्यत्र नहीं भटकता और यों मुझे पाकर यह दुःख-निवासरूपी जन्म फिर नहीं लेना पड़ता। इस जन्म-मरण के चक्कर से छूटने का उपाय मेरी प्राप्ति ही है।

"अपने सौ वर्ष के जीवन-काल से मनुष्य-काल का अनुमान लगाता है और उतने समय में हजारों जाल फैलाता है, पर काल तो अनंत है। हजारों युगों को ब्रह्मा के एक दिन के बराबर समझ। इसमें मनुष्य के एक दिन की या सौ वर्ष की क्या बिसात है? इस तनिक से समय को लेकर इतनी व्यर्थ की दौड़-धूप क्यों? जिस अनंत काल के चक्र में मनुष्य का जीवन क्षणमात्र के समान है, उसमें तो ईश्वर का ध्यान ही शोभा देता है, क्षणिक भोगों के पीछे दौड़ना नहीं। ब्रह्मा के रात-दिन में उत्पत्ति और नाश चलता ही रहता है और चलता रहेगा।

"उत्पत्ति-लय करनेवाला ब्रह्मा भी मेरा ही भाव है। वह अव्यक्त है, इंद्रियों से नहीं जाना जा सकता। इससे भी परे मेरा अन्य अव्यक्त स्वरूप है, जिसका कुछ वर्णन मैंने तुझसे किया है। उसे पानेवाला जन्म-मरण से छूट जाता है, क्योंकि इस स्वरूप के लिए रात-दिनवाला द्वंद्व नहीं है, यह केवल शांत अचल स्वरूप है। इसके दर्शन अनन्य भक्ति से ही होते हैं। इसी के आधार पर सारा जगत है और वह स्वरूप सर्वत्र व्याप्त है।

"कहते हैं कि उत्तरायण के शुक्ल पक्ष के दिनों में मरनेवाला उपर्युक्त प्रकार से स्मरण करता हुआ मुझे पाता है और दक्षिणायन में, कृष्ण पक्ष की रात्रि में, मृत्यु पानेवाले के पुनर्जन्म के चक्कर बाकी रह जाते हैं। इसका अर्थ यों किया जा सकता है कि उत्तरायण और शुक्लपक्ष यह निष्काम सेवामार्ग है और दक्षिणायन और कृष्णपक्ष स्वार्थमार्ग है। सेवामार्ग अर्थात् ज्ञानमार्ग, स्वार्थमार्ग अर्थात् अज्ञानमार्ग। ज्ञानमार्ग से चलने वाले को मोक्ष है और अज्ञानमार्ग से चलनेवाले को बंधन। इन दोनों मार्गों को जान लेने पर कौन मोह में रह-

कर अज्ञानमार्ग को पसंद करेगा ? इतना जानने पर मनुष्य-मात्र को सब पुण्य-फल छोड़कर, अनासक्त रहकर, कर्त्तव्य में परायण रहकर, मैंने जो कहा है वह उत्तम स्थान पाने का ही प्रयत्न करना चाहिए।"

नवां अध्याय

सोमप्रभात
५-१-३१

गत अध्याय के अंतिम श्लोक में योगी का उच्च स्थान बतला देने पर भगवान के लिए अब भक्ति की महिमा बतलाना ही बाकी रह जाता है, क्योंकि गीता का योगी शुष्क ज्ञानी नहीं है, न बाह्याचारी भक्त ही। गीता का योगी ज्ञान और भक्ति-मय अनासक्त कर्म करनेवाला है। अतः भगवान कहते हैं— तुझमें द्वेष नहीं है, इससे तुझे मैं गुह्य ज्ञान कहता हूं कि जिसे पाकर तेरा कल्याण होगा। यह ज्ञान सर्वोपरि है, पवित्र है और आचार में अनायास लाया जा सकने योग्य है। जिसे इसमें श्रद्धा नहीं होती, वह मुझे नहीं पा सकता। मेरे स्वरूप को मनुष्य-प्राणी इंद्रियों द्वारा नहीं पहचान सकते, तथापि इस जगत में वह व्यापक है। जगत उसके आधार पर स्थित है। वह जगत के आधार पर नहीं है। फिर यों भी कहा जाता है कि ये प्राणी मुझमें नहीं हैं और मैं उनमें नहीं हूं। यद्यपि मैं उनकी उत्पत्ति का कारण हूं और उनका पोषण-कर्त्ता हूं। वे मुझमें नहीं हैं और मैं उनमें नहीं हूं, क्योंकि वे अज्ञान में रहने के कारण मुझे जानते

नहीं हैं, उनमें भक्ति नहीं है। तू समझ कि यह मेरा चमत्कार है।

पर मैं प्राणियों में नहीं हूं, ऐसा जान पड़ता है, तथापि वायु की भांति में सर्वत्र फैला हुआ हूं और सारे जीव युग का अंत होने पर लय हो जाते हैं और आरंभ होने पर फिर जन्मते हैं। इन कर्मों का कर्त्ता होने पर भी वह मुझे बंधन-कारक नहीं है, क्योंकि उनमें मुझे आसक्ति नहीं है, मैं उसमें उदासीन हूं। वे कर्म होते रहते हैं, क्योंकि यह मेरी प्रकृति है, मेरा स्वभाव है। पर ऐसा जो मैं हूं उसे लोग पहचानते नहीं हैं, इसलिए वे नास्तिक बने रहते हैं। मेरे अस्तित्व से ही इनकार करते हैं। ऐसे लोग झूठे हवाई महल बनाते रहते हैं। उनके कर्म भी व्यर्थ होते हैं और वे अज्ञान से भरपूर होने के कारण आसुरी वृत्ति-वाले होते हैं। पर दैवी वृत्तिवाले अविनाशी और सिरजनहार जानकर, मुझे भजते हैं। वे दृढ़-निश्चयी होते हैं, नित्य प्रयत्न-वान रहते हैं, मेरा भजन-कीर्तन करते और मेरा ध्यान धरते हैं। इसके सिवा कितने ही मुझे एक ही माननेवाले हैं। कितने ही मुझे बहुरूप से मानते हैं। मेरे अनंतगुण होने के कारण बहुरूप से माननेवाले भिन्न गुणों को भिन्न रूप से देखते हैं, पर इन सब-को तू भक्त जान।

यज्ञ का संकल्प मैं, यज्ञ मैं, पितरों का आधार मैं, यज्ञ की वनस्पति मैं, आहुति मैं, मंत्र मैं, हविष्य मैं, अग्नि मैं और जगत का पिता मैं, माता मैं, जगत को धारण करनेवाला मैं, पिता-मह मैं, जानने योग्य भी मैं, ॐकार मंत्र मैं, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद मैं, गति मैं, पोषण मैं, प्रभु मैं, साक्षी मैं, आश्रय मैं, कल्याण चाहनेवाला भी मैं, उत्पत्ति और नाश मैं, सर्दी-गर्मी मैं, सत् और असत् भी मैं हूं।

वेद में वर्णित क्रियाएं फल-प्राप्ति के लिए होती हैं। अतः उन्हें करनेवाले स्वर्ग चाहे पावें, पर जन्म-मरण के चक्कर से नहीं छूटते। पर जो एक ही भाव से मेरा चिंतन करते रहते हैं और मुझे ही भजते हैं, उनका सारा भार मैं उठाता हूं। उनकी आवश्यकताएं मैं पूरी करता हूं और उनकी मैं ही संभाल करता हूं। अन्य कुछ, दूसरे देवताओं में श्रद्धा रखकर उन्हें भजतें हैं। इसमें अज्ञान है, तथापि अंत में तो वे भी मुझे ही भजनेवाले माने जायंगे, क्योंकि यज्ञमात्र का मैं ही स्वामी हूं। पर मेरी इस व्यापकता को न जानकर वे अंतिम स्थिति को पहुंच नहीं सकते। देवताओं को पूजनेवाले देवलोक, पितरों को पूजनेवाले पितृलोक, भूतप्रेतादि को पूजनेवाले उनका लोक और ज्ञानपूर्वक मुझे भजनेवाले मुझे पाते हैं। जो मुझे एक पत्ता तक भक्तिपूर्वक अर्पण करते हैं, उन प्रयत्नशील मनुष्यों की भक्ति को मैं स्वीकार करता हूं। इसलिए जो कुछ तू करे, यह सब मुझे अर्पण करके ही कर, तब शुभ-अशुभ फल का उत्तरदायित्व तेरा नहीं रहेगा। जब तूने फलमात्र का त्याग कर दिया तब तेरे लिए जन्म-मरण के चक्कर नहीं रह गये। मुझे सब प्राणी समान हैं। एक प्रिय और दूसरा अप्रिय हो, यह नहीं है। पर जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं, वे तो मुझमें हैं और मैं उनमें हूं। इसमें पक्षपात नहीं है, बल्कि यह उन्होंने अपनी भक्ति का फल पाया है। इस भक्ति का चमत्कार ऐसा है कि जो एक भाव से मुझे भजते हैं, वे दुराचारी हों तो भी साधु बन जाते हैं। सूर्य के सामने जैसे अंधेरा नहीं ठहरता, वैसे मेरे पास आते ही मनुष्य के दुराचारों का नाश हो जाता है। इसलिए तू निश्चय समझ ले कि मेरी भक्ति करनेवाले कभी नाश को प्राप्त ही नहीं होते। वे तो धर्मात्मा

होते हैं और शांति भोगते हैं। इस भक्ति की महिमा ऐसी है कि जो पापयोनि में जन्मे माने जाते हैं वे, और निरक्षर स्त्रियां, वैश्य और शूद्र, जो मेरा आश्रय लेते हैं वे, मुझे पाते ही हैं, तब पुण्यकर्म करनेवाले ब्राह्मण-क्षत्रियों का तो कहना ही क्या रहा ! जो भक्ति करता है, उसे उसका फल मिलता है। इस-लिए तू जब असार संसार में आ गया है तो मुझे भजकर उसे तर जा। अपना मन मुझमें पिरो दे, मेरा ही भक्त रह, अपने यज्ञ भी मेरे लिए कर, अपने नमस्कार भी मुझे ही पहुंचा और इस भांति मुझमें तू परायण होगा और अपनी आत्मा को मुझमें होमकर शून्यवत् हो जायगा तो तू मुझे ही पावेगा।

मंगलप्रभात

टिप्पणी—इसमें से हम पाते हैं कि भक्ति का तात्पर्य है ईश्वर में आसक्ति। अनासक्ति के अभ्यास का भी यह सरल-से-सरल उपाय है। इससे अध्याय के आरंभ में प्रतिज्ञा की है कि भक्ति राजयोग है और सरल मार्ग है। हृदय में जो बैठ जाय वह सरल है, जो न बैठे, वह विकट है। इसीसे उसे 'सिर का सौदा' भी माना गया है। पर यह ऐसा है कि देखनेवाले जलते हैं। अंदर पड़े हुए महासुख मानते हैं। कवि लिखता है कि उब-लते तेल की कड़ाही में सुधन्वा हँसता था और बाहर खड़े हुए कांपते थे। कथा है कि नंद अंत्यज की जब अग्नि-परीक्षा हुई तब वह अग्नि में नाचता था। इन सबकी सचाई की ऐति-हासिकता की खोज की जरूरत नहीं है। जो किसी भी चीज में लीन होता है उसकी ऐसी ही स्थिति होती है। वह अपने को भूल जाता है, पर प्रभु को छोड़कर दूसरे में लीन कौन होगा ?

'शक्कर गन्ने का स्वाद छोड़ कड़ुवे नीम को मत घोल रे,
सूरज-चांद का तेज तज, जुगनू से मन मत जोड़ रे।'

अत: नवां अध्याय बतलाता है कि प्रभु-आसक्ति अर्थात् भक्ति के बिना फल में अनासक्ति असंभव है। अंतिम श्लोक सारे अध्याय का निचोड़ है और हमारी भाषा में उसका अर्थ है—"तू मुझमें समा जा।"

दसवां अध्याय

सोमप्रभात
१२-१-३१

भगवान कहते हैं—दोबारा भक्तों के हित के लिए कहता हूं, सो सुन। देव और महर्षिगण तक मेरी उत्पति नहीं जानते हैं, क्योंकि मेरे लिए उत्पन्नता ही नहीं है। मैं उनकी और अन्य सब की उत्पत्ति का कारण हूं। जो ज्ञानी मुझे अजन्मा और अनादि रूप में पहचानते हैं, वे सब पापों से मुक्त हो जाते हैं, क्योंकि परमेश्वर को इस रूप में जानने और अपने को उसकी प्रजा अथवा उसके अंश की भांति पहचानने पर मनुष्य की पापवृत्ति नहीं रह सकती। पापवृत्ति का मूल ही निज संबंधी अज्ञान है।

जैसे प्राणी मुझसे पैदा हुए हैं, वैसे उनके भिन्न-भिन्न भाव भी, जैसे क्षमा, सत्य, सुख, दु:ख, जन्म-मृत्यु भय-अभय आदि भी मुझसे उत्पन्न हुए हैं। यह सब मेरी विभूति है। जो यह जान लेते हैं, उनमें सहज ही समता उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि वे अहंता को छोड़ देते हैं। उनका चित्त मुझमें ही पिरोया हुआ रहता

है, वे मुझे अपना सबकुछ अर्पण करते हैं, परस्पर मेरे विषय में ही वार्तालाप करते हैं, मेरा ही कीर्तन करते हैं और संतोष तथा आनंद से रहते हैं। इस प्रकार जो मुझे प्रेमपूर्वक भजते हैं और मुझमें ही जिनका मन रहता है, उन्हें मैं ज्ञान देता हूं और उसके द्वारा वे मुझे पाते हैं।

तब अर्जुन ने स्तुति की—आप ही परब्रह्म हैं, परमधाम हैं, पवित्र हैं, ऋषि आदि आपको आदिदेव, अजन्मा, ईश्वर रूप से भजते हैं, ऐसा आप ही कहते हैं। हे स्वामी, हे पिता, आपका स्वरूप कोई जानता नहीं है, आप ही अपने को जानते हैं। अब मुझसे अपनी विभूतियां और साथ ही यह कहिये कि आपका चिंतन करते हुए मैं आपको कैसे पहचान सकता हूं?

भगवान ने जवाब दिया—मेरी विभूतियां अनंत हैं, उनमें से थोड़ी खास-खास तुमसे कह देता हूं। सब प्राणियों के हृदय में रहा हुआ मैं हूं। मैं ही उनकी उत्पत्ति, उनका मध्य और उनका अंत हूं। आदित्यों में विष्णु मैं, उज्ज्वल वस्तुओं में प्रकाश देनेवाला सूर्य मैं, वायुओं में मरीचि मैं, नक्षत्रों में चंद्र मैं, वेदों में सामवेद मैं, देवों में इंद्र मैं, इंद्रियों में मन मैं, प्राणियों में चेतन-शक्ति मैं, रुद्र में शंकर मैं, यक्ष-राक्षसों में कुबेर मैं, दैत्यों में प्रह्लाद मैं, पशुओं में सिंह मैं, पक्षियों में गरुड़ मैं और छल करने-वालों में द्यूत (जुवा) भी मुझे ही जान। इस जगत में जो कुछ होता है, वह मेरी मरजी बिना हो ही नहीं सकता। अच्छा और बुरा भी मैं ही होने देता हूं, तभी होता है। यह जानकर मनुष्य को अभिमान छोड़ना चाहिए और बुरे से बचना चाहिए, क्योंकि भले-बुरे का फल देनेवाला भी मैं हूं। तू इतना जान कि यह सारा जगत मेरी विभूति के एक अंशमात्र से स्थित है।

ग्यारहवां अध्याय

सोमप्रभात
१२-१-३१

अर्जुन ने विनय की, "भगवान्, आपने मुझे आत्मा के विषय में जो वचन कहे, उससे मेरा मोह दूर हो गया है। आप ही सब हैं, आप ही कर्त्ता हैं, आप ही संहर्ता हैं, आप नाशरहित हैं। यदि संभव हो तो अपने ईश्वरीय रूप का दर्शन मुझे कराइये।"

भगवान् बोले, "मेरे रूप हजारों हैं और अनेक रंगवाले हैं। उसमें आदित्य, वसु, रुद्र इत्यादि समाये हुए हैं। मुझमें सारा जगत—चर और अचर—समाया हुआ है। यह रूप तू अपने चर्म-चक्षुओं से नहीं देख सकता। अतः मैं तुझे दिव्य चक्षु देता हूं, उनके द्वारा तू देख।"

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा—हे राजन्, भगवान् ने अर्जुन को यह कहकर अपना जो अद्भुत रूप दिखाया, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। हम लोग नित्य एक सूर्य देखते हैं, पर खयाल कीजिये कि ऐसे हजारों सूर्य नित्य उगें तो उनका तेज जैसा होगा, उससे भी अधिक यह तेज चकाचौंध पैदा करनेवाला था। इसके आभूषण और वस्त्र भी ऐसे ही दिव्य थे। उसके दर्शन करके अर्जुन के रोएं खड़े हो गये, उसका सिर चकराने लगा और कांपते-कांपते वह स्तुति करने लगा :

हे देव! आपकी इस विशाल देह में मैं तो सबकुछ और सब किसी को देखता हूं। ब्रह्मा उसमें हैं, महादेव उसमें हैं, उसमें ऋषि हैं, सर्प हैं, आपके हाथ-मुंह का गिनना कठिन है। आपका आदि नहीं है, अंत नहीं है, मध्य नहीं है। आपका रूप मानो तेज

का सुमेरु है। देखते आंखें चौंधिया जाती हैं, सुलगते हुए अंगारों की भांति आप झलक रहे हैं और तप रहे हैं। आप ही जगत के आधार हैं, आप ही पुराण-पुरुष हैं, आप ही धर्म के रक्षक हैं। जहां देखता हूं, वहां आपके अवयव दिखाई दे रहे हैं। सूर्य-चंद्र तो आपकी आंखों-सरीखे जान पड़ते हैं। आपने ही इस पृथ्वी और आकाश को व्याप्त कर रखा है। आपका तेज सारे जगत को तपा रहा है। यह जगत थरथरा रहा है। देव, ऋषि, सिद्ध इत्यादि सब हाथ जोड़कर कांपते हुए आपकी स्तुति कर रहे हैं। यह विराट् रूप और यह तेज देखकर मैं तो व्याकुल हो गया हूं, शांति और धैर्य छूटा जा रहा है। हे देव! प्रसन्न होइये। आपकी दाढ़ें विकराल हैं, आपके मुंह में, जैसे दीपक पर पतंगे गिरते हैं, वैसे इन लोगों को गिरते देख रहा हूं और आप उनको चूर कर रहे हैं। यह उग्र रूप आप कौन हैं ? आपकी प्रवृत्ति को मैं समझ नहीं पा रहा हूं।

भगवान् बोले—लोकों का नाश करनेवाला मैं काल हूं। तू चाहे लड़ या न लड़, इन सबका नाश समझ। तू तो निमित्त-मात्र है।

अर्जुन बोला—हे देव, हे जगन्निवास, आप अक्षर हैं, सत् हैं, असत् हैं और उससे जो परे है, वह भी आप ही हैं। आप आदि-देव हैं, आप पुराणपुरुष हैं, आप इस जगत के आश्रय हैं। आप ही जानने योग्य हैं। वायु, यम, अग्नि, प्रजापति भी आप ही हैं। आपको हजारों नमस्कार पहुंचें। अब अपना मूल रूप धारण कीजिये।

इस पर भगवान् ने कहा—तेरे ऊपर प्रसन्न होकर मैंने तुझे अपना विश्वरूप दिखाया है। वेदाभ्यास से, यज्ञ से, अन्य शास्त्रों

के अभ्यास से, दान से, तपसे भी यह रूप नहीं देखा जा सकता, जो तूने आज देखा है। इसे देखकर तू परेशान मत हो। भय त्यागकर शांत हो और मेरा परिचित रूप देख। मेरे यह दर्शन देवों को भी दुर्लभ हैं। यह दर्शन केवल शुद्ध भक्ति से ही हो सकते हैं। जो अपने सब कर्म मुझे समर्पण करता है, मुझमें परायण रहता है, मेरा भक्त बनता है, आसक्तिमात्र को छोड़ता है और प्राणीमात्र के विषय में प्रेममय रहता है, वही मुझे पाता है।

टिप्पणी—दसवें की भांति इस अध्याय को भी मैंने जान-बूझकर संक्षिप्त किया है। यह अध्याय काव्यमय है। इसलिए या तो मूल में अथवा अनुवाद रूप में जैसा है, वैसा ही बारंबार पढ़ने योग्य है। इससे भक्ति का रस उत्पन्न होने की संभावना है। वह रस पैदा हुआ है या नहीं, यह जानने की कसौटी अंतिम श्लोक है। सर्वार्पण बिना और सर्वव्यापक प्रेम के बिना भक्ति नहीं है। ईश्वर के कालरूप का मनन करने से और उसके मुख में सृष्टिमात्र को समा जाना है—प्रतिक्षण काल का यह काम चलता ही रहता है—इसका भान आ जाने से सर्वार्पण और जीवमात्र के साथ ऐक्य अनायास हो जाता है। चाहे, बिनचाहे, इस मुख में हम अकल्पित क्षण में पड़नेवाले हैं। वहां छोटे-बड़े का, नीच-ऊंच का, स्त्री-पुरुष का, मनुष्य-मनुष्येतर का भेद नहीं रहता है। सब कालेश्वर के एक कौर हैं, यह जानकर हम क्यों दीन, शून्यवत् न बनें, क्यों सबके साथ मैत्री न करें? ऐसा करने-वाले को वह काल-स्वरूप भयंकर नहीं, बल्कि शांतिस्थल लगेगा।

बारहवां अध्याय

मंगलप्रभात
४-११-३०

आज तो बारहवें अध्याय का सार देना चाहता हूं।[1] यह भक्तियोग है। विवाह के अवसर पर दंपती को पांच यज्ञों में इसे भी एक यज्ञरूप से कंठ करके मनन करने को हम कहते हैं। भक्ति के बिना ज्ञान तथा कर्म शुष्क हैं और उनके बंधन रूप हो जाने की संभावना है। इसलिए भक्ति-भाव से गीता का यह मनन आरंभ करना चाहिए।

अर्जुन ने भगवान से पूछा—साकार और निराकार को पूजनेवाले भक्तों में अधिक श्रेष्ठ कौन है?

भगवान ने उत्तर दिया—जो मेरे साकार रूप का श्रद्धा-पूर्वक मनन करते हैं, उसमें लीन होते हैं, वे श्रद्धालु मेरे भक्त हैं, पर जो निराकार तत्त्व को भजते हैं और उसे भजने के लिए समस्त इंद्रियों का संयम करते हैं, सब जीवों के प्रति समभाव रखते हैं, उनकी सेवा करते है, किसी को ऊँच-नीच नहीं गिनते, वे भी मुझे पाते हैं। इसलिए यह नहीं कह सकते कि दोनों में अमुक श्रेष्ठ है, पर निराकार की भक्ति शरीरधारी द्वारा संपूर्ण रूप से होना अशक्त माना जाता है, निराकार निर्गुण है, अतः मनुष्य की कल्पना से परे है। इसलिए सब देहधारी जाने-अन-जाने साकार के ही भक्त हैं। सो तू तो मेरे साकार विश्व-रूप

---

[1]गांधीजी ने यह अध्याय सबसे पहले लिखकर भेजा था। पर अध्याय-क्रम के लिए यह यथास्थान दिया गया है।—संपा०

में ही अपना मन पिरो। सब उसे सौंप दे। पर यह न कर सकता हो तो चित्त के विकारों को रोकने का अभ्यास कर, यानी यम-नियम आदि का पालन करके, प्राणायाम, आसन आदि की मदद लेकर, मन को वश में कर। ऐसा भी न कर सकता हो तो जो कुछ करता है, सो मेरे ही लिए करता है, इस धारणा से अपने सब काम कर तो तेरा मोह, तेरी ममता क्षीण होती जायगी और त्यों-त्यों तू निर्मल—शुद्ध—होता जायगा और तुझ-में भक्तिरस आ जायगा। यह भी न हो सकता हो तो कर्ममात्र के फल का त्याग करके यानी फल की इच्छा छोड़ दे। तेरे हिस्से में जो काम आ पड़े, उसे करता रह। फल का मालिक मनुष्य हो ही नहीं सकता। बहुतेरे अंगों के एकत्र होनेपर तब फल उपजता है, अतः तू केवल निमित्तमात्र हो जा। जो चार रीतियां मैंने बताई हैं, उनमें किसी को कमोबेश मत मानना। इनमें जो तुझे अनुकूल हो, उससे तू भक्ति का रस ले ले। ऐसा लगता है कि ऊपर जो यम-नियम, प्राणायाम, आसन आदि का मार्ग बता आये हैं, उनकी अपेक्षा श्रवण-मनन आदि ज्ञानमार्ग सरल हैं। उसकी अपेक्षा उपासना रूप ध्यान सरल है और ध्यान की अपेक्षा कर्मफल-त्याग सरल है। सबके लिए एक ही वस्तु समान भाव से सरल नहीं होती और किसी-किसी को सभी मार्ग लेने पड़ते हैं। वे एक-दूसरे के साथ मिले-जुले तो हैं ही। चाहे जिस मार्ग से हो, तुझे तो भक्त होना है। जिस मार्ग से भक्ति सधे, उस मार्ग से उसे साध। मैं तुझे भक्त के लक्षण बतलाता हूं—भक्त किसी का द्वेष न करे, किसी के प्रति वैर-भाव न रखे, जीवमात्र से मैत्री रखे, जीवमात्र के प्रति करुणा का अभ्यास करे, ऐसा करने के लिए ममता छोड़े, अपनापन मिटाकर शून्यवत् हो जाय,

दुःख-सुख को समान माने। कोई दोष करे तो उसे क्षमा करे, (यह जानकर कि स्वयं अपने दोषों के लिए संसार से क्षमा का भूखा है) संतोषी रहे, अपने शुभ निश्चयों से कभी विचलित न हो। मन-बुद्धि सहित सर्वस्व मेरे अर्पण करे। उससे लोगों को उद्वेग नहीं होना चाहिए, न लोग उसमें डरें, वह स्वयं लोगों से दुःख न माने, न डरे। मेरा भक्त हर्ष, शोक, भय आदि से मुक्त होता है। उसे किसी प्रकार की इच्छा नहीं होती, वह पवित्र होता है, कुशल होता है, वह बड़े-बड़े आरम्भों को त्यागे हुए होता है, निश्चय में दृढ़ होते हुए भी शुभ और अशुभ परिणाम, दोनों का वह त्याग करता है, अर्थात् उसके बारे में निश्चित रहता है। उसके लिए शत्रु कौन और मित्र कौन ? उसे मान क्या, अपमान क्या ? वह तो मौन धारण करके जो मिल जाय, उससे संतोष रखकर एकाकी की भांति बिचरता हुआ सब स्थितियों में स्थिर होकर रहता है। इस भांति श्रद्धालु होकर चलनेवाला मेरा भक्त है।

टिप्पणी—

प्रश्न—'भक्त आरंभ न करे' का क्या मतलब है ? कोई दृष्टांत देकर समझाइयेगा ?

उत्तर—'भक्त आरंभ न करे' इसका मतलब यह है कि किसी भी व्यवसाय के मनसूबे न गांठे। जैसे एक व्यापारी आज कपड़े का व्यापार करता है तो कल उसमें लकड़ी का और शामिल करने का उद्यम करने लगा, अथवा कपड़े की एक दुकान है तो कल पांच और दूकानें खोल बैठा, इसका नाम आरम्भ है। भक्त उसमें न पड़े। यह नियम सेवाकार्य के बारे में भी लागू होता है। आज खादी की मारफत सेवा करता है तो कल

गाय की मारफत, परसों खेती की मारफत और चौथे दिन डाक्टरी की मारफत। इस प्रकार सेवक भी फुदकता न फिरे। उसके हिस्से में जो आ जाय, उसे पूरी तरह करके मुक्त हो। जहां 'मैं' गया, वहां 'मुझे' क्या करने को रह जाता है ?

"सूतरने तांतणे मने हरजीए बांधी,
जेम ताणे तेम तेमनी रे
मने लागी कटारी प्रेमनी रे।"[१]

भक्त के सब आरंभ भगवान रचता है। उसे सब कर्म-प्रवाह प्राप्त होते हैं, इससे वह 'संतुष्टो येन केनचित्' रहे। सर्वारंभत्याग का भी यही अर्थ है। सर्वारंभ अर्थात् सारी प्रवृत्ति या काम नहीं, बल्कि उन्हें करने के विचार, मनसूबे गांठना। उनका त्याग करने के मानी उनका आरंभ न करना, मनसूवे गांठने की आदत हो तो उसे छोड़ देना। 'इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्' यह आरंभ त्याग का उलटा है। मेरे खयाल में तुम जो जानना चाहते हो, सब इसमें आ जाता है। कुछ बाकी रह गया हो तो पूछना।

तेरहवां अध्याय

सोमप्रभात
२६-१-३२

श्रीभगवान बोले—इस शरीर का दूसरा नाम क्षेत्र है और

---

१. मुझे भगवान ने सूत के धागे से बांध लिया है। ज्यों-ज्यों तानते हैं, मैं उनकी होती जाती हूं। मुझे तो प्रेम-कटारी लगी है।

उसके जाननेवाले को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। सब शरीर में मौजूद जो मैं (भगवान) हूं, उसे क्षेत्रज्ञ समझ, और वास्तविक ज्ञान वह है कि जिससे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद जाना जाय। पंच महाभूत—पृथ्वी, पानी, आकाश, तेज और वायु, अहंता, बुद्धि, प्रकृति, दस इंद्रियां—पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां—एक मन, पांच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात अर्थात् शरीर जिससे बना हुआ है, उसकी एक होकर रहने की शक्ति, शरीर के परमाणुओं में एक-दूसरे से चिपटे रहने का गुण, यह सब मिलकर विकारों-वाला क्षेत्र बना। इस शरीर को और उसके विकारों को जानना चाहिए, क्योंकि उनको त्यागना है। इस त्याग के लिए ज्ञान चाहिए। यह ज्ञान अर्थात् मानीपने का त्याग, दंभ का त्याग, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, शुद्धता, स्थिरता, विषयों पर अंकुश, विषयों में वैराग्य, अहंकार का त्याग, जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और उसके सिलसिले में रहे हुए रोगसमूह, दुःख-समूह और नित्य होनेवाले दोषों का पूरा भान, स्त्री-पुत्र, घर-द्वार, सगे-सम्बन्धी इत्यादि में से मन को खींच लेना और ममता छोड़ना, अपने मनोनुकूल कुछ हो या मन के प्रतिकूल—उसमें समता रखना, ईश्वर की अनन्य भक्ति, एकान्तसेवन, लोगों में मिलकर भोग भोगने की ओर अरुचि, आत्मा के विषय में ज्ञान की प्यास और अंत में आत्मदर्शन। इससे विपरीत का नाम अज्ञान है। इस ज्ञान के साधन से जो जानने की चीज है—ज्ञेय है और जिसे जानने से मोक्ष मिलती है, उसके विषय में थोड़ा सुन। यह ज्ञेय अनादि परब्रह्म है। अनादि है—अर्थात् उसे जन्म नहीं है—जब कुछ नहीं था तब भी वह परब्रह्म तो था। वह सत् नहीं है और असत् भी नहीं है। उससे भी परे है। अन्य दृष्टि से उसे सत् कह सकते हैं,

क्योंकि वह नित्य है। तथापि उसकी नित्यता को भी मनुष्य नहीं पहचान सकता, इससे उसे सत् से भी परे कहा, उससे कुछ भी सूना नहीं है। उसे हजारों हाथ-पांवोंवाला कह सकते हैं और इस प्रकार उसे हाथ-पैर आदि हैं, यह जान पड़ते हुए भी वह इंद्रिय-रहित है, उसे इंद्रियों की आवश्यकता नहीं है, उनसे वह अलिप्त है। इंद्रियां तो आज हैं और कल नहीं हैं। परब्रह्म तो नित्य है ही और यद्यपि वह सब में व्याप्त है और सबको धारण किये हुए है, इससे गुणों का भोक्ता कहा जा सकता है, तथापि जो उसे नहीं पहचानते उनके हिसाब से तो वह बाहर ही है। प्राणियों के अन्दर तो वह है ही, क्योंकि सर्वव्यापक है। वैसे ही वह गति करता है और स्थिर भी है। सूक्ष्म है, इसलिए वह ऐसा भी है कि न जान पड़े। दूर भी है और नजदीक भी है। नाम-रूप का नाश है, तथापि वह तो है ही, इस प्रकार अविभक्त है; पर असंख्य प्राणियों में है, यह भी कहते हैं, इससे वह विभक्त रूप से भी भासित होता है। वह उत्पन्न करता है, पालता है और वही मारता है। तेजों का तेज है, अंधकार से परे है, ज्ञान का किनारा उसमें आ गया है। इन सबमें मौजूद परब्रह्म यही जानने योग्य अर्थात् ज्ञेय है। ज्ञानमात्र की प्राप्ति केवल उसकी प्राप्ति के लिए ही है।

प्रभु और उसकी माया दोनों अनादि से चलते आये हैं। माया में से विकार पैदा होते हैं और उनसे अनेक प्रकार के कर्म पैदा होते हैं। माया के कारण जीव सुख-दुःख, पाप-पुण्य का भोगनेवाला बनता है। यह जानकर जो अलिप्त रहकर कर्तव्य-कर्म करता है, वह कर्म करता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता; क्योंकि वह सर्वत्र ईश्वर को देखता है और उसकी प्रेरणा के बिना

एक पत्ता तक नहीं हिल सकता, यह जानकर वह अपने बारे में अहंता को नहीं मानता है, अपने को शरीर से अलग देखता है और समझता है कि जैसे आकाश सर्वत्र होते हुए भी निर्लिप्त ही रहता है, वैसे जीव शरीर में रहते हुए भी ज्ञान द्वारा निर्लिप्त रह सकता है।

चौदहवां अध्याय

मौनवार
२५-१-३२

श्रीभगवान बोले—जिस उत्तम ज्ञान को पाकर ऋषि-मुनियों ने परम सिद्धि पाई है, वह मैं तुझसे फिर कहता हूं। उस ज्ञान के पाने और उसके अनुसार धर्म का आचरण करने से लोग जन्म-मरण के चक्कर से बच जाते हैं। हे अर्जुन, यह समझ कि मैं जीवमात्र का माता-पिता हूं। प्रकृति-जन्य तीन गुण—तत्त्व, रजस् और तमस्—देही को बांधनेवाले हैं। इन गुणों को उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ भी कह सकते हैं। इनमें सत्त्वगुण निर्मल और निर्दोष है, प्रकाश देनेवाला है और इससे उसका संग सुखद होता है। रजस् राग से, तृष्णा से पैदा होता है और वह मनुष्य को गड़बड़ में डालता है। तमस् का मूल अज्ञान है, मोह है और इससे मनुष्य प्रमादी और आलसी बनता है। अतः संक्षेप में कहा जाय तो सत्त्व में से सुख, रजस् में से तृष्णादि और तमस् में से आलस्य पैदा होता है। रजस् और तमस् को दबाकर सत्त्व जय प्राप्त करता है और सत्त्व और रजस् को दबाकर तमस् जय पाता

है। देह के सब कामों में जब ज्ञान का अनुभव देखने में आवे तब यह जानना कि अब तत्त्वगुण प्रधान रूप से काम कर रहा है। जब लोभ, गड़बड़, अशांति, प्रतिद्वंद्विता दिखाई दे तब रजस् की वृद्धि जानो और जब अज्ञान, आलस्य, मोह का अनुभव हो तब समझो कि तमस् का राज्य है। जिसके जीवन में सत्त्वगुण प्रधान होता है, वह मृत्यु के अंत में ज्ञानमय निर्दोष लोक में जन्म पाता है, रजस्-प्रधान जो होता है वह धांधली (गड़बड़) लोक में जाता है और तमस्-प्रधान मूढ़ योनि में जन्मता है। सात्त्विक कर्म का फल निर्मल, राजस् का दुःखमय और तामस का अज्ञानमय होता है। सात्त्विक लोक की उच्चगति, राजस की मध्यम और तामस की अधोगति होती है। मनुष्य जब गुणों के सिवा दूसरे को कर्त्ता नहीं समझता और गुणों से परे जो मैं हूं, उसे जानता है तब वह मेरे भाव को पाता है। देह में विद्यमान इन तीन गुणों को जो देही पार कर जाता है वह जन्म, जरा और मृत्यु के दुःखों से छूटकर अमृतमय मोक्ष को प्राप्त होता है।

अर्जुन पूछता है—गुणातीत की ऐसी सुन्दर गति होती है तो बतलाइये कि इसके लक्षण कैसे हैं, इसका आचरण कैसा है और तीनों गुणों को किस प्रकार पार किया जाय ?

भगवान उत्तर देते हैं—जो मनुष्य अपने पर जो आ पड़े, फिर भले ही प्रकाश हो या प्रवृत्ति हो, या मोह हो, ज्ञान हो, गड़बड़ हो या अज्ञान, उसका अतिशय दुःख या सुख न माने या इच्छा न करे; जो गुणों के बारे में तटस्थ रहकर विचलित नहीं होता, गुण अपने गुणानुसार बरतते हैं, यह समझकर जो स्थिर रहता है; जो सुख-दुःख को सम मानता है; जिसे लोहा, पत्थर या सोना समान है; जिसे प्रिय-अप्रिय की बात नहीं है; जिस

पर अपनी स्तुति या निंदा कोई प्रभाव नहीं डाल सकती, जिसे मान-अपमान समान है; जो शत्रु-मित्र के प्रति समभाव रखता है; जिसने सब आरंभों का त्याग किया है, वह गुणातीत कहलाता है। मेरे बताये इन लक्षणों से भड़कने की जरूरत नहीं है, न आलसी होकर सिर पर हाथ रखकर बैठ जाने की। मैंने तो सिद्ध की दशा बतलाई है। उसे पहुंचने का मार्ग यह है—व्यभिचाररहित भक्तियोग के द्वारा मेरी सेवा कर। (तीसरे अध्याय से लगाकर) तुझे बताया है कि कर्म बिना, प्रवृत्ति बिना कोई सांस तक नहीं ले सकता, अतः कर्म तो देहीमात्र को लगे हुए हैं। जो गुणों को पार कर जाना चाहता है, वह साधक सब कर्म मुझे अर्पण करे और फल की इच्छा तक भी न करे। ऐसा करने में उसके कर्म उसे विघ्न रूप नहीं होंगे; क्योंकि ब्रह्म मैं हूं, मोक्ष मैं हूं, सनातन धर्म मैं हूं, अनंत सुख मैं हूं, जो कहो, वह मैं हूं। मनुष्य शून्यवत् हो जाय तो मुझे ही सर्वत्र देखे, इसे गुणातीत कहेंगे।

पन्द्रहवां अध्याय

रात को
३१-१-३२

श्री भगवान बोले—इस संसार को दो तरह से देखा जा सकता है—एक इस तरह: जिसकी जड़ ऊपर है, जिसकी शाखा नीचे है और जिसके वेद रूपी पत्ते हैं; ऐसे पीपल के रूप में जो संसार को देखता है, वह वेद को जाननेवाला ज्ञानी है। दूसरी

रीति यह है : संसार-रूपी वृक्ष की शाखाएं ऊपर-नीचे फैली हुई हैं। उसके तीन गुणों से बढ़े हुए विषय-रूपी अंकुर हैं और वे विषय जीव को मनुष्य-लोक में कर्म के बंधन में डालते हैं। इस वृक्ष का स्वरूप नहीं जाना जा सकता, उसका आरंभ नहीं है, न अंत है, न कोई ठिकाना।

वह दूसरे प्रकार का संसार-वृक्ष है। उसने यद्यपि जड़ गहरी पकड़ी है, तथापि उसे असहकाररूपी शास्त्र से काटना चाहिए कि जिससे आत्मा को वह लोक प्राप्त हो सके, जहां से उसे वापस चक्कर न करना पड़े। ऐसा करने के लिए वह निरंतर उस आदि-पुरुष को भजे कि जिसकी माया से यह पुरानी प्रवृत्ति पसरी हुई है। जिन्होंने मान-मोह को छोड़ दिया है, जिन्होंने संग-दोष को जीत लिया, जो आत्मा में लीन हैं, जो विषयों से अलग हो गये हैं, जिन्हें सुख-दुःख समान है, वह ज्ञानी उस अव्यय पद को पाते हैं।

इस जगह सूर्य को या चंद्र को या अग्नि को तेज पहुंचाने की जरूरत नहीं पड़ती। जहां जाने के बाद लौटना नहीं रह जाता, वह मेरा परमधाम है।

जीवलोक में मेरा सनातन अंश जीवरूप में, प्रकृति में विद्यमान मनसहित छः इंद्रियों को, आकर्षित करता है। जब जीव देह धारण करता है और तजता है तब, जैसे वायु अपने स्थल से गंधों को साथ लिये चलता है, यह जीव भी इंद्रियों को साथ लिये हुए विचरता है। कान, आंख, त्वचा, जीभ और नाक तथा मन इतनों का सहारा लेकर जीव विषयों का सेवन करता है। गति करते हुए, स्थिर रहते हुए या भोग भोगते हुए गुणों-वाले इस जीव को मोह में पड़े हुए अज्ञानी पहचानते नहीं, ज्ञानी

पहचानते हैं। यत्न करनेवाले योगी अपने में विद्यमान इस जीव को पहचानते हैं,पर जिसने समभावरूपी योग को नहीं साधा है, वह यत्न करता हुआ भी उसे पहचानता नहीं है।

सूर्य का जो तेज जगत को प्रकाशित करता है, जो चन्द्रमा में है, जो अग्नि में है, उन सारे तेजों को मेरा तेज जान। अपनी शक्ति द्वारा शरीर में प्रवेश करके मैं जीवों को धारण करता हूं। रस उत्पन्न करनेवाला सोम बनकर औषधिमात्र का पोषण करता हूं। प्राणियों की देह में रह करके जठराग्नि बनकर प्राण, अपान वायु को समान करके, जठराग्नि बनकर प्राण, अपान वायु को समान करके, चार प्रकार का अन्न पचाता हूं। सबके हृदय के भीतर विद्यमान हूं। मेरे द्वारा ही स्मृति है, ज्ञान है, उसका अभाव है, सब वेदों के द्वारा जानने योग्य जो है, वह मैं हूं। वेदान्त भी मैं हूं, वेदान्त को जाननेवाला भी मैं हूं।

इस लोक में कहा जाता है कि दो पुरुष हैं—क्षर और अक्षर अथवा नाशवान और नाशरहित। इनमें जीव क्षर कहलाते हैं, उनमें स्थिर हुआ मैं अक्षर हूं, और उससे भी परे जो उत्तम पुरुष है, वह परमात्मा कहलाता है। वह अव्यय ईश्वर तीनों लोकों में प्रवेश करके उसका पालन करता है, वह भी मैं हूं; इससे मैं क्षर और अक्षर से भी उत्तम हूं, और लोकों में, वेद में, पुरुषोत्तम-रूप से प्रसिद्ध हूं। इस प्रकार जो ज्ञानी मुझे पुरुषोत्तम-रूप से पहचानता है, वह सब जानता है और मुझे सब भावों द्वारा भजता है।

हे निष्पाप अर्जुन, यह अति गुह्य शास्त्र मैंने तुझे कहा है। इसे जानकर मनुष्य बुद्धिमान बनता है और अपने ध्येय को पहुंचता है।

सोलहवां अध्याय

यरवदा मंदिर
७-२-३२

श्रीभगवान कहते हैं—अब मैं तुझे धर्मवृत्ति और अधर्मवृत्ति का भेद बतलाता हूं। धर्मवृत्ति के बारे में तो मैं पहले बहुत कह गया हूं, तो भी उसके लक्षण कह जाता हूं। जिसमें धर्मवृत्ति होती है, उसमें निर्भयता, अंतःकरण की शुद्धि, ज्ञान, समता, इंद्रिय-दमन, यज्ञ, शास्त्रों का अभ्यास, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शांति, किसी की चुगली न खाना अर्थात् अपैशून्यता, भूतमात्र के प्रति दया, अलोलुपता, कोमलता, मर्यादा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धीरज, अंतर और बाहर की स्वच्छता, अद्रोह और निरभिमानता होती है।

अधर्म वृत्तिवाले में दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान देखने में आता है।

धर्मवृत्ति मनुष्य को मोक्ष की ओर ले जाती है। अधर्मवृत्ति बंधन में डालती है। हे अर्जुन, तू तो धर्मवृत्ति लेकर ही जन्मा है।

अधर्मवृत्ति का थोड़ा विस्तार कर देता हूं कि जिससे उसका त्याग सहज में लोग कर सकें।

अधर्मवृत्तिवाला प्रवृत्ति और निवृत्ति का भेद नहीं जानता है, उसे शुद्ध-अशुद्ध का या सत्यासत्य का भान नहीं होता तो फिर उसके बर्ताव का तो ठिकाना ही कहां से होगा ? उसके मन जगत झूठा, निराधार है, जगत का कोई नियंता नहीं है, स्त्री-पुरुष का संबंध ही उसका जगत है, अतः इसमें विषय-भोग के

सिवा दूसरा विचार नहीं मिलता।

ऐसी वृत्तिवालों के कार्य भयानक होते हैं, उनकी मति मंद होती है, ऐसे लोग अपने दुष्ट विचारों को पकड़े रहते हैं और जगत के नाश के लिए ही उनकी सब प्रवृत्तियां होती हैं। उनकी कामनाओं का अंत ही नहीं आता। वे दंभ, मान, मद में भूले रहते हैं। उनकी चिंता का भी पार नहीं होता। उन्हें नित्य नये भोग चाहिए। सैकड़ों आशाओं के महल चुनते रहते हैं और अपनी कामना के पोषण के लिए द्रव्य एकत्र करने में न्याय-अन्याय का भेद बिलकुल छोड़ देते हैं।

'आज यह पाया और कल वह और प्राप्त करूंगा; इस शत्रु को आज मारा, फिर दूसरे को मारूंगा; मैं बलवान हूं; मेरे पास ऋद्धि-सिद्धि है; मेरे समान दूसरा कौन है; कीर्ति-प्राप्ति के लिए यज्ञ करूंगा; दान दूंगा और चैन की वंशी बजाऊंगा;' यों मन-ही-मन मानता हुआ वह खुश होता रहता है और अंत में मोह-जाल में फंसकर नरकवास पाता है।

ये आसुरी वृत्तिवाले प्राणी अपने घमंड में भूले रहकर पर-निंदा करते हुए सर्वव्यापक ईश्वर का द्वेष करते हैं और इससे वे बारंबार आसुरी योनि में जन्मते हैं।

नरक के, आत्मा को नाश करनेवाले, ये तीन दरवाजे हैं— काम, क्रोध और लोभ। सबको इन तीनों का त्याग करना चाहिए। उनका त्याग करनेवाले कल्याण-मार्ग के पथिक होते हैं और वे परमगति को पाते हैं।

जो अनादि सिद्धांतरूपी शास्त्रों का त्याग करके स्वेच्छा से भोग में पड़े रहते हैं, वे न सुख पाते हैं और न कल्याण-मार्ग में रहकर शांति पाते हैं। इससे कार्य-अकार्य का निर्णय करने में

अनुभवियों से अचल सिद्धांत जान लेने चाहिए और उनका अनुसरण करके आचार-विचार का निश्चय करना चाहिए।

सत्रहवां अध्याय

यरवदा मंदिर
१४-२-३२

अर्जुन पूछता है—जो शिष्टाचार छोड़कर भी श्रद्धापूर्वक सेवा करते हैं, उनकी गति कैसी होती है ?

भगवान उत्तर देते हैं—श्रद्धा तीन प्रकार की होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। श्रद्धा के अनुसार मनुष्य होता है।

सात्त्विक मनुष्य ईश्वर को, राजस यक्ष-राक्षसों को और तामस भूत-प्रेतों को भजता है।

पर किसी की श्रद्धा कैसी है, यह एकाएक नहीं जाना जा सकता। उसका आहार कैसा है, उसका तप कैसा है, यज्ञ कैसा है, दान कैसा है, यह जानना चाहिए और उन सबके भी तीन-तीन प्रकार हैं, जो बतलाता हूं।

जिस आहार से आयु, निर्मलता, बल, आरोग्य, सुख और रुचि बढ़ती है, वह आहार सात्त्विक कहलाता है। जो तीखा, खट्टा, चरपरा और गरम होता है, वह राजस है। उससे दुःख और रोग उत्पन्न होते हैं। जो रींधा हुआ आहार बासी हो, बदबू करता हो, जूठा हो और अन्य प्रकार से अपवित्र हो, उसे तामस जानना।

जिस यज्ञ के करने में फल की इच्छा नहीं है, जो कर्त्तव्य-रूप से तन्मयता से होता है वह सात्त्विक माना जाता है, जिसमें फल की आशा है और दंभ भी है, उसे राजस यज्ञ जानना; जिसमें कोई विधि नहीं है, न कुछ उपज है, न कोई मंत्र है, न कोई त्याग है, वह यज्ञ तामस है।

जिसमें संतों की पूजा है, पवित्रता है, ब्रह्मचर्य है, अहिंसा है, वह शारीरिक तप है। सत्य, प्रिय, हितकर वचन और धर्म-ग्रन्थ का अभ्यास वाचिक तप है। मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, संयम, शुद्ध भावना, यह मानसिक तप कहलाता है। ऐसा शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप जो समभाव से फलेच्छा का त्याग करके किया जाता है, वह सात्त्विक तप कहलाता है। जो तप मान की आशा से, दंभपूर्वक किया जाता है, उसे राजस जानना और जो तप पीड़ित होकर और दुराग्रह से या दूसरे के नाश के लिए किया जाय, जिसमें शरीरस्थ आत्मा को क्लेश हो, वह तप तामस है।

कर्तव्य-बुद्धि से दिया गया, बिना फलेच्छा के देश, काल, पात्र देखकर दिया गया दान सात्त्विक है। जिसमें बदले की आशा है और जिसे देते हुए संकोच हो, वह दान राजस है और देश-कालादि का विचार किये बिना, तिरस्कृत भाव से या मान बिना दिया हुआ दान तामस है।

वेदों ने ब्रह्म का वर्णन ॐतत्सत रूप से किया है, अतः श्रद्धालु को चाहिए कि यज्ञ, दान, तप आदि क्रिया इसका उच्चारण करके करे। ॐ अर्थात् एकाक्षरी ब्रह्म। तत् अर्थात् वह सत् अर्थात् सत्य, कल्याण रूप। मतलब कि ईश्वर एक है, यही है, यही सत्य है, यही कल्याण करनेवाला है। ऐसी भावना रखकर

और ईश्वरार्पण बुद्धि से जो यज्ञादि करते हैं, उनकी श्रद्धा सात्त्विक है और वह शिष्टाचार को न जानने के कारण से अथवा जानते हुए भी, ईश्वरार्पण बुद्धि से उससे कुछ भिन्न करते हैं, तथापि वह दोषरहित है ।

पर जो क्रिया ईश्वरार्पण बुद्धि के बिना होती है, वह बिना श्रद्धा की मानी जाती है । वह असत् है ।

अठारहवां अध्याय

यरवदा मंदिर
२१-२-३२

पिछले सोलह अध्यायों के मनन के बाद भी अर्जुन के मन में शंका बनी रह जाती है; क्योंकि गीता का संन्यास उसे प्रचलित संन्यास से भिन्न लगता है। उसे लगता है, त्याग और संन्यास दो अलग-अलग चीजें हैं क्या !

इस शंका का निवारण करते हुए भगवान इस अंतिम अध्याय में गीता-शिक्षण का सार दे देते हैं ।

कितने ही कर्मों में कामना भरी होती है; अनेक प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य अनेक उद्यम रचता है । यह काम्य कर्म है । अन्य आवश्यक और स्वाभाविक कर्म हैं, जैसे सांस लेना, देह की रक्षा भर को खाना, पीना, पहनना, ओढ़ना सोना इत्यादि । और तीसरा कर्म पारमार्थिक है । इनमें से काम्य कर्म का त्याग गीता का संन्यास है और कर्ममात्र के फल का त्याग गीता-मान्य त्याग है ।

कह सकते हैं कि कर्ममात्र में कुछ दोष तो अवश्य हैं ही, तथापि यज्ञार्थ अर्थात् परोपकारार्थ कर्म का त्याग विहित नहीं है। यज्ञ में दान और तप आ जाते हैं; पर परमार्थ में भी आसक्ति, मोह नहीं होना चाहिए, अन्यथा उसमें बुराई के घुस आने की संभावना है।

मोहवश नियत कर्म का त्याग तामस त्याग है। देह के कष्ट के खयाल से किया हुआ त्याग राजस है; पर सेवा-कार्य करने की भावना से, बिना फल की इच्छा का त्याग सच्चा सात्त्विक त्याग है। अतः यहां कर्ममात्र का त्याग नहीं है, बल्कि कर्तव्य-कर्म के फल का त्याग है और दूसरे अर्थात् काम्य कर्म का त्याग तो है ही। ऐसे त्यागी को शंकाएं नहीं उठतीं। उसकी भावना शुद्ध होती है और वह सुविधा-असुविधा का विचार नहीं करता।

जो कर्म-फल का त्याग नहीं करते हैं, उन्हें तो अच्छे-बुरे फल भोगने ही पड़ते हैं। इससे वे बंधन में पड़े रहते हैं। फल-त्यागी बंधनमुक्त हो जाता है।

और कर्म के विषय में मोह क्या ? अपने कर्त्तापन का अभिमान मिथ्या है। कर्ममात्र की सिद्धि में पांच कारण होते हैं—स्थान, कर्त्ता, साधन, क्रियाएं और यह सब होने पर भी अंतिम दैव है।

यह समझकर मनुष्य को अभिमान का त्याग करना चाहिए। अहंता छोड़कर कुछ भी करनेवाले के बारे में कहा जा सकता है कि वह करते हुए भी नहीं करता है; क्योंकि उसे वह कर्म बंधन-कर्त्ता नहीं होता। ऐसे निरभिमान, शून्यवत् बने हुए मनुष्य के विषय में कह सकते हैं कि वह मारते हुए भी नहीं मारता है। इसके मानी यह नहीं होते कि कोई मनुष्य शून्यवत्

होते हुए भी हिंसा करता है और अलिप्त रहता है, निरभिमानी को हिंसा करने का प्रयोजन ही क्या है।

कर्म की प्रेरणा में तीन वस्तुएं होती हैं—ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञान और उसके तीन अंग हैं—इंद्रियां, क्रिया और कर्त्ता। जो करना है, वह ज्ञेय है। जो उसकी रीति है, वह ज्ञान है और जाननेवाला जो है, वह परिज्ञाता है। इस प्रकार प्रेरणा होने के बाद कर्म होता है। उसमें इंद्रियां कारण होती हैं, जो करने को है वह क्रिया और उसका करनेवाला जो है, वह कर्त्ता है। इस प्रकार विचार में से आचार होता है। जिसके द्वारा हम प्राणि-मात्र में एक ही भाव देखें, अर्थात् सबकुछ भिन्न-भिन्न लगते हुए भी गहराई में उतरने पर एक ही भाषित हों तो वह सात्त्विक ज्ञान है।

इससे उलटा, जो भिन्न दिखाई देता है, वह भिन्न ही भाषित हो तो वह राजस ज्ञान है।

और जहां कुछ पता ही नहीं लगता और सब विना कारण के गड़बड़ लगता है, वह तामस ज्ञान है।

ज्ञान के विभाग की भांति कर्म के भी विभाग हैं। जहां फलेच्छा नहीं हैं, राग-द्वेष नहीं है, वह कर्म सात्त्विक है। जहां भोग की इच्छा है, जहां 'मैं करता हूं' यह अभिमान है और इससे जहां हो-हल्ला है, वह राजस कर्म है। जहां परिणाम की, हानि की या हिंसा की, शक्ति की परवा नहीं है और जो मोह के वश होकर होता है, वह तामस कर्म है।

कर्म की भांति कर्त्ता भी तीन तरह के समझने चाहिए। सात्त्विक कर्ता वह है, जिसे राग नहीं है, अहंकार नहीं है, तथापि जिसमें दृढ़ता है, साहस है और जिसे अच्छे-बुरे फल से हर्ष-

शोक नहीं है। राजस कर्ता में राग होता है, लोभ होता है, हिंसा होती है, हर्ष-शोक तो जरूर ही होता है, तो फिर कर्म-फल की इच्छा का तो कहना ही क्या ? और तामस कर्ता अव्यवस्थित, दीर्घसूत्री, हठी, शठ, आलसी, संक्षेप में कहा जाय तो संस्कार-रहित होता है।

बुद्धि, धृति और सुख के भी भिन्न-भिन्न प्रकार जानने योग्य हैं।

सात्त्विक बुद्धि प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय और बंध-मोक्ष आदि का सही भेद करती और जानती है। राजसी बुद्धि यह भेद करने तो चलती है, पर गलत या विपरीत कर लेती है और तामसी बुद्धि तो धर्म को अधर्म मानती है। सब उलटा ही निहारती है।

धृति अर्थात् धारणा, कुछ भी ग्रहण करके उससे लगे रहने की शक्ति। यह शक्ति अल्पाधिक प्रमाण में सबमें है। यदि यह न हो तो जगत एक क्षण भी न टिक सके। अब जिसमें मन, प्राण और इंद्रियों की क्रिया की समता है, समानता है और एक-निष्ठा है, वहां धृति सात्त्विकी है और जिसके द्वारा मनुष्य धर्म, काम और अर्थ को आसक्तिपूर्वक धारण करता है, वह धृति राजसी है। जो धृति मनुष्य को निंदा, भय, शोक, निराशा, मद वगैरह नहीं छोड़ने देती, वह तामसी है।

सात्त्विक सुख वह है, जिसमें दुःख का अनुभव नहीं है, जिसमें आत्मा प्रसन्न रहता है, जो शुरू में जहर-सा लगने पर भी, परिणाम में, अमृत के समान ही है। विषय-भोग में जो शुरू में मधुर लगता है, पर बाद को जहर के समान हो जाता है, वह राजस सुख है और जिसमें केवल मूर्च्छा, आलस्य, निद्रा

ही है वह तामस सुख है।

इस प्रकार सब वस्तुओं के तीन हिस्से किये जा सकते हैं। ब्राह्मणादि चार वर्ण भी इन तीन गुणों के अल्पाधिक्य के कारण हुए हैं। ब्राह्मण के कर्म में शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, अनुभव, आस्तिकता होनी चाहिए। क्षत्रियों में शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में पीछे न हटना, दान, राज्य चलाने की शक्ति होनी चाहिए। खेती, गो-रक्षा और व्यापार वैश्य का कर्म है और शूद्र का सेवा। इसका यह मतलब नहीं कि एक के गुण दूसरे में नहीं होते, अथवा इन गुणों को हासिल करने का उसे हक नहीं है; पर उपर्युक्त भांति के गुण या कर्म से उस-उस वर्ण की पहचान हो सकती है। यदि हरएक वर्ण के गुण-कर्म पहचाने जायं तो परस्पर द्वेष-भाव न हो, स्पर्द्धा न हो। ऊंच-नीच की भावना की यहां कोई गुंजाइश नहीं है; बल्कि सब अपने स्वभाव के अनुसार निष्काम भाव से अपने कर्म करते रहें तो उन कर्मों को करते हुए वे मोक्ष के अधिकारी हो जाते हैं। इसीलिए कहा है कि परधर्म चाहे सरल लगता हो, स्वधर्म चाहे खोखला लगता हो, तो भी स्वधर्म अच्छा है। स्वभावजन्य कर्म में पाप न होने की संभावना है, क्योंकि उसी में निष्कामता की पाबंदी हो सकती है, दूसरा करने की इच्छा में ही कामना आ जाती है। बाकी तो जैसे अग्निमात्र में धुंआ है, वैसे ही कर्ममात्र में दोष तो अवश्य है; पर सहजप्राप्त कर्म फल की इच्छा के बिना होते हैं, इसलिए कर्म का दोष नहीं लगता।

जो इस प्रकार स्वधर्म का पालन करता हुआ शुद्ध हो गया है, जिसने मन को वश में कर रखा है, जिसने पांच विषयों को छोड़ दिया है, जिसने राग-द्वेष को जीत लिया है, जो एकांत-

सेवी अर्थात् अंतरध्यानी रह सकता है, जो अल्पाहार करके मन, वचन, काया को अंकुश में रखता है, ईश्वर का ध्यान जिसे बराबर बना रहता है, जिसने अहंकार, काम, क्रोध, परिग्रह इत्यादि तज दिये हैं, वह शांत योगी ब्रह्मभाव को पाने योग्य है। ऐसा मनुष्य सबके प्रति समभाव रखता है और हर्ष-शोक नहीं करता, ऐसा भक्त ईश्वर-तत्त्व को यथार्थ जानता है और ईश्वर में लीन हो जाता है। इस प्रकार जो भगवान का आश्रय लेता है, वह अमृत पद पाता है। इसलिए भगवान कहते हैं— "सब मुझे अर्पण कर मुझमें परायण हो और विवेक-बुद्धि का आश्रय लेकर मुझमें चित्त पिरो दे। ऐसा करेगा तो सारी विडंबनाओं से छूट जायगा, पर जो अहंकार रखकर मेरी नहीं सुनेगा तो विनाश को प्राप्त होगा। सौ बात की एक बात तो यह है कि सभी प्रपंचों को त्यागकर मेरी शरण ले तो तू पाप-मुक्त हो जायगा। जो तपस्वी नहीं है, भक्त नहीं है, जिसे सुनने की इच्छा नहीं है और जो मेरा गुह्य ज्ञान मेरे भक्तों को देगा, वह मेरी भक्ति करने के कारण अवश्य मुझे पावेगा।"

अंत में संजय धृतराष्ट्र से कहता है—जहां योगेश्वर कृष्ण हैं, जहां धनुर्धारी पार्थ हैं, वहां श्री है, विजय है, वैभव है और अविचल नीति है।

यहां कृष्ण को योगेश्वर विशेषण दिया गया है। इससे उसका शाश्वत अर्थ, शुद्ध अनुभव ज्ञान किया गया है और धनु-र्धारी पार्थ कहकर यह बतालाया गया है कि जहां ऐसे अनुभव सिद्ध ज्ञान को अनुसरण करनेवाली क्रिया है, वहां परम नीति की अवरोधनी मनोकामना सिद्ध होती है।

०

अनासक्तियोग

(श्रीमद्भगवद्गीता, अनुवाद सहित)

प्रस्तावना

: १ :

जैसे स्वामी आनंद आदि मित्रों के प्रेम के वश होकर मैंने सत्य के प्रयोगों के लिए आत्मकथा का लिखना आरंभ किया था, वैसे गीता का अनुवाद भी। स्वामी आनंद ने असहयोग के जमाने में मुझसे कहा था, "आप गीता का अर्थ करते हैं, वह अर्थ तभी समझ में आ सकता है जब आप एक बार समूची गीता का अनुवाद कर जायं और उसके ऊपर जो टीका करनी हो, वह करें और हम वह संपूर्ण एक बार पढ़ जायं। फुटकर श्लोकों में से अहिंसादि का प्रतिपादन मुझे तो ठीक नहीं लगता है।" मुझे उनकी दलील में सार जान पड़ा। मैंने जवाब दिया, "अवकाश मिलने पर यह करूंगा।" फिर मैं जेल गया। वहां तो गीता का अध्ययन कुछ अधिक गहराई से करने का मौका मिला। लोकमान्य का ज्ञान का भंडार पढ़ा। उन्होंने ही पहले मुझे मराठी, हिंदी और गुजराती अनुवाद प्रेमपूर्वक भेजे थे और सिफारिश की थी कि मराठी न पढ़ सकूं तो गुजराती अवश्य पढ़ूं। जेल के बाहर तो उसे न पढ़ पाया, पर जेल में गुजराती अनुवाद पढ़ा। इसे पढ़ने के बाद गीता के संबंध में अधिक पढ़ने की इच्छा हुई और गीता-संबंधी अनेक ग्रंथ उलटे-पलटे।

मुझे गीता का प्रथम परिचय एडविन आर्नाल्ड के पद्य-अनुवाद से सन् १८८८-८९ में प्राप्त हुआ। उससे गीता का गुजराती अनुवाद पढ़ने की तीव्र इच्छा हुई और जितने अनुवाद हाथ लगे, उन्हें पढ़ गया; परंतु ऐसी पढ़ाई मुझे अपना अनुवाद जनता के सामने रखने का बिलकुल अधिकार नहीं देती। इसके सिवा मेरा संस्कृत-ज्ञान अल्प है, गुजराती का ज्ञान विद्वत्ता के विचार से कुछ नहीं है। तब मैंने अनुवाद करने की धृष्टता क्यों की ?

गीता को मैंने जिस प्रकार समझा है उस प्रकार का आचरण करने का मेरा और मेरे साथ रहनेवाले कई साथियों का बराबर प्रयान है। गीता हमारे लिए आध्यात्मिक ग्रंथ है। उसके अनुसार आचरण में निष्फलता रोज आती है, पर वह निष्फलता हमारा प्रयत्न रहते हुए है। इस निष्फलता में सफलता की फूटती हुई किरणों की झलक दिखाई देती है। यह नन्हा-सा

जन-समुदाय जिस अर्थ को आचार में परिणत करने का प्रयत्न करता है, वह इस अनुवाद में है ।

इसके सिवा स्त्रियां, वैश्य और शूद्र-सरीखे, जिन्हें अक्षरज्ञान थोड़ा ही है, जिन्हें मूल संस्कृत में गीता समझने का समय नहीं है, इच्छा नहीं है, परंतु जिन्हें गीता रूपी सहारे की आवश्यकता है, उन्हीं के लिए इस अनुवाद की कल्पना है।[1] गुजराती भाषा का मेरा ज्ञान कम होने पर भी उसके द्वारा गुजरातियों को, मेरे पास जो कुछ पूंजी हो वह, दे जाने की मुझे सदा भारी अभिलाषा रही है। मैं यह चाहता हूं अवश्य कि आज गंदे साहित्य का जो प्रवाह जोरों से जारी है, उस समय में हिंदू-धर्म में अद्वितीय माने जानेवाले इस ग्रंथ का सरल अनुवाद गुजराती जनता को मिले और उसमें से वह उस प्रवाह का सामना करने की शक्ति प्राप्त करे ।

इस अभिलाषा में दूसरे गुजराती अनुवादों की अवहेलना नहीं है । उन सबका स्थान भले ही हो ; पर उनके पीछे उनके अनुवादकों का आचार-रूपी अनुभव का दावा हो, ऐसा मेरी जानकारी में नहीं है । इस अनुवाद के पीछे अड़तीस वर्ष के आचार के प्रयत्न का दावा है । इसलिए मैं यह अवश्य चाहता हूं कि प्रत्येक गुजराती भाई और बहन, जिन्हें धर्म को आचरण में लाने की इच्छा है, इसे पढ़ें, विचारें और इसमें से शक्ति प्राप्त करें ।

इस अनुवाद में मेरे साथियों की मेहनत मौजूद है । मेरा संस्कृत-ज्ञान बहुत अधूरा होने के कारण शब्दार्थ पर मुझे पूरा विश्वास नहीं हो सकता था, अतः इतने भर के लिए इस अनुवाद को विनोबा, काका कालेलकर, महादेव देसाई और किशोरलाल मशरूवाला ने देख लिया है ।

: २ :

अब गीता के अर्थ पर आता हूं।

सन् १८८८-८९ में जब गीता का प्रथम दर्शन हुआ तभी मुझे ऐसा लगा कि यह ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं है, वरन् इसमें भौतिक युद्ध के वर्णन के बहाने प्रत्येक मनुष्य के हृदय के भीतर निरंतर होते रहनेवाले द्वंद्व-युद्ध का ही वर्णन है । मानुषी योद्धाओं की रचना हृदयगत युद्ध को रोचक बनाने के लिए गढ़ी हुई कल्पना है । यह प्राथमिक स्फुरण धर्म का और गीता का विशेष विचार करने के बाद पक्की हो गई । महाभारत पढ़ने के बाद यह विचार और भी दृढ़ हो गया । महाभारत-ग्रंथ को मैं आधुनिक अर्थ में इतिहास नहीं मानता । इसके प्रबल प्रमाण आदि पर्व में ही हैं । पात्रों की

---

१. गांधीजी का अनुवाद गुजराती में है । यह उसी का हिंदी-रूपांतर है ।

अमानुषी और अतिमानुषी उत्पत्ति का वर्णन करके व्यास भगवान ने राजा-प्रजा के इतिहास को मिटा दिया है। उसमें वर्णित पात्र मूल में ऐतिहासिक भले ही हों, परंतु महाभारत में तो उनका उपयोग व्यास भगवान ने केवल धर्म का दर्शन कराने के लिए ही किया है।

महाभारतकार ने भौतिक युद्ध की आवश्यकता नहीं, उसकी निरर्थकता सिद्ध की है। विजेता ने रुदन कराया है, पश्चात्ताप कराया है और दुःख के सिवा और कुछ नहीं रहने दिया।

इस महाग्रंथ में गीता शिरोमणि रूप से विराजती है। उसका दूसरा अध्याय भौतिक युद्ध-व्यवहार सिखाने के बदले स्थितप्रद के लक्षण सिखाता है। स्थितप्रज्ञ का ऐहिक युद्ध के साथ कोई संबंध नहीं होता, यह बात उसके लक्षणों में से ही मुझे प्रतीत हुई है। साधारण पारिवारिक झगड़ों के औचित्य-अनौचित्य का निर्णय करने के लिए गीता-जैसी पुस्तक की रचना संभव नहीं है।

गीता के कृष्ण मूर्तिमान् शुद्ध संपूर्ण ज्ञान है ! परंतु काल्पनिक हैं। यहाँ कृष्ण नाम के अवतारी पुरुष का निषेध नहीं है। केवल संपूर्ण कृष्ण काल्पनिक हैं, संपूर्णावतार का आरोपण पीछे से हुआ है।

अवतार से तात्पर्य है शरीरधारी पुरुष विशेष। जीवमात्र ईश्वर के अवतार हैं, परंतु लौकिक भाषा में सबको हम अवतार नहीं कहते। जो पुरुष अपने युग में सबसे श्रेष्ठ धर्मवान् है, उसे भावी प्रजा अवताररूप से पूजती है। इसमें मुझे कोई दोष नहीं जान पड़ता। इसमें न तो ईश्वर के बड़प्पन में कमी आती है, न उसमें सत्य को आघात पहुंचता है। "आदम खुदा नहीं; लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं।" जिसमें धर्म-जागृति अपने युग में सबसे अधिक है वह विशेषावतार है। इस विचार-श्रेणी से कृष्णरूपी संपूर्णावतार आज हिंदू-धर्म में साम्राज्य भोग रहा है।

यह दृश्य मनुष्य की अंतिम सदभिलाषा का सूचक है। मनुष्य को ईश्वर-रूप हुए बिना चैन नहीं पड़ता, शांति नहीं मिलती। ईश्वररूप होने के प्रयत्न का नाम सच्चा और एकमात्र पुरुषार्थ है और यही आत्मदर्शन है। यह आत्मदर्शन सब धर्म-ग्रंथों का विषय है, वैसे ही गीता का भी है। पर गीता-कार ने इस विषय का प्रतिपादन करने के लिए गीता नहीं रची, वरन् आत्मार्थी को आत्मदर्शन का एक अद्वितीय उपाय बतलाना गीता का आशय है। जो चीज हिंदू धर्म-ग्रंथों में छिट-पुट दिखाई देती है, उसे गीता ने अनेक रूपों में, अनेक शब्दों में, पुनरुक्ति का दोष स्वीकार करके भी, अच्छी तरह स्थापित किया है।

वह अद्वितीय उपाय है 'कर्मफलत्याग।'

इस मध्यबिंदु के चारों ओर गीता की सारी सजावट है। भक्ति, ज्ञान इत्यादि इसके आसपास तारा-मंडल-रूप में सज गये हैं। जहां देह है, वहां कर्म तो है ही। उसमें से कोई मुक्त नहीं है, तथापि देह को प्रभु का मंदिर बनाकर उसके द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है, यह सब धर्मों ने प्रतिपादन किया है; परंतु कर्ममात्र में कुछ दोष तो हैं ही, मुक्ति तो निर्दोष की ही होती है। तब कर्मबंधन में से अर्थात दोष-स्पर्श में से कैसे छुटकारा हो ? इसका जवाब गीताजी ने निश्चयात्मक शब्दों में दिया है—"निष्काम कर्म से, यज्ञार्थ कर्म करके, कर्मफल त्याग करके, सब कर्मों को कृष्णार्पण करके, अर्थात् मन, वचन और काया को ईश्वर में होम करके।"

पर निष्कामता, कर्मफल-त्याग कहनेभर से नहीं हो जाता। यह केवल बुद्धि का प्रयोग नहीं है। यह हृदय-मंथन से ही उत्पन्न होता है। यह त्याग-शक्ति पैदा करने के लिए ज्ञान चाहिए। एक प्रकार का ज्ञान तो बहुतेरे पंडित पाते हैं। वेदादि उन्हें कंठ होते हैं; परंतु उनमें से अधिकांश भोगादि में लगे-लिपटे रहते हैं। ज्ञान का अतिरेक शुष्क पांडित्य के रूप में न हो जाय, इस खयाल के गीताकार ने ज्ञान के साथ भक्ति को मिलाया और उसे प्रथम स्थान दिया। बिना भक्ति का ज्ञान हानिकर है। इसलिए कहा गया, "भक्ति करो तो ज्ञान मिल ही जायगा।" पर भक्ति तो 'सिर का सौदा' है, इसलिए गीताकार ने भक्ति के लक्षण स्थितप्रज्ञ के-से बतलाये हैं।

तात्पर्य, गीता की भक्ति बाह्याचारिता नहीं है, अंधश्रद्धा नहीं है। गीता में बताये उपचार का बाह्य चेष्टा या क्रिया के साथ कम-से-कम संबंध है, माला, तिलक, अर्घ्यादि साधन भले ही भक्त बरते, पर वे भक्ति के लक्षण नहीं हैं। जो किसी का द्वेष नहीं करता, जो करुणा का भंडार है और ममता-रहित है, जो निरहंकार है, जिसे सुख-दुःख, शीत-उष्ण समान हैं, जो क्षमा-शील है, जो सदा संतोषी है, जिनके निश्चय कभी बदलते नहीं, जिसने मन और बुद्धि ईश्वर को अर्पण कर दिये हैं, जिससे लोग उद्वेग नहीं पाते, जो लोगों का भय नहीं रखता, जो हर्ष-शोक-भयादि से मुक्त है, जो पवित्र है, जो कार्यदक्ष होने पर भी तटस्थ है, जो शुभाशुभ का त्याग करने-वाला है, जो शत्रु-मित्र पर समभाव रखने-वाला है, जिसे मान-अपमान समान है, जिसे स्तुति से खुशी नहीं होती और निंदा से ग्लानि नहीं होती, जो मौनधारी है, जिसे एकांत प्रिय है, जो स्थिरबुद्धि है, वह भक्त है। यह भक्ति आसक्त स्त्री-पुरुषों में संभव नहीं है।

इसमें से हम देखते हैं कि ज्ञान प्राप्त करना, भक्त होना ही आत्मदर्शन है। आत्मदर्शन उससे भिन्न वस्तु नहीं है। जैसे रुपये के बदले में जहर खरीदा जा सकता है और अमृत भी लाया जा सकता है, वैसे ज्ञान या भक्ति

के बदले बंधन भी लाया जा सके और मोक्ष भी, यह सम्भव नहीं है। यहां तो साधन और साध्य, बिलकुल एक नहीं तो लगभग एक ही वस्तु हैं, साधन की पराकाष्ठा जो है, वही मोक्ष है और गीता के मोक्ष का अर्थ परम शांति है।

किन्तु ऐसे ज्ञान और भक्ति को कर्म-फल-त्याग की कसौटी पर चढ़ना ठहरा। लौकिक कल्पना में शुष्क पंडित भी ज्ञानी मान लिया जाता है। उसे कुछ काम करने को नहीं रहता। हाथ से लोटा तक उठाना भी उसके लिए कर्म-बंधन है। यज्ञशून्य जहां ज्ञानी गिना जाय वहां लोटा उठाने-जैसी तुच्छ लौकिक क्रिया को स्थान ही कैसे मिल सकता है?

लौकिक कल्पना में भक्त से मतलब है बाह्याचारी[1], माला लेकर जप करने वाला। सेवा-कर्म करते भी उसकी माला में विक्षेप पड़ता है। इसलिए वह खाने-पीने आदि भोग-भोगने के समय ही माला को हाथ से छोड़ता है, चक्की चलाने या रोगी की सेवा-शुश्रूषा करने के लिए कभी नहीं छोड़ता।

इन दोनों वर्गों को गीता ने साफतौर से कह दिया, "कर्म बिना किसी ने सिद्धि नहीं पाई। जनकादि भी कर्म द्वारा ज्ञानी हुये। यदि मैं भी आलस्य रहित होकर कर्म न करता रहूं तो इन लोकों का नाश हो जाय।" तो फिर लोगों के लिए पूछना ही क्या रह जाता है?

परन्तु एक ओर से कर्ममात्र बन्धनरूप हैं, यह निर्विवाद है। दूसरी ओर से देही इच्छा-अनिच्छा से भी कर्म करता रहता है। शारीरिक या मानसिक सभी चेष्टाएं कर्म हैं। तब कर्म करते हुए भी मनुष्य बंधनमुक्त कैसे रहे? जहां तक मुझे मालूम है, इस समस्या को गीता ने जिस तरह हल किया है, वैसे दूसरे किसी भी धर्म-ग्रंथ ने नहीं किया है। गीता का कहना है, "फलासक्ति छोड़ो और कर्म करो", "अशारहित होकर कर्म करो", "निष्काम होकर कर्म करो।" यह गीता की वह ध्वनि है, जो भुलाई नहीं जा सकती। जो कर्म छोड़ता है, वह गिरता। कर्म करते हुए भी जो उसका फल छोड़ता है, वह चढ़ता है। फल-त्याग का यह अर्थ नहीं है कि परिणाम के सम्बन्ध में लापरवाही रहे। परिणाम और साधन का विचार और उसका ज्ञान अत्यावश्यक है। इतना होने के बाद जो मनुष्य परिणाम की इच्छा किये बिना साधन में तन्मय रहता है, वह फलत्यागी है।

पर यहां फलत्याग का कोई यह अर्थ न करे कि त्यागी को फल मिलता

---

१. जो बाह्याचार में लीन रहता है और शुद्ध भाव से मानता है कि यही भक्ति है।

नहीं। गीता में ऐसे अर्थ को कहीं स्थान नहीं है। फलत्याग से मतलब है फल के सम्बन्ध में आसक्ति का अभाव। वास्तव में देखा जाय तो फलत्यागी को तो हजारगुना फल मिलता है। गीता के फलत्याग में तो अपरिमित श्रद्धा की परीक्षा है। जो मनुष्य परिणाम का ध्यान करता रहता है, वह बहुत बार कर्म—कर्तव्यभ्रष्ट हो जाता है। उसे अधीरता घेरती है, इससे वह क्रोध के वश हो जाता है और फिर वह न करने योग्य करने लग पड़ता है, एक कर्म में से दूसरे में और दूसरे में से तीसरे में पड़ता जाता है। परिणाम की चिंता करने वाले की स्थिति विषयांध की-सी हो जाती है। और अन्त में वह विषयी की भांति सारासार का, नीति-अनीति का विवेक छोड़ देता है, और फल प्राप्त करने के लिए हर किसी साधन से काम लेता है और उसे धर्म मानता है।

फलासक्ति के ऐसे कटु परिणामों में से गीताकार ने अनासक्ति का अर्थात् कर्मफलत्याग का सिद्धांत निकाला और संसार के सामने अत्यन्त आकर्षक भाषा में रखा। साधारणतः तो यह माना जाता है कि धर्म और अर्थ विरोधी वस्तु हैं, "व्यापार इत्यादि लौकिक व्यवहार में धर्म नहीं बचाया जा सकता, धर्म को जगह नहीं हो सकती, धर्म का उपयोग केवल मोक्ष के लिए किया जा सकता है। धर्म की जगह धर्म शोभा देता है और अर्थ की जगह अर्थ।" बहुतों से ऐसा कहते हम सुनते हैं। गीतकार ने इस भ्रम को दूर किया है। उसने मोक्ष और व्यवहार के बीच ऐसा भेद नहीं रखा है, वरन् व्यवहार में धर्म को उतारा है। जो धर्म व्यवहार में न लाया जा सके, वह धर्म नहीं है, मेरी समझ से यह बात गीता में है। मतलब, गीता के मतानुसार जो कर्म ऐसे हैं कि आसक्ति के बिना हो ही न सकें, वे सभी त्याज्य हैं। ऐसा सुवर्ण नियम मनुष्य को अनेक धर्म-संकटों से बचाता है। इस मत के अनुसार खून, झूठ, व्यभिचार इत्यादि कर्म अपने-आप त्याज्य हो जाते हैं। मानव-जीवन सरल बन जाता है और सरलता में से शांति उत्पन्न होती है।

इस विचार-श्रेणी के अनुसार मुझे ऐसा जान पड़ा है कि गीता की शिक्षा को व्यवहार में लानेवाले को अपने-आप सत्य और अहिंसा का पालन करना पड़ता है। फलासक्ति के बिना न तो मनुष्य को असत्य बोलने का लालच होता है, न हिंसा करने का। चाहे जिस हिंसा या असत्य के कार्य को हम लें, यह मालूम हो जायगा कि उसके पीछे परिणाम की इच्छा रहती है। गीता-काल के पहले भी अहिंसा परम धर्म रूप मानी जाती थी, पर गीता को तो अनासक्ति के सिद्धांत का प्रतिपादन करना था। दूसरे अध्याय में ही यह बात स्पष्ट हो जाती है।

परंतु यदि गीता को अहिंसा मान्य थी, अथवा अनासक्ति में अहिंसा अपने-आप आ ही जाती है, तो गीताकार ने भौतिक युद्ध को उदाहरण के रूप में भी क्यों लिया ? गीता-युग में अहिंसा धर्म मानी जाने पर भी भौतिक युद्ध सर्वमान्य वस्तु होने के कारण गीताकार को ऐसे युद्ध का उदाहरण लेते संकोच नहीं हुआ और न होना चाहिए था।

परन्तु फलत्याग के महत्व का अंदाजा करते हुए गीताकार के मन में क्या विचार थे, उसने अहिंसा की मर्यादा कहां निश्चित की थी, इस पर हमें विचार करने की आवश्यकता नहीं रहती। कवि महत्व के सिद्धान्तों को संसार के सम्मुख उपस्थित करता है, इसके यह मानी नहीं होते कि वह सदा अपने उपस्थित किये हुए सिद्धान्तों को महत्त्वपूर्ण रूप से पहचानता है या पहचानने के बाद समूचे को भाषा में रख सकता है। इसमें काव्य की और कवि की महिमा है। कवि के अर्थ का अंत ही नहीं है। जैसे मनुष्य का, उसी प्रकार महावाक्यों के अर्थ का विकास होता ही रहता है। भाषाओं के इतिहास से हमें मालूम होता है कि अनेक महान् शब्दों के अर्थ नित्य-नये होते रहे हैं। यही बात गीता के अर्थ के संबंध में भी है। गीताकार ने स्वयं महान् रूढ़ शब्दों के अर्थ का विस्तार किया है। गीता को ऊपरी दृष्टि से देखने पर भी यह बात मालूम हो जाती है। गीता-युग के पहले कदाचित यज्ञ में पशु-हिंसा मान्य रही हो। गीता के यज्ञ में उसकी कहीं गन्ध तक नहीं है। उसमें तो जपयज्ञ यज्ञों का राजा है। तीसरा अध्याय बतलाता है कि यज्ञ का अर्थ है मुख्य रूप से परोपकार के लिए शरीर का उपयोग। तीसरा और चौथा अध्याय मिलाकर दूसरी व्याख्याएं भी निकाली जा सकती हैं, पर पशु-हिंसा नहीं निकाली जा सकती। वही बात गीता के संन्यास के अर्थ के संबंध में है। कर्ममात्र का त्याग गीता के संन्यास को भाता ही नहीं। गीता का संन्यासी अतिकर्मी है, तथापि अति-अकर्मी है। इस प्रकार गीताकार ने तो महान् शब्दों का व्यापक अर्थ करके अपनी भाषा का भी व्यापक अर्थ करना हमें सिखाया है। गीताकार की भाषा के अक्षरों से यह बात भले ही निकलती हो कि सम्पूर्ण कर्मफलत्यागी द्वारा भौतिक युद्ध हो सकता है, परन्तु गीता की शिक्षा को पूर्ण रूप से अमल में लाने का ४० वर्ष तक सतत प्रयत्न करने पर मुझे तो नम्रतापूर्वक ऐसा जान पड़ा है कि सत्य और अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन किये बिना सम्पूर्ण कर्मफल-त्याग मनुष्य के लिए असम्भव है।

गीता सूत्रग्रंथ नहीं है। गीता एक महान् धर्म-काव्य है। उसमें जितना गहरे उतरिये, उतने ही उसमें से नये और सुन्दर अर्थ लीजिये। गीता जन-समाज के लिए है, उसमें एक ही बात को अनेक प्रकार से कहा है।

अतः गीता में आये हुए महाशब्दों का अर्थ युग-युग में बदलता और विस्तृत होता रहेगा। गीता का मूल मंत्र कभी नहीं बदल सकता। वह मंत्र जिस रीति से सिद्ध किया जा सके, उस रीति से जिज्ञासु चाहे जो अर्थ कर सकता है।

गीता विधि-निषेध बतलानेवाली भी नहीं है। एक के लिए जो विहित होता है, वही दूसरे के लिए निषिद्ध हो सकता है। एक काल या एक देश में जो विहित होता है, वह दूसरे काल में, दूसरे देश में निषिद्ध हो सकता है। निषिद्ध केवल फलासक्ति है, विहित है अनासक्ति।

गीता में ज्ञान की महिमा सुरक्षित है, तथापि गीता बुद्धिगम्य नहीं है, वह हृदयगम्य है। अतः वह अश्रद्धालु के लिए नहीं है। गीताकार ने ही कहा है :

"जो तपस्वी नहीं है, जो भक्त नहीं है, जो सुनना नहीं चाहता और जो मेरा द्वेष करता है, उससे यह ज्ञान तू कभी न कहना।" १८।६७

"परंतु यह परमगुह्य ज्ञान जो मेरे भक्तों को देगा, वह मेरी परम भक्ति करने के कारण निःसंदेह मुझे ही पावेगा।" १८।६८

"और जो मनुष्य द्वेषरहित होकर श्रद्धापूर्वक केवल सुनेगा, वह भी मुक्त होकर पुण्यवान जहां बसते हैं, उस शुभ लोक को पावेगा।" १८।७१

(कौसानी, हिमालय)
सोमवार
आषाढ़ कृष्ण, २, १९८६
२४-६-२९

मो० क० गांधी

अनासक्तियोग

: १ :

अर्जुनविषादयोग

जिज्ञासा बिना ज्ञान नहीं होता। दुःख बिना सुख नहीं होता। धर्मसंकट—हृदयमंथन सब जिज्ञासुओं को एक बार होता ही है।

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

धृतराष्ट्र बोले—

हे संजय ! मुझे बतलाओ कि धर्मक्षेत्ररूपी कुरुक्षेत्र में युद्ध करने की इच्छा से इकट्ठे हुए मेरे और पांडु के पुत्रों ने क्या किया ?

१

टिप्पणी—यह शरीररूपी क्षेत्र धर्मक्षेत्र है, क्योंकि यह मोक्ष का द्वार हो सकता है। पाप से इसकी उत्पत्ति है और पाप का यह भाजन बना रहता है, इसलिए यह कुरुक्षेत्र है।

कौरव अर्थात् आसुरी वृत्तियां। पांडुपुत्र अर्थात् दैवी वृत्तियां। प्रत्येक शरीर में भली और बुरी वृत्तियों में युद्ध चलता ही रहता है, यह कौन नहीं अनुभव करता ?

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

संजय ने कहा—

उस समय पांडवों की सेना सजी देखकर राजा दुर्योधन आचार्य द्रोण के पास जाकर बोले—

२

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ।।३।।

हे आचार्य ! अपने बुद्धिमान शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा सजाई हुई पांडवों की इस बड़ी सेना को देखिए । ३

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ।।४।।

यहां भीम, अर्जुन-जैसे लड़ने में शूरवीर धनुर्धर, युयुधान (सात्यकि), विराट और महारथी द्रुपदराज, ४

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ।।५।।

धृष्टकेतु, चेकितान, शूरवीर काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य, ५

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ।।६।।

इसी प्रकार पराक्रमी युधामन्यु, बलवान उत्तमौजा, सुभद्रा-पुत्र (अभिमन्यु) और द्रौपदी के पुत्र, ये सभी महारथी हैं । ६

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ।।७।।

हे द्विजश्रेष्ठ ! अब हमारी ओर के जो मुख्य योद्धा हैं, उन्हें आप जान लीजिए । अपनी सेना के नायकों के नाम मैं आपके ध्यान में लाने के लिए कहता हूं । ७

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ।।८।।

एक तो आप, भीष्म, कर्ण, युद्ध में जयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा, ८

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ।।९।।

दूसरे भी बहुतेरे नाना प्रकार के शस्त्रों से युद्ध करनेवाले शूरवीर हैं, जो मेरे लिए प्राण देनेवाले हैं । वे सब युद्ध में

कुशल हैं। ९

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

भीष्म द्वारा रक्षित हमारी सेना का बल अपूर्ण है, पर भीम द्वारा रक्षित उनकी सेना पूर्ण है। १०

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

इसलिए आप सब अपने-अपने स्थान से सब मार्गों से भीष्म-पितामह की रक्षा अच्छी तरह करें। ११

(इस प्रकार दुर्योधन ने कहा)

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

तब उसे आनंदित करते हुए कुरु-वृद्ध प्रतापी पितामह ने उच्च स्वर से सिंहनाद करके शंख बजाया। १२

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

फिर तो शंख, नगारे, ढोल, मृदंग और रणसिंगे एक साथ ही बज उठे। यहनाद भयंकर था। १३

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

इतने में सफेद घोड़ोंवाले बड़े रथ पर बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन ने दिव्य शंख बजाये। १४

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

श्रीकृष्ण ने पांचजन्य शंख बजाया। धनंजय अर्जुन ने देवदत्त शंख बजाया। भयंकर कर्मवाले भीम ने पौंड्र नामक महाशंख बजाया। १५

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

कुंतीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनंतविजय नामक शंख बजाया और नकुल ने सुघोष तथा सहदेव ने मणिपुष्पक नामक शंख बजाया। १६

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

बड़े धनुष्यवाले काशिराज, महारथी शिखंडी, धृष्टद्युम्न, विराटराज, अजेय सात्यकि, १७

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

द्रुपदराज, द्रौपदी के पुत्र, सुभद्रापुत्र महाबाहु अभिमन्यु, इन सबने, हे राजन् ! अपने-अपने शंख बजाए। १८

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

पृथ्वी और आकाश को गुंजा देनेवाले उस भयंकर नाद ने कौरवों के हृदय विदीर्ण कर डाले। १९

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

हे राजन् ! हनुमान चिह्न की ध्वजावाले अर्जुन ने कौरवों को सजे देखकर, हथियार चलाने की तैयारी के समय अपना धनुष चढ़ाकर हृषीकेश से ये वचन कहे— २०-२१

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

अर्जुन बोले—

"हे अच्युत ! मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा रखो, २१

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥

जिससे युद्ध की कामना से खड़े हुए लोगों को मैं देखूं और

जानूं कि इस रणसंग्राम में मुझे किसके साथ लड़ना है। २२

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में प्रिय करने की इच्छावाले जो योद्धा इकट्ठे हुए हैं, उन्हें मैं देखूं तो सही।" २३

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

संजय ने कहा—

हे राजन्! जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण से यों कहा तब उन्होंने दोनों सेनाओं के बीच में सब राजाओं और भीष्म-द्रोण के सम्मुख उत्तम रथ खड़ा करके कहा—"हे पार्थ! इन इकट्ठे हुए कौरवों को देख।" २४-२५

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन् पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

वहां दोनों सेनाओं में विद्यमान बड़े-बूढ़े, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र, ससुर और स्नेहियों को अर्जुन ने देखा। इन सब बांधवों को यों खड़ा देखकर, खेद उत्पन्न होने के कारण दीन बने हुए, कुंतीपुत्र इस प्रकार बोले— २६-२७

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण! युद्ध के लिए उत्सुक होकर इकट्ठे हुए इन स्वजन स्नेहियों को देखकर मेरे गात्र शिथिल होते जा रहे हैं, मुंह सूख रहा है, शरीर कांप रहा है और रोएं खड़े हो रहे हैं। २८-२९

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

हाथ से गांडीव सरक रहा है, त्वचा बहुत जलती है। मुझसे खड़ा नहीं रहा जाता, क्योंकि मेरा दिमाग चक्कर-सा खा रहा है? ३०

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

इसके सिवा हे केशव! मैं तो विपरीत लक्षण देख रहा हूं। युद्ध में स्वजनों को मारकर कुछ श्रेय नहीं देखता। ३१

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

उन्हें मारकर न मैं विजय चाहता, न राज्य और सुख चाहता; हे गोविन्द! मुझे राज्य का, भोग का या जीवन का क्या काम है? ३२

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बंधिनस्तथा ॥३४॥

जिनके लिए राज्य, भोग और सुख की हमने चाहना की वे, ये आचार्य, काका, पुत्र, पितामह, मामा, ससुर, पौत्र, साले और अन्य संबंधीजन जीवन और धन की आशा छोड़कर युद्ध के लिए खड़े हैं। ३३-३४

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

मुझे ये मार डालें अथवा मुझे तीनों लोक का राज्य मिले

तो भी, हे मधुसूदन ! मैं उन्हें मारना नहीं चाहता। तो फिर एक जमीन के टुकड़े के लिए कैसे मारूं ? ३५

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिस्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

हे जनार्दन ! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर मुझे क्या आनंद होगा ? इन आततायियों को भी मारकर हमें पाप ही लगेगा। ३६

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥३७॥

इससे, हे माधव ! यह उचित नहीं कि अपने ही बांधव धृतराष्ट्र के पुत्रों को हम मारें। स्वजन को ही मारकर कैसे सुखी हो सकते हैं ?" ३७

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥३९॥

लोभ से जिनके चित्त मलिन हो गये हैं, वे कुलनाश से होने वाले दोष को और मित्र-द्रोह के पाप को भले ही न देख सकें, परंतु हे जनार्दन ! कुल नाश से होनेवाले दोष को समझनेवाले हम लोग इस पाप से क्यों न बचना जानें ? ३८-३९

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥४०॥

कुल के नाश से सनातन कुलधर्मों का नाश होता है और धर्म का नाश होने से अधर्म समूचे कुल को डुबा देता है। ४०

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥४१॥

हे कृष्ण ! अधर्म की वृद्धि होने से कुल-स्त्रियां दूषित होती हैं और उनके दूषित होने से वर्ण का संकर होता है। ४१

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

ऐसे संकर से कुल-घातक का और उसके कुल का नरकवास होता है और पिंडोदक की क्रिया से वंचित रहने के कारण उसके पितरों की अधोगति होती है। ४२

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

कुल घातक लोगों के इस वर्णसंकर को उत्पन्न करनेवाले दोषों से सनातन जाति, धर्म और कुल धर्मों का नाश होता है। ४३

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

हे जनार्दन! कुल-धर्म का नाश हुए मनुष्य का अवश्य नरक में वास होता है, ऐसा हम लोग सुनते आये हैं। ४४

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

अहो, कैसे दुःख की बात है कि हम लोग महापाप करने को तुल गये हैं, अर्थात् राज्य-सुख के लोभ से स्वजन को मारने को तैयार हो गये हैं! ४५

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

निःशस्त्र और सामना न करनेवाले मुझको यदि धृतराष्ट्र के शस्त्रधारी पुत्र रण में मार डालें तो वह मेरे लिए बहुत कल्याणकारक होगा। ४६

संजय उवाच
एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

संजय ने कहा—

ऐसा कहकर रण में शोक से व्यग्रचित्त हुआ अर्जुन धनुष-

बाण डालकर रथ के पिछले भाग में बैठ गया। ४७

ॐतत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन-संवाद का 'अर्जुनविषादयोग' नामक पहला अध्याय।

: २ :

सांख्ययोग

मोह के वश होकर मनुष्य अधर्म को धर्म मानता है। मोह के कारण अर्जुन ने अपना और पराया भेद किया, इस भेद को मिथ्या बतलाते हुए श्रीकृष्ण देह और आत्मा की भिन्नता, देह की अनित्यता और पृथक्ता तथा आत्मा की नित्यता और उसकी एकता बतलाते हैं। मनुष्य केवल पुरुषार्थ का अधिकारी है, परिणाम का नहीं। इसलिए उसे कर्तव्य का निश्चय करके निश्चिंत भाव से उसमें लगे रहना चाहिए। ऐसी परायणता से वह मोक्ष की प्राप्ति को पहुंच सकता है।

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

संजय ने कहा—

यों करुणा से दीन बने हुए और अश्रुपूर्ण व्याकुल नेत्रोंवाले दुखी अर्जुन से मधुसूदन ने ये वचन कहे— १

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

श्रीभगवान बोले—

हे अर्जुन ! श्रेष्ठ पुरुषों के अयोग्य, स्वर्ग से विमुख रखने-

वाला और अपयश देनेवाला यह मोह तुझे ऐसी विषम घड़ी में कहां से हो गया ? २

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥३॥

हे पार्थ ! तू नामर्द मत बन। यह तुझे शोभा नहीं देता। हृदय की पामर निर्बलता का त्याग करके, हे परंतप ! तू उठ। ३

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

अर्जुन बोले—

हे मधुसूदन ! भीष्म को और द्रोण को रणभूमि में बाणों से मैं कैसे मारूं ? हे अरिसूदन ! ये तो पूजनीय हैं। ४

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

महानुभाव गुरुजनों को मारने के बदले इस लोक में भिक्षान्न खाना भी अच्छा है; क्योंकि गुरुजनों को मारकर तो मुझे रक्त से सने हुए अर्थ और कामरूप भोग ही भोगने ठहरे। ५

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

मैं नहीं जानता कि दोनों में क्या अच्छा है, हम जीतें यह, या वे हमें जीतें यह ? जिन्हें मारकर मैं जीना नहीं चाहता, वे धृतराष्ट्र के पुत्र यह सामने खड़े हैं। ६

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

कायरता से मेरी (जातीय) वृत्ति मारी गई है। मैं कर्त्तव्य-विमूढ़ हो गया हूं। इसलिए जिसमें मेरा हित हो, वह मुझसे निश्चयपूर्वक कहने की आपसे प्रार्थना करता हूं। मैं आपका शिष्य हूं। आपकी शरण में आया हूं। मुझे मार्ग बतलाइए। ७

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

इस लोक में धनधान्यसंपन्न निष्कंटक राज्य मिले और इंद्रासन मिले तो उसमें भी इंद्रियों को चूस लेनेवाले मेरे शोक को दूर कर सकने-जैसा मैं कुछ नहीं देखता। ८

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

संजय ने कहा—

हे राजन् ! गुडाकेश अर्जुन हृषीकेश गोविंद से ऐसा कह-कर, 'नहीं लड़ूंगा' कहते हुए चुप हो गए। ९

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

हे भारत ! इन दोनों सेनाओं के बीच में उदास होकर बैठे हुए अर्जुन से मुस्कराते हुए हृषीकेश ने ये वचन कहे— १०

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

श्रीभगवान बोले—

तू शोक न करने योग्य का शोक करता है और पंडिताई के बोल बोलता है; परंतु पंडित मृत और जीवितों का शोक

नहीं करते।
११

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

क्योंकि वास्तव में देखने पर, मैं, तू या ये राजा किसी काल में नहीं थे अथवा भविष्य में नहीं होंगे, ऐसा कुछ नहीं है। १२

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

देहधारी को जैसे इस शरीर में कौमार, यौवन और जरा की प्राप्ति होती है, वैसे ही अन्य देह भी मिलती है। उसमें बुद्धिमान पुरुष को मोह नहीं होता।
१३

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

हे कौंतेय ! इंद्रियों के स्पर्श सरदी, गरमी, सुख और दुःख देनेवाले होते हैं। वे अनित्य होते हैं, आते हैं और जाते हैं। उन्हें तू सह।
१४

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! सुख-दुःख में सम रहनेवाले जिस बुद्धिमान पुरुष को ये विषय व्याकुल नहीं करते, वह मोक्ष के योग्य बनता है।
१५

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

असत् का अस्तित्व नहीं है और सत् का नाश नहीं है। इन दोनों का निर्णय ज्ञानियों ने जाना है।
१६

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

जिससे यह अखिल जगत व्याप्त है, उसे तू अविनाशी जान। इस अव्यय का नाश करने में कोई समर्थ नहीं है। १७

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

नित्य रहनेवाले, अपरिमित अविनाशी देही की ये देहें नाशवान कही गई हैं; इसलिए, हे भारत ! तू युद्ध कर। १८

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

जो इसे मारनेवाला मानता है और जो इसे मारा हुआ मानता है, वे दोनों कुछ जानते नहीं हैं। यह (आत्मा) न मारता है, न मारा जाता है। १९

न जायते म्रियते वा कदाचिन्-
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

यह कभी जन्मता नहीं है, मरता नहीं है। यह था और भविष्य में नहीं होगा, ऐसा भी नहीं है। इसलिए यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, पुरातन है, शरीर का नाश होने से इसका नाश नहीं होता। २०

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

हे पार्थ ! जो पुरुष आत्मा को अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय मानता है, वह किसे, कैसे मरवाता है या किसे मारता है ? २१

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नए धारण करता है, वैसे देहधारी जीर्ण हुई देह को त्यागकर दूसरी नई देह पाता है। २२

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

इस (आत्मा) को शस्त्र छेदते नहीं, आग जलाती नहीं, पानी भिगोता नहीं, वायु सुखाता नहीं। २३

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

यह छेदा नहीं जा सकता है, जलाया नहीं जा सकता है, न भिगोया जा सकता है, न सुखाया जा सकता है। यह नित्य है, सर्वगत है, स्थिर है, अचल और सनातन है। २४

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

फिर, यह इंद्रिय और मन के लिए अगम्य है, विकाररहित कहा गया है, इसलिए इसे वैसा जानकर तुझे शोक करना उचित नहीं है। २५

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

अथवा जो तू इसे नित्य जन्मने और मरनेवाला माने तो भी, हे महाबाहो! तुझे शोक करना उचित नहीं है। २६

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

जन्मे हुए के लिए मृत्यु और मरे हुए के लिए जन्म अनिवार्य है। अतः जो अनिवार्य है, उसका शोक करना उचित नहीं है। २७

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

हे भारत! भूतमात्र की जन्म के पहले की और मृत्यु के पीछे की अवस्था देखी नहीं जा सकती, वह अव्यक्त है, बीच की ही स्थिति व्यक्त होती है। इसमें चिंता का क्या कारण है? २८

टिप्पणी—भूत अर्थात् स्थावर-जंगम सृष्टि।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

कोई इसे आश्चर्यसमान देखता है और कोई इसे आश्चर्यसमान वर्णन करता है और कोई इसे आश्चर्यसमान वर्णन किया हुआ सुनता है, परंतु सुनने पर भी कोई इसे जानता नहीं है। २९

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

हे भारत ! सबकी देह में विद्यमान यह देहधारी आत्मा नित्य अवध्य है, इसलिए भूतमात्र के विषय में तुझे शोक करना उचित नहीं है। ३०

टिप्पणी—यहां तक श्रीकृष्ण ने बुद्धि-प्रयोग से आत्मा का नित्यत्व और देह का अनित्यत्व समझाकर बतलाया कि यदि किसी स्थिति में देह का नाश करना उचित समझा जाय तो स्वजन-परिजन का भेद करके कौरव सगे हैं, इसलिए उन्हें कैसे मारा जाय, यह विचार मोहजन्य है। अब अर्जुन को बतलाते हैं कि क्षत्रिय-धर्म क्या है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

स्वधर्म को समझकर भी तुझे हिचकिचाना उचित नहीं, क्योंकि धर्मयुद्ध की अपेक्षा क्षत्रिय के लिए और कुछ अधिक श्रेयस्कर नहीं हो सकता। ३१

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

हे पार्थ ! यों अपने-आप प्राप्त हुआ और मानो स्वर्ग का द्वार ही खुल गया हो, ऐसा युद्ध तो भाग्यशाली क्षत्रियों को ही मिलता है। ३२

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

यदि तू धर्म प्राप्त युद्ध नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगा। ३३

अकीर्तिं चापि भूतानि
कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्ति-
र्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

सब लोग तेरी निंदा निरंतर किया करेंगे और सम्मानित पुरुष के लिए अपकीर्ति मरण से भी बुरी है। ३४

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

जिन महारथियों से तूने मान पाया है, वे तुझे भय के कारण रण से भागा मानेंगे और तुझे तुच्छ समझेंगे। ३५

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

और तेरे शत्रु तेरे बल की निंदा करते हुए बहुत-सी न कहने योग्य बातें कहेंगे, इससे अधिक दुखदायी और क्या हो सकता है? ३६

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

यदि तू मारा जायगा तो तुझे स्वर्ग मिलेगा। यदि तू जीतेगा तो पृथ्वी भोगेगा। अतः हे कौंतेय! लड़ने का निश्चय करके तू खड़ा हो। ३७

टिप्पणी—इस प्रकार भगवान ने आत्मा का नित्यत्व और देह का अनित्यत्व बतलाया। फिर यह भी बतलाया कि अनायास-प्राप्त युद्ध करने में क्षत्रिय को धर्म की बाधा नहीं होती। इस प्रकार ३१वें श्लोक से भगवान् ने परमार्थ के साथ उपयोग का मेल मिलाया है। इतना कहकर फिर भगवान् गीता के प्रधान

उपदेश का दिग्दर्शन एक श्लोक में कराते हैं।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

सुख और दुःख, लाभ और हानि, जय और पराजय को समान समझकर युद्ध के लिए तैयार हो। ऐसा करने से तुझे पाप नहीं लगेगा। ३८

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

मैंने तुझे सांख्यसिद्धांत (तर्कवाद) के अनुसार तेरा यह कर्त्तव्य बतलाया।

अब योगवाद के अनुसार समझाता हूं सो सुन। इसका आश्रय लेने से तू कर्म-बंधन को तोड़ सकेगा। ३९

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

इसमें आरंभ का नाश नहीं होता, उलटा नतीजा नहीं निकलता। इस धर्म का थोड़ा-सा पालन भी महाभय से बचा लेता है। ४०

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

हे कुरुनंदन! योगवादी की निश्चयात्मक बुद्धि एकरूप होती है, परंतु अनिश्चयवालों की बुद्धियां अनेक शाखाओंवाली और अनंत होती हैं। ४१

टिप्पणी—जब बुद्धि एक से मिटकर अनेक (बुद्धियां) होती है, तब वह बुद्धि न रहकर वासना का रूप धारण करती है। इसलिए बुद्धियों से तात्पर्य है वासनाएं।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

अज्ञानी, वेदवादी, 'इसके सिवा और कुछ नहीं है' यह कहनेवाले, कामनावाले, स्वर्ग को श्रेष्ठ माननेवाले, जन्म-मरण-रूपी कर्म के फल देनेवाली, भोग और ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए किये जानेवाले कर्मों के वर्णन से भरी हुई बातें बढ़ा-बढ़ाकर कहते हैं। भोग और ऐश्वर्य में आसक्त रहनेवाले इन लोगों की बुद्धि मारी जाती है, इनकी बुद्धि न तो निश्चयवाली होती है और न वह समाधि में ही स्थिर हो सकती है। ४२-४३-४४

टिप्पणी—योगवाद के विरुद्ध कर्मकांड अथवा वेदवाद का वर्णन उपर्युक्त तीन श्लोकों में आया है। कर्मकांड या वेदवाद का मतलब फल उपजाने के लिए मंथन करनेवाली अगणित क्रियाएं। क्रियाएं वेद के रहस्य से, वेदांत से अलग और अल्प फलवाली होने के कारण निरर्थक हैं।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

हे अर्जुन ! जो तीन गुण वेद के विषय हैं, उनसे तू अलिप्त रह। सुख-दुःखादि द्वंद्वों से मुक्त हो। नित्य सत्य वस्तु में स्थिर रह। किसी वस्तु को पाने और संभालने के झंझट से मुक्त रह। आत्मपरायण हो। ४५

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

जैसे जो काम कुएं से निकलते हैं, वे सब, सब प्रकार से सरोवर से निकलते हैं, वैसे जो सब वेदों में है वह ज्ञानवान् ब्रह्मपरायण को आत्मानुभवों में से मिल रहता है। ४६

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

कर्म में ही तुझे अधिकार है, उससे उत्पन्न होनेवाले अनेक फलों में कदापि नहीं। कर्म का फल तेरा हेतु न हो। कर्म न

करने का भी तुझे आग्रह न हो। ४७

योगस्थः कुरु कर्माणि संङ्गंत्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

हे धनंजय ! आसक्ति त्यागकर योगस्थ रहते हुए अर्थात् सफलता-निष्फलता में समान भाव रखकर तू कर्मकर। समता का ही नाम योग है। ४८

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

हे धनंजय ! समत्वबुद्धि की तुलना में केवल कर्म बहुत तुच्छ है। तू समत्वबुद्धि का आश्रय ले। फल को हेतु बनानेवाले मनुष्य दया के पात्र हैं। ४९

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

बुद्धियुक्त अर्थात् समतावाले पुरुष को यहां पाप-पुण्य का स्पर्श नहीं होता, इसलिए तू समत्व के लिए प्रयत्न कर। समता ही कार्यकुशलता है। ५०

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

क्योंकि समत्व बुद्धिवाले लोग कर्म से उत्पन्न होनेवाले फल का त्याग करके जन्म-बंधन से मुक्त हो जाते हैं और निष्कंलक गति—मोक्षपद—पाते हैं। ५१

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

जब तेरी बुद्धि मोहरूपी कीचड़ से पार उतर जायगी तब तुझे सुने हुए के विषय में और सुनने को जो बाकी होगा उसके विषय में उदासीनता प्राप्त होगी। ५२

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

अनेक प्रकार के सिद्धांतों को सुनने से व्यग्र हुई तेरी बुद्धि

जब समाधि में स्थिर होगी तभी तू समत्व को प्राप्त होगा। ५३

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधी: किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

हे केशव ! स्थितप्रज्ञ अथवा समाधिस्थ के क्या लक्षण होते हैं ? स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता, बैठता और चलता है ? ५४

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्ट: स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

श्रीभगवान बोले—

हे पार्थ ! जब मनुष्य मन में उठती हुई समस्त कामनाओं का त्याग करता है और आत्मा द्वारा ही आत्मा में संतुष्ट रहता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। ५५

टिप्पणी—आत्मा से ही आत्मा में संतुष्ट रहना अर्थात् आत्मा का आनंद अंदर से खोजना, सुख-दु:ख देनेवाली बाहरी चीजों पर आनंद का आधार न रखना। आनंद सुख से भिन्न वस्तु है, यह ध्यान में रखना चाहिए। मुझे धन मिलने पर मैं उसमें सुख मानूं यह मोह है। मैं भिखारी होऊं, भूख का दु:ख होने पर भी चोरी या दूसरे प्रलोभनों में न पड़ने में जो बात मौजूद है वह आनंद देती है और वही आत्मसंतोष है।

दु:खेष्वनुद्विग्नमना: सुखेषु विगतस्पृह:।
वीतरागभयक्रोध: स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

दु:ख से जो दुखी न हो, सुख की इच्छा न रखे और जो राग, भय और क्रोध से रहित हो वह स्थिरबुद्धि मुनि कहलाता है। ५६

य: सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

सर्वत्र रागरहित होकर जो पुरुष शुभ या अशुभ की प्राप्ति में न हर्षित होता है, न शोक करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है। ५७

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

कछुआ जैसे सब ओर से अंग समेट लेता है वैसे जब यह पुरुष इंद्रियों को उनके विषय में से समेट लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर हुई कही जाती है । ५८

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

देहधारी निराहारी रहता है तब उसके विषय मंद पड़ जाते हैं । परंतु रस नहीं जाता । वह रस तो ईश्वर का साक्षात्कार होने से निवृत्त होता है । ५९

टिप्पणी—यह श्लोक उपवास आदि का निषेध नहीं करता, वरन् उसकी सीमा सूचित करता है । विषयों को शांत करने के लिए उपवास आदि आवश्यक हैं, परंतु उनकी जड़ अर्थात् उनमें रहनेवाला रस तो ईश्वर की झांकी होने पर ही निवृत्त होता है । ईश्वर-साक्षात्कार का जिसे रस लग जाता है वह दूसरे रसों को भूल ही जाता है ।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

हे कौंतेय ! चतुर पुरुष के उद्योग करते रहने पर भी इंद्रियां ऐसी प्रमथनशील हैं कि उसके मन को भी बलात्कार से हर लेती हैं । ६०

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

इन सब इंद्रियों को वश में रखकर योगी को मुझमें तन्मय हो रहना चाहिए, क्योंकि अपनी इंद्रियां जिसके वश में हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है । ६१

टिप्पणी—तात्पर्य, भक्ति के बिना—ईश्वर की सहायता के बिना—मनुष्य का प्रयत्न मिथ्या है ।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।६२।।

विषयों का चिंतन करनेवाले पुरुष को उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्ति में से कामना होती है और कामना में से क्रोध उत्पन्न होता है। ६२

टिप्पणी—कामनावाले के लिए क्रोध अनिवार्य है, क्योंकि काम कभी तृप्त होता ही नहीं।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।६३।।

क्रोध में से मूढ़ता उत्पन्न होती है, मूढ़ता से स्मृति भ्रांत हो जाती है, स्मृति भ्रांत होने से ज्ञान का नाश हो जाता है और जिसका ज्ञान नष्ट हो गया वह मृतक-तुल्य है। ६३

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।।६४।।

परंतु जिसका मन अपने अधिकार में है और जिसकी इंद्रियां रागद्वेषरहित होकर उसके वश में रहती हैं, वह मनुष्य इंद्रियों का व्यापार चलाते हुए भी चित्त की प्रसन्नता प्राप्त करता है। ६४

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।६५।।

चित्त की प्रसन्नता से उसके सब दुःख दूर हो जाते हैं और प्रसन्नता प्राप्त हो जानेवाले की बुद्धि तुरंत ही स्थिर हो जाती है। ६५

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।।६६।।

जिसे समत्व नहीं, उसे विवेक नहीं, उसे भक्ति नहीं और जिसे भक्ति नहीं उसे शांति नहीं है। और जहां शांति नहीं, वहां सुख कहां से हो सकता है? ६६

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

विषयों में भटकनेवाली इंद्रियों के पीछे जिसका मन दौड़ता है, उसका मन वायु जैसे नौका को जल से खींच ले जाता है वैसे ही उसकी बुद्धि को जहां चाहे खींच ले जाता है। ६७

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

इसलिए, हे महाबाहो ! जिसकी इंद्रियां चारों ओर के विषयों में से निकलकर उसके वश में आ जाती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। ६८

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

जब सब प्राणी सोते रहते हैं तब संयमी जागता रहता है। जब लोग जागते रहते हैं तब ज्ञानवान मुनि सोता रहता है। ६९

टिप्पणी—भोगी मनुष्य रात के बारह-एक बजे तक नाच, रंग, खानपान आदि में अपना समय बिताते हैं और फिर सबेरे-सात-आठ बजे तक सोते हैं। संयमी रात के सात-आठ बजे सोकर मध्यरात्रि में उठकर ईश्वर का ध्यान करते हैं। इसके सिवा भोगी संसार का प्रपंच बढ़ाता है, और ईश्वर को भूलता है, उधर संयमी सांसारिक प्रपंचों से बेखबर रहता है और ईश्वर का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार दोनों का पंथ न्यारा है। यह इस श्लोक में भगवान ने बतलाया है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

नदियों के प्रवेश से भरता रहने पर भी जैसे समुद्र अचल रहता है, वैसे ही जिस मनुष्य में संसार के भोग शांत हो जाते हैं वही शांति प्राप्त करता है, न कि कामनावाला मनुष्य। ७०

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

सब कामनाओं का त्याग करके जो पुरुष इच्छा, ममता और अहंकाररहित होकर विचरता है, वही शांति पाता है। ७१

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

हे पार्थ! ईश्वर को पहचाननेवाले की स्थिति ऐसी होती है। उसे पाने पर फिर वह मोह के वश नहीं होता और यदि मृत्युकाल में भी ऐसी ही स्थिति टिके तो वह ब्रह्मनिर्वाण पाता है। ७२

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का 'सांख्य-योग' नामक दूसरा अध्याय।

: ३ :

कर्मयोग

यह अध्याय गीता का स्वरूप जानने की कुंजी कहा जा सकता है। इसमें कर्म कैसे करना, कौन कर्म करना और सच्चा कर्म किसे कहना चाहिए, यह साफ किया गया है और बतलाया है कि सच्चा ज्ञान पारमार्थिक कर्मों में परिणत होना ही चाहिए।

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

अर्जुन बोले—

हे जनार्दन! यदि आप कर्म की अपेक्षा बुद्धि को अधिक

श्रेष्ठ मानते हैं तो, हे केशव ! आप मुझे घोर कर्म में क्यों लगाते हैं ? १

टिप्पणी—बुद्धि अर्थात् समत्वबुद्धि ।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

अपने मिले-जुले वचनों से मेरी बुद्धि को आप शंकाग्रस्त-सी कर रहे हैं। अतः आप मुझे एक ही बात निश्चयपूर्वक कहिए कि जिससे मेरा कल्याण हो। २

टिप्पणी—अर्जुन उलझन में पड़ जाता है; क्योंकि एक ओर से भगवान उसे शिथिल हो जाने का उलाहना देते हैं और दूसरी ओर से दूसरे अध्याय के ४९वें, ५०वें श्लोकों में कर्मत्याग का आभास मिलता है। गंभीरता से विचारने पर ऐसा नहीं है, यह भगवान आगे बतलायंगे।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

श्रीभगवान बोले—

हे पापरहित ! इस लोक में मैंने पहले दो अवस्थाएं बतलाई हैं—एक तो ज्ञानयोग द्वारा सांख्यों की, दूसरी कर्मयोग द्वारा योगियों की। ३

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

कर्म का आरंभ न करने से मनुष्य निष्कर्मता का अनुभव नहीं करता है और न कर्म के केवल बाहरी त्याग से मोक्ष पाता है। ४

टिप्पणी—निष्कर्मता अर्थात् मन से, वाणी से और शरीर से कर्म न करने का भाव। ऐसी निष्कर्मता का अनुभव कर्म न करने से कोई नहीं कर सकता। तब इसका अनुभव कैसे हो सो अब देखना है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।५।।

वास्तव में कोई एक क्षण भर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता । प्रकृति से उत्पन्न हुए गुण परवश पड़े प्रत्येक मनुष्य से कर्म कराते हैं । ५

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।।६।।

जो मनुष्य कर्म करनेवाली इंद्रियों को रोकता है, परंतु उन-उन इंद्रियों के विषयों का चिंतन मन से करता है, वह मूढ़ात्मा मिथ्याचारी कहलाता है । ६

टिप्पणी—जैसे, जो वाणी को तो रोकता है; पर मन में किसीको गाली देता है, वह निष्कर्म नहीं है; बल्कि मिथ्याचारी है । इसका यह तात्पर्य नहीं है कि जब तक मन न रोका जा सके तब तक शरीर को रोकना निरर्थक है । शरीर को रोके बिना मन पर अंकुश आता ही नहीं । परंतु शरीर के अंकुश के साथ-साथ मन पर अंकुश रखने का प्रयत्न होना ही चाहिए । जो लोग भय या ऐसे बाहरी कारणों से शरीर को रोकते हैं, परंतु मन को नहीं रोकते, इतना ही नहीं, बल्कि मन से तो विषय भोगते हैं, और मौका पाने पर शरीर से भी भोगने में नहीं चूकते, ऐसे मिथ्याचारी की यहां निंदा है । इसके आगे का श्लोक इससे उलटा भाव दरसाता है ।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।।७।।

परंतु, हे अर्जुन ! जो इंद्रियों को मन के द्वारा नियम में रखते हुए संगरहित होकर कर्म करनेवाली इंद्रियों द्वारा कर्मयोग का आरम्भ करता है वह श्रेष्ठ पुरुष है । ७

टिप्पणी—इसमें बाहर और भीतर का मेल साधा गया है । मन को अंकुश में रखते हुए भी मनुष्य शरीर द्वारा अर्थात् कर्मेन्द्रियों द्वारा कुछ-न-कुछ तो करेगा ही; परंतु जिसका मन

अंकुश में है उसके कान दूषित बातें नहीं सुनेंगे, वरन् ईश्वर-भजन सुनेंगे, सत्पुरुषों की वाणी सुनेंगे। जिसका मन अपने वश में है वह जिसे हम लोग विषय मानते हैं, उसमें रस नहीं लेता। ऐसा मनुष्य आत्मा को शोभा देनेवाले ही कर्म करेगा। ऐसे कर्मों का करना कर्म-मार्ग है। जिसके द्वारा आत्मा का शरीर के बंधन से छूटने का योग सधे उसका नाम कर्मयोग है। इसमें विषयासक्ति को स्थान हो ही नहीं सकता।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

इसलिए तू नियत कर्म कर। कर्म न करने से कर्म करना अधिक अच्छा है। तेरे शरीर का व्यापार भी कर्म बिना नहीं चल सकता। ८

टिप्पणी—'नियत' शब्द मूल श्लोक में है। उसका संबंध पिछले श्लोक से है। उसमें मन द्वारा इंद्रियों को नियम में रखते हुए संगरहित होकर कर्म करनेवाले की स्तुति है। अतः यहां नियत कर्म का अर्थात् इंद्रियों को नियम में रखकर किये जानेवाले कर्म का अनुरोध किया गया है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

यज्ञार्थ किये जानेवाले कर्म के अतिरिक्त कर्म से इस लोक में बंधन पैदा होता है। इसलिए, हे कौंतेय ! तू रागरहित होकर यज्ञार्थ कर्म कर। ९

टिप्पणी—यज्ञ अर्थात् परोपकारार्थ, ईश्वरार्थ किये हुए कर्म।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

यज्ञ के सहित प्रजा को उत्पन्न करके प्रजापति ब्रह्मा ने कहा, "यज्ञद्वारा तुम्हारी वृद्धि हो। यह तुम्हें इच्छित फल दे। १०

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

"तुम यज्ञद्वारा देवताओं का पोषण करो और देवता तुम्हारा पोषण करें और एक-दूसरे का पोषण करके तुम परम कल्याण को पाओ। ११

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

"यज्ञ द्वारा संतुष्ट हुए देवता तुम्हें इच्छित भोग देंगे। उनका बदला दिये बिना, उनका दिया हुआ जो भोगेगा वह अवश्य चोर है।" १२

टिप्पणी—यहां देव का अर्थ है भूतमात्र, ईश्वर की सृष्टि। भूतमात्र की सेवा देव-सेवा है और वह यज्ञ है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

जो यज्ञ से उबरा हुआ खानेवाले हैं, वे सब पापों से छूट जाते हैं। जो अपने लिए ही पकाते हैं, वे पाप खाते हैं। १३

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

अन्न में से भूतमात्र उत्पन्न होते हैं। अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा यज्ञ से होती है और यज्ञ कर्म से होता है। १४

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

तू जान ले कि कर्म प्रकृति से उत्पन्न होता है, प्रकृति अक्षर-ब्रह्म से उत्पन्न होती है और इसलिए सर्वव्यापक ब्रह्म सदा यज्ञ में विद्यमान है। १५

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

इस प्रकार प्रवर्तित चक्र का जो अनुसरण नहीं करता, वह मनुष्य अपना जीवन पापी बनाता है, इंद्रिय सुखों में फंसा रहता

है और हे पार्थ ! वह व्यर्थ जीता है। १६

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

पर जो मनुष्य आत्मा में रमण करनेवाला है, जो उसीसे तृप्त रहता है और उसीमें संतोष मानता है, उसे कुछ करने को नहीं रहता। १७

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

करने, न करने में उसका कुछ भी स्वार्थ नहीं है। भूतमात्र में उसे कोई निजी स्वार्थ नहीं है। १८

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

इसलिए तू तो संगरहित रहकर निरंतर कर्तव्य कर्म कर। असंग रहकर ही कर्म करनेवाला पुरुष मोक्ष पाता है। १९

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

जनकादिक ने कर्म से ही परमसिद्धि प्राप्त की। लोकसंग्रह की दृष्टि से भी तुझे कर्म करना उचित है। २०

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरा जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

जो-जो आचरण उत्तम पुरुष करते हैं, उसका अनुकरण दूसरे लोग करते हैं। वे जिसे प्रमाण बनाते हैं, उसका लोग अनुसरण करते हैं। २१

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

हे पार्थ ! मुझे तीनों लोकों में कुछ भी करने को नहीं है। पाने योग्य कोई वस्तु न पाई हो ऐसा नहीं है, तो भी मैं कर्म में लगा रहता हूं। २२

टिप्पणी—सूर्य, चंद्र, पृथ्वी इत्यादि की अविराम और अचूक

गति ईश्वर के कर्म सूचित करती है। ये कर्म मानसिक नहीं, किंतु शारीरिक गिने जायंगे। ईश्वर निराकार होते हुए भी शारीरिक कर्म करता है, यह कैसे कहा जा सकता है, इस शंका की गुंजाइश नहीं है, क्योंकि वह अशारीरिक होने पर भी शरीरों की तरह आचरण करता हुआ दिखाई देता है। इसलिए वह कर्म करते हुए भी अकर्मी है और अलिप्त है। मनुष्य को समझना तो यह है कि जैसे ईश्वर की प्रत्येक कृति यंत्रवत् काम करती है वैसे मनुष्य को भी बुद्धिपूर्वक किंतु यंत्र की भांति ही नियमित काम करना उचित है। मनुष्य की विशेषता यंत्रगति का अनादर करके स्वेच्छाचारी हो जाने में नहीं है, बल्कि ज्ञानपूर्वक उस गति का अनुकरण करने में है। अलिप्त रहकर, असंग रहकर, यंत्र की तरह कार्य करने से उसे घिस्सा नहीं लगता। वह मरने तक ताजा रहता है। देह अपने नियम के अनुसार समय पर नष्ट होती है, परंतु उसमें रहनेवाला आत्मा—जैसा था वैसा ही बना रहता है।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

यदि मैं कभी अंगड़ाई लेने के लिए भी रुके बिना कर्म में लगा न रहूं तो, हे पार्थ! लोग सब तरह से मेरे बर्ताव का अनुसरण करेंगे। २३

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

यदि मैं कर्म न करूं तो ये लोक भ्रष्ट हो जायं; मैं अव्यवस्था का कर्ता बनूं और इन लोगों का नाश करूं। २४

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

हे भारत! जैसे अज्ञानी लोग आसक्त होकर कर्म करते हैं, वैसे ज्ञानी को आसक्तिरहित होकर लोककल्याण की इच्छा से कर्म करना चाहिए। २५

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

कर्म में आसक्त अज्ञानी मनुष्यों की बुद्धि को ज्ञानी डांवा-डोल न करे, परंतु समत्वपूर्वक अच्छे प्रकार से कर्म करके उन्हें सब कर्मों में लगावे । २६

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

सब कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुए होते हैं । अहंकार से मूढ़ बना हुआ मनुष्य 'मैं कर्ता हूं' यह मानता है । २७

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

हे महाबाहो ! गुण और कर्म के विभाग का रहस्य जानने-वाला पुरुष 'गुण गुणों में बर्त रहे हैं' यह मानकर उनमें आसक्त नहीं होता । २८

टिप्पणी—जैसे श्वासोच्छ्वास आदि क्रियाएं अपने-आप होती हैं, उनमें मनुष्य आसक्त नहीं होता और जब उन अंगों को व्याधि होती है तभी मनुष्यों को उनकी चिंता करनी पड़ती है या उसे उन अंगों के अस्तित्व का भान होता है, वैसे ही स्वाभाविक कर्म अपने-आप होते हों तो उनमें आसक्ति नहीं होती । जिसका स्वभाव उदार है वह स्वयं अपनी उदारता को जानता तक नहीं, पर उससे दान किये बिना रहा ही नहीं जाता । ऐसी अनासक्ति और अभ्यास ईश्वर कृपा से ही प्राप्त होती है ।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

प्रकृति के गुणों से मोहे हुए मनुष्य गुणों के कर्मों में आसक्त रहते हैं । ज्ञानियों को चाहिए कि वे इन अज्ञानी मंद-बुद्धि लोगों को अस्थिर न कर सकें । २९

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

अध्यात्म-वृत्ति रखकर, सब कर्म मुझे अर्पण करके, आसक्ति और ममत्व को छोड़, रागरहित होकर तू युद्ध कर। ३०

टिप्पणी—जो देह में विद्यमान आत्मा को पहचानता और उसे परमात्मा का अंश जानता है वह सब परमात्मा को ही अर्पण करेगा, वैसे ही, जैसे कि नौकर मालिक के नाम पर काम करता है और सब कुछ उसी को अर्पण करता है।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

श्रद्धा रखकर, द्वेष छोड़कर जो मनुष्य मेरे इस मत के अनुसार चलते हैं, वे भी कर्मबंधन से छूट जाते हैं। ३१

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

परंतु जो मेरे इस अभिप्राय में दोष निकालकर उसका अनुसरण नहीं करते, वे ज्ञानहीन मूर्ख हैं। उनका नाश हुआ समझ। ३२

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

ज्ञानी भी अपने स्वभाव के अनुसार बरतते हैं, प्राणीमात्र अपने स्वभाव का अनुसरण करते हैं, वहां बलात्कार क्या कर सकता है। ३३

टिप्पणी—यह श्लोक दूसरे अध्याय के ६१वें या ६८वें श्लोक का विरोधी नहीं है। इंद्रियों का निग्रह करते-करते मनुष्य को मर मिटना है, लेकिन फिर भी सफलता न मिले तो निग्रह अर्थात् बलात्कार निरर्थक है। इसमें निग्रह की निंदा नहीं की गई है, स्वभाव का साम्राज्य दिखाया गया है। 'यह तो मेरा स्वभाव है', यह कहकर कोई खोटाई करने लगे तो वह इस श्लोक का अर्थ नहीं समझता। स्वभाव का हमें पता नहीं चलता। जितनी आदतें हैं सब स्वभाव नहीं हैं। आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्व-गमन है। अतः आत्मा जब नीचे की ओर जाय तब उसका प्रतिकार

करना कर्त्तव्य है। इसीसे नीचे का श्लोक स्पष्ट करता है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

अपने-अपने विषयों के संबंध में इंद्रियों को रागद्वेष रहता ही है। मनुष्य को उनके वश न होना चाहिए, क्योंकि वे मनुष्य के मार्ग के बाधक हैं। ३४

टिप्पणी—कान का विषय है सुनना। जो भावे वह सुनने की इच्छा राग है। जो न भावे वह सुनने की अनिच्छा द्वेष है। 'यह तो स्वभाव है' कहकर रागद्वेष के वश ही नहीं होना चाहिए, उनका मुकाबला करना चाहिए। आत्मा का स्वभाव सुख-दुःख से अछूते रहना है। उस स्वभाव तक मनुष्य को पहुंचना है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

पराये धर्म के सुलभ होने पर भी उससे अपना धर्म विगुण हो तो भी अधिक अच्छा है। स्वधर्म में मृत्यु भली है। परधर्म भयावह है। ३५

टिप्पणी—समाज में एक का धर्म झाड़ू देने का होता है और दूसरे का धर्म हिसाब रखने का होता है। हिसाब रखनेवाला भले ही श्रेष्ठ गिना जाय, परंतु झाड़ू देनेवाला अपना धर्म त्याग दे तो वह भ्रष्ट हो जायगा और समाज को हानि पहुंचेगी। ईश्वर के दरबार में दोनों की सेवा का मूल्य उनकी निष्ठा के अनुसार कूता जायगा। पेशे की कीमत वहां तो एक ही होती है। दोनों ईश्वरार्पण बुद्धि से अपना कर्त्तव्य-पालन करें तो समान-रूप से मोक्ष के अधिकारी बनते हैं।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

अर्जुन बोले—

फिर यह पुरुष बलात्कारपूर्वक प्रेरित हुए की भांति, न

चाहता हुआ भी, किस की प्रेरणा से पाप करता है ? ३६

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

श्रीभगवान बोले--

रजोगुण से उत्पन्न होनेवाला यह (प्रेरक) काम है, क्रोध है, इसका पेट ही नहीं भरता। यह महापापी है। इसे इस लोक में शत्रुरूप समझो। ३७

टिप्पणी—हमारा वास्तविक शत्रु अंतर मे रहनेवाला काम कहिए या क्रोध कहिए वही है।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

जैसे धुएं से आग या मैल से दर्पण अथवा झिल्ली से गर्भ ढका रहता है, वैसे कामादिरूप शत्रु से यह ज्ञान ढका रहता है। ३८

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

हे कौंतेय ! तृप्त न किया जा सकनेवाला यह कामरूप अग्नि नित्य का शत्रु है, उससे ज्ञानी का ज्ञान ढका हुआ है। ३९

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इंद्रियां, मन और बुद्धि, इस शत्रु के निवास-स्थान हैं। इनके द्वारा ज्ञान को ढककर यह शत्रु देहधारी को बेसुध कर देता है। ४०

टिप्पणी—इंद्रियों में काम व्याप्त होने पर मन मलिन होता है, उससे विवेकशक्ति मंद पड़ती है, उससे ज्ञान का नाश होता है, (देखो अध्याय २, श्लोक ६२-६४)

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

हे भरतर्षभ ! इसलिए तू पहले तो इंद्रियों को नियम में रखकर ज्ञान और अनुभव का नाश करनेवाले इस पापी का त्याग अवश्य कर। ४१

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

इंद्रियां सूक्ष्म हैं, उनसे अधिक सूक्ष्म मन है, उससे अधिक सूक्ष्म बुद्धि है। जो बुद्धि से भी अत्यंत सूक्ष्म है वह आत्मा है। ४२

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि यदि इंद्रियां वश में रहें तो सूक्ष्म काम को जीतना सहज हो जाय।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इस प्रकार बुद्धि से परे आत्मा को पहचानकर और आत्मा द्वारा मन को वश में करके, हे महाबाहो ! कामरूप दुर्जय शत्रु का संहार कर। ४३

टिप्पणी—यदि मनुष्य शरीरस्थ आत्मा को जान ले तो मन उसके वश में रहेगा, इंद्रियों के वश में नहीं रहेगा। और मन जीता जाय तो काम क्या कर सकता है ?

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात ब्रह्म-विद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्री कृष्णार्जुनसंवाद का 'कर्मयोग' नामक तीसरा अध्याय।

: ४ :

ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

इस अध्याय में तीसरे का विशेष विवेचन है और भिन्न-भिन्न प्रकार के कई यज्ञों का वर्णन है।

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।१।।

श्रीभगवान बोले—

यह अविनाशी योग मैंने विवस्वान (सूर्य) से कहा। उन्होंने मनु से और मनु ने इक्ष्वाकु से कहा। १

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ।।२।।

इस प्रकार परंपरा से प्राप्त, राजर्षियों का जाना हुआ वह योग दीर्घकाल के बल से नष्ट हो गया। २

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।।३।।

वही पुरातन योग मैंने आज तुझसे कहा है। कारण, तू मेरा भक्त है और यह योग उत्तम मर्म की बात है। ३

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ।।४।।

अर्जुन बोले—

आपका जन्म तो अभी हुआ है, विवस्वान का पहले हो चुका है। तब मैं कैसे जानूं कि आपने वह (योग) पहले कहा था ? ४

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ।।५।।

श्री भगवान बोले—

हे अर्जुन ! मेरे और तेरे जन्म तो बहुत हो चुके हैं। उन सबको मैं जानता हूं, तू नहीं जानता। ५

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा
भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय
संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

मैं अजन्मा, अविनाशी और इसके सिवा भूतमात्र का ईश्वर हूं; तथापि अपने स्वभाव को लेकर अपनी माया के बल से जन्म ग्रहण करता हूं। ६

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

हे भारत! जब-जब धर्म मंद पड़ता है, अधर्म जोर करता है, तब-तब मैं जन्म धारण करता हूं। ७

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

साधुओं की रक्षा, दुष्टों के विनाश तथा धर्म का पुनरुद्धार करने के लिए युग-युग में मैं जन्म लेता हूं। ८

टिप्पणी—यहां श्रद्धालु को आश्वासन है और सत्य की—धर्म की—अविचलता की प्रतिज्ञा है। इस संसार में उतार-चढ़ाव हुआ ही करता है, परंतु अंत में धर्म की ही जय होती है। संतों का नाश नहीं होता, क्योंकि सत्य का नाश नहीं होता। दुष्टों का नाश ही है, क्योंकि असत्य का अस्तित्व नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि इसका खयाल रखकर अपने कर्तापन के अभिमान के कारण हिंसा न करे, दुराचार न करे। ईश्वर की गहन माया अपना काम करती ही रहती है। यही अवतार या ईश्वर का जन्म है। वस्तुतः तो ईश्वर का जन्म होता ही नहीं।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

हे अर्जुन! इस प्रकार जो मेरे दिव्य जन्म और कर्म का रहस्य जानता है वह शरीर का त्याग करके पुनर्जन्म नहीं पाता, बल्कि मुझे पाता है। ९

टिप्पणी—क्योंकि जब मनुष्य का दृढ़ विश्वास हो जाता है कि ईश्वर सत्य की ही जय कराता है तब वह सत्य को नहीं

छोड़ता, धीरज रखता है, दुःख सहन करता है और ममतारहित रहने के कारण जन्म-मरण के चक्कर से छूटकर ईश्वर का ही ध्यान धरते हुए उसी में लय हो जाता है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

राग, भय और क्रोध से रहित हुए मेरा ही ध्यान धरते हुए, मेरा ही आश्रय लेनेवाले ज्ञानरूपी तप से पवित्र हुए बहुतों ने मेरे स्वरूप को पाया है। १०

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

जो जिस प्रकार मेरा आश्रय लेते हैं, उस प्रकार मैं उन्हें फल देता हूं। चाहे जिस तरह भी हो, हे पार्थ ! मनुष्य मेरे मार्ग का अनुसरण करते हैं—मेरे शासन में रहते हैं। ११

टिप्पणी—तात्पर्य, कोई ईश्वरी नियम का उल्लंघन नहीं कर सकता। जैसा बोता है, वैसा काटता है; जैसा करता है, वैसा भरता है। ईश्वरी कानून में—कर्म के नियम में अपवाद नहीं है। सबको समान अर्थात् अपनी योग्यता के अनुसार न्याय मिलता है।

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

कर्म की सिद्धि चाहनेवाले इस लोक में देवताओं को पूजते हैं। इससे उन्हें कर्मजनित फल तुरंत मनुष्य-लोक में ही मिल जाता है। १२

टिप्पणी—देवता से मतलब स्वर्ग में रहनेवाले इंद्र-वरुणादि व्यक्तियों से नहीं है। देवता का अर्थ है ईश्वर की अंशरूपी शक्ति। इस अर्थ में मनुष्य भी देवता है। भाप, बिजली आदि महान् शक्तियां देवता हैं। उनकी आराधना करने का फल तुरंत और इस लोक में मिलता हुआ हम देखते हैं। वह फल क्षणिक

होता है। वह आत्मा को ही संतोष नहीं देता तो मोक्ष तो दे ही कहां से सकता है ?

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

गुण और कर्म के विभागानुसार चार वर्ण मैंने उत्पन्न किये हैं, उनका कर्त्ता होने पर भी मुझे तू अविनाशी-अकर्ता जानना। १३

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

मुझे कर्म स्पर्श नहीं करते हैं। मुझे इनके फल की लालसा नहीं है। इस प्रकार जो मुझे अच्छी तरह जानते हैं, वे कर्म के बन्धन में नहीं पड़ते। १४

टिप्पणी—क्योंकि मनुष्य के सामने, कर्म करते हुए अकर्मी रहने का सर्वोत्तम दृष्टांत है। और सबका कर्त्ता ईश्वर ही है, हम निमित्तमात्र ही हैं, तो फिर कर्तापन का अभिमान कैसे हो सकता है ?

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

ऐसे जानकर पूर्वकाल में मुमुक्षु व्यक्तियों ने कर्म किये हैं। इससे तू भी पूर्वज जैसे सदा से करते आये हैं वैसे कर। १५

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

कर्म क्या है, अकर्म क्या है, इस विषय में समझदारों को भी मोह हुआ है। उस कर्म के विषय में मैं तुझे यथार्थ रूप से बतलाऊंगा उसे जानकर तू अशुभ से बचेगा। १६

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

कर्म, निषिद्धकर्म और अकर्म का भेद जानना चाहिए। कर्म की गति गूढ़ है। १७

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

कर्म में जो अकर्म देखता है और अकर्म में जो कर्म देखता है, वह लोगों में बुद्धिमान गिना जाता है। वह योगी है और वह संपूर्ण कर्म करनेवाला है। १८

टिप्पणी—कर्म करते हुए भी जो कर्तापन का अभिमान नहीं रखता, उसका कर्म अकर्म है और जो कर्म का बाहर से त्याग करते हुए भी मन के महल बनाता ही रहता है, उसका अकर्म कर्म है। जिसे लकवा हो गया है वह जब इरादा करके—अभिमानपूर्वक—बेकार हुए अंग को हिलाता है, तब हिलता है। वह बीमार अंग को हिलाने रूपी क्रिया का कर्त्ता बना। आत्मा का गुण अकर्ता का है। मोहग्रस्त होकर अपने को कर्ता माननेवाले आत्मा को मानो लकवा हो गया है और वह अभिमानी होकर कर्म करता है। इस भांति जो कर्म की गति को जानता है, वही बुद्धिमान योगी कर्त्तव्यपरायण गिना जाता है। 'मैं करता हूं' यह माननेवाला कर्म-विकर्म का भेद भूल जाता है और साधन के भले-बुरे का विचार नहीं करता। आत्मा की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व है, इसलिए जब मनुष्य नीति-मार्ग से हटता है तब यह कहा जाना चाहिए कि उसमें अहंकार अवश्य है। अभिमानरहित पुरुष के कर्म स्वभाव से ही सात्त्विक होते हैं।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

जिसके समस्त आरंभ कामना और संकल्परहित हैं, उसके कर्म ज्ञानरूपी अग्नि द्वारा भस्म हो गये हैं, ऐसे को ज्ञानी लोग पंडित कहते हैं। १९

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥

जिसने कर्म फल का त्याग किया है, जो सदा संतुष्ट रहता है, जिसे किसी आश्रय की लालसा नहीं है, वह कर्म में अच्छी

तरह लगे रहने पर भी, कहा जा सकता है कि वह कुछ भी नहीं करता। २०

टिप्पणी—अर्थात् उसे कर्म का बंधन भोगना नहीं पड़ता।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

जो आशारहित है, जिसका मन अपने वश में है, जिसने सारा संग्रह छोड़ दिया है और जिसका शरीर भर ही कर्म करता है, वह करते हुए भी दोषी नहीं होता। २१

टिप्पणी—अभिमानपूर्वक किया हुआ कुल कर्म चाहे जैसा सात्त्विक होने पर भी बंधन करने वाला है। वह जब ईश्वरार्पण बुद्धि से, बिना अभिमान के, होता है तब बंधनरहित बनता है। जिसका 'मैं' शून्यता को प्राप्त हो गया है, उसका शरीर भर ही कर्म करता है। सोते हुए मनुष्य का शरीर भर ही कर्म करता है, यह कहा जा सकता है। जो कैदी विवश होकर अनिच्छा से हल चलाता है, उसका शरीर ही काम करता है। जो अपनी इच्छा से ईश्वर का कैदी बना है, उसका भी शरीरभर ही काम करता है। खुद तो शून्य बन गया है, प्रेरक ईश्वर है।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

जो यथालाभ से संतुष्ट रहता है, जो सुख-दुःखादि द्वंद्वों से मुक्त हो गया है, जो द्वेषरहित हो गया है, जो सफलता, निष्फलता में तटस्थ है, वह कर्म करते हुए भी बंधन में नहीं पड़ता है। २२

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

जो आसक्तिरहित है, जिसका चित्त ज्ञानमय है, जो मुक्त है और जो यज्ञार्थ ही कर्म करनेवाला है, उसके सारे कर्म लय हो जाते हैं। २३

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।।२४।।

(यज्ञ में) अर्पण ब्रह्म है, हवन की वस्तु—हवि ब्रह्म है, ब्रह्मरूपी अग्नि में हवन करनेवाला भी ब्रह्म है; इस प्रकार कर्म के साथ जिसने ब्रह्म का मेल साधा है वह ब्रह्म को ही पाता है। २४

दैवमेवापरे यज्ञं योगिन: पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ।।२५।।

इसके सिवा कितने ही योगी देवताओं का पूजनरूपी यज्ञ करते हैं और कितने ही ब्रह्मरूप अग्नि में यज्ञ द्वारा यज्ञ को ही होमते हैं। २५

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ।।२६।।

और कितने ही श्रवणादि इंद्रियों का संयमरूप यज्ञ करते हैं और कुछ शब्दादि विषयों को इंद्रियाग्नि में होमते हैं। २६

टिप्पणी—सुनने की क्रिया इत्यादि का संयम करना एक बात है और इंद्रियों को उपयोग में लाते हुए उनके विषयों को प्रभुप्रीत्यर्थ काम में लाना दूसरी बात है, जैसे भजनादि सुनना। वस्तुत: तो दोनों एक हैं।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ।।२७।।

और कितने ही समस्त इंद्रिय कर्मों को और प्राणकर्मों को ज्ञानदीपक से प्रज्वलित की हुई आत्मसंयमरूपी योगाग्नि में होमते हैं। २७

टिप्पणी—अर्थात् परमात्मा में तन्मय हो जाते हैं।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतय: संशितव्रता: ।।२८।।

इस प्रकार कोई यज्ञार्थ द्रव्य देनेवाले होते हैं; कोई तप करनेवाले होते हैं। कितने ही अष्टांगयोग साधनेवाले होते हैं।

कितने ही स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञ करते हैं। ये सब कठिन व्रत-धारी प्रयत्नशील याज्ञिक हैं। २८

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

कितने ही प्राणायाम में तत्पर रहनेवाले अपान को प्राण-वायु में होमते हैं, प्राण को अपान में होमते हैं अथवा प्राण और अपान दोनों का अवरोध करते हैं। २९

टिप्पणी—ये तीन प्रकार के प्राणायाम हैं—रेचक, पूरक और कुंभक। संस्कृत में प्राणवायु का अर्थ गुजराती (और हिंदी) की अपेक्षा उलटा है। वहां प्राणवायु अंदर से बाहर निकलनेवाली वायु को कहते हैं। हम बाहर से जिसे अंदर खींचते हैं उसे प्राणवायु (आक्सीजन) कहते हैं।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

इसके सिवा दूसरे आहार का संयम करके प्राणों को प्राण में होमते हैं। यज्ञों द्वारा अपने पापों को क्षीण करनेवाले ये सब यज्ञ के जाननेवाले हैं। ३०

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

हे कुरुसत्तम ! यज्ञ से बचा हुआ अमृत खानेवाले लोग सनातन ब्रह्म को पाते हैं। यज्ञ न करनेवाले के लिए यह लोक नहीं है तो परलोक तो हो ही कहां से सकता है। ३१

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

इस प्रकार वेद में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन हुआ है। इन सबको कर्म से उत्पन्न हुआ जान। इस प्रकार सबको जान-कर तू मोक्ष पावेगा। ३२

टिप्पणी—यहां कर्म का व्यापक अर्थ है। अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आत्मिक। ऐसे कर्म के बिना यज्ञ नहीं हो सकता।

यज्ञ बिना मोक्ष नहीं होता । इस प्रकार जानना और तदनुसार आचरण करना, इसका नाम यज्ञों का जानना है । तात्पर्य यह कि मनुष्य अपने शरीर, बुद्धि और आत्मा को प्रभुप्रीत्यर्थ—लोकसेवार्थ काम में न लावे तो वह चोर ठहरता है और मोक्ष के योग्य नहीं बन सकता । केवल बुद्धि-शक्ति को ही काम में लावे और शरीर तथा आत्मा को चुरावे तो वह पूरा याज्ञिक नहीं है। इन शक्तियों को प्राप्त किए बिना उसका परोपकारार्थ उपयोग नहीं हो सकता । इसलिए आत्म-शुद्धि के बिना लोकसेवा असंभव है । सेवक को शरीर, बुद्धि और आत्मा अर्थात् नीति, तीनों का समान रूप से विकास करना कर्त्तव्य है ।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।।३३।।

हे परंतप ! द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अधिक अच्छा है, क्योंकि हे पार्थ ! कर्ममात्र ज्ञान में ही पराकाष्ठा को पहुंचते हैं।

३३

टिप्पणी—परोपकार-वृत्ति से दिया हुआ द्रव्य भी यदि ज्ञानपूर्वक न दिया गया हो तो बहुत बार हानि करता है, यह किसने अनुभव नहीं किया है ? अच्छी वृत्ति से होनेवाले सब कर्म तभी शोभा देते हैं जब उनके साथ ज्ञान का मेल हो। इसलिए कर्ममात्र की पूर्णाहुति तो ज्ञान में ही है ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।।३४।।

इसे तू तत्त्व को जाननेवाले ज्ञानियों की सेवा करके और नम्रतापूर्वक विवेकसहित बारम्बार प्रश्न करके जानना । वे तेरी जिज्ञासा तृप्त करेंगे ।

३४

टिप्पणी—ज्ञान प्राप्त करने की तीन शर्तें—प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा इस युग में खूब ध्यान में रखने योग्य हैं । प्रणिपात अर्थात् नम्रता, विवेक, परिप्रश्न अर्थात् बारम्बार पूछना, सेवारहित नम्रता खुशामद में शुमार हो सकती है । फिर, ज्ञान

खोज के बिना संभव नहीं है, इसलिए जब तक समझ में न आवे तब तक शिष्य का गुरु से नम्रतापूर्वक प्रश्न पूछते रहना जिज्ञासा की निशानी है। इसमें श्रद्धा की आवश्यकता है। जिस पर श्रद्धा नहीं होती उसकी ओर हार्दिक नम्रता नहीं होती, उसकी सेवा तो हो ही कहां से सकती है ?

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥३५॥

यह ज्ञान पाने के बाद, हे पांडव ! तुझे फिर ऐसा मोह न होगा। इस ज्ञान के द्वारा तू भूतमात्र को आत्मा में और मुझमें देखेगा। ३५

टिप्पणी—'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का यही अर्थ है। जिसे आत्मदर्शन हो गया है वह अपनी और दूसरे की आत्मा में भेद नहीं देखता।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥३६॥

तू समस्त पापियों में बड़े-से-बड़ा पापी होने पर भी ज्ञान-रूपी नौका द्वारा सब पापों को पार कर जायगा। ३६

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥३७॥

हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देता है। ३७

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥३८॥

ज्ञान के समान इस संसार में दूसरा कुछ पवित्र नहीं है। योग में—समत्व में पूर्णता प्राप्त मनुष्य समय पर अपने-आपमें उस ज्ञान को पाता है। ३८

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं
तत्परः संयतेन्द्रियः।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शांति-
मचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

श्रद्धावान ईश्वरपरायण, जितेंद्रिय पुरुष ज्ञान पाता है और ज्ञान पाकर तुरंत परम शान्ति को पाता है। ३९

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

जो अज्ञानी और श्रद्धारहित होकर संशयवान है, उसका नाश होता है। संशयवान के लिए न तो यह लोक है, न परलोक। उसे कहीं सुख नहीं है। ४०

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥

जिसने समत्वरूपी योग द्वारा कर्मों को अर्थात् कर्मफल का त्याग किया है और ज्ञान द्वारा संशय को छिन्न कर डाला है वैसे आत्मदर्शी को, हे धनंजय ! कर्म बंधनरूप नहीं होते। ४१

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

इसलिए, हे भारत ! हृदय में ज्ञान से उत्पन्न हुए संशय को आत्म-ज्ञान-रूपी तलवार से नाश करके योग—समत्व धारण करके खड़ा हो। ४२

ॐतत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीता-रूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्या-न्तर्गत योगाशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन-संवाद का 'ज्ञान कर्मसंन्यास-योग' नामक चौथा अध्याय।

: ५ :

कर्मसंन्यासयोग

इस अध्याय में बतलाया गया है कि कर्मयोग के बिना कर्म-

संन्यास हो ही नहीं सकता और वस्तुतः दोनों एक ही हैं।

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण ! कर्मों के त्याग की और फिर कर्मों के योग की आप स्तुति करते हैं। मुझे ठीक निश्चयपूर्वक कहिए कि इन दोनों में श्रेयस्कर क्या है ? १

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

श्रीभगवान बोले—

कर्मों का त्याग और योग दोनों मोक्ष देनेवाले हैं। उनमें भी कर्मसंन्यास से कर्मयोग बढ़कर है। २

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

जो मनुष्य द्वेष नहीं करता और इच्छा नहीं करता, उसे नित्य संन्यासी जानना चाहिए। जो सुख-दुःखादि द्वंद्व से मुक्त है, वह सहज में बन्धनों से छूट जाता है। ३

टिप्पणी—तात्पर्य, कर्म का त्याग संन्यास का खास लक्षण नहीं है, बल्कि द्वंद्वातीत होना ही है—एक मनुष्य कर्म करता हुआ भी संन्यासी हो सकता है। दूसरा, कर्म न करते हुए भी, मिथ्याचारी हो सकता है। (देखो अध्याय ३, श्लोक ६)

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

सांख्य और योग—ज्ञान और कर्म—ये दो भिन्न हैं, ऐसा अज्ञानी कहते हैं, पंडित नहीं कहते। एक में अच्छी तरह स्थिर रहनेवाला भी दोनों का फल पाता है। ४

टिप्पणी—ज्ञानयोगी लोक-संग्रहरूपी कर्मयोग का विशेष

फल संकल्पमात्र से प्राप्त करता है। कर्मयोगी अपनी अनासक्ति के कारण बाह्य कर्म करते हुए भी ज्ञानयोगी की शांति का अधिकारी अनायास बनता है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।५।।

जो स्थान सांख्यमार्गी पाता है वही योगी भी पाता है। जो सांख्य और योग को एकरूप देखता है वही सच्चा देखनेवाला है।

५

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ।।६।।

हे महाबाहो ! कर्मयोग के बिना कर्मत्याग कष्टसाध्य है, परंतु समभाववाला मुनि शीघ्र मोक्ष पाता है।

६

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।।७।।

जिसने योग साधा है, जिसने हृदय को विशुद्ध किया है, जिसने मन और इंद्रियों को जीता है और जो भूतमात्र को अपने-जैसा ही समझता है, ऐसा मनुष्य कर्म करते हुए भी उससे अलिप्त रहता है।

७

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ।।८।।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।।९।।

देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूंघते, खाते, चलते, सोते, सांस लेते, बोलते, छोड़ते, लेते, आंख खोलते, मूंदते केवल इंद्रियां ही अपना काम करती हैं, ऐसी भावना रखकर तत्त्वज्ञ योगी यह समझे कि 'मैं कुछ भी नहीं करता हूं।'

८-९

टिप्पणी—जबतक अभिमान है तबतक ऐसी अलिप्त स्थिति नहीं आती। अतः विषयासक्त मनुष्य यह कहकर छूट नहीं सकता कि 'विषयों को मैं नहीं भोगता, इंद्रियां अपना काम करती

हैं।' ऐसा अनर्थ करनेवाला न गीता को समझता है और न धर्म को जानता है। यह बात नीचे का श्लोक स्पष्ट करता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

जो मनुष्य कर्मों को ब्रह्मार्पण करके आसक्ति छोड़कर आचरण करता है वह पाप से उसी तरह अलिप्त रहता है जैसे पानी में रहनेवाला कमल अलिप्त रहता है। १०

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

शरीर से, मन से, बुद्धि से या केवल इंद्रियों से भी योगीजन आसक्ति-रहित होकर आत्म-शुद्धि के लिए कर्म करते हैं। ११

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

समतावान कर्मफल का त्याग करके परम शान्ति पाता है। अस्थिरचित्त कामनायुक्त होने के कारण फल में फंसकर बंधन में रहता है। १२

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

सयमी पुरुष मन से सब कर्मों का त्याग करके नवद्वारवाले नगररूपी शरीर में रहते हुए भी, कुछ न करता, न कराता हुआ सुख से रहता है। १३

टिप्पणी—दो नाक, दो कान, दो आंखें, मलत्याग के दो स्थान और मुख, शरीर के नौ मुख्य द्वार हैं। वैसे तो त्वचा के असंख्य छिद्रमात्र दरवाजे ही हैं। इन दरवाजों का चौकीदार यदि इनमें आने-जानेवाले अधिकारियों को ही आने-जाने देकर अपना धर्म पालता है तो उसके लिए कहा जा सकता है कि वह, यह आवा-जाही होते रहने पर भी, उसका हिस्सेदार नहीं बल्कि केवल साक्षी है, इससे वह न करता है, न कराता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

जगत् का प्रभु न कर्तापन को रचता है, न कर्म रचता है, न कर्म और फल का मेल साधता है। प्रकृति ही सब करती है। १४

टिप्पणी—ईश्वर कर्ता नहीं है। कर्म का नियम अटल और अनिवार्य है। और जो जैसा करता है उसको वैसा भरना ही पड़ता है। इसी में ईश्वर की महान् दया और उसका न्याय विद्यमान है। शुद्ध न्याय में शुद्ध दया है। न्याय की विरोधी दया, दया नहीं है, बल्कि क्रूरता है। पर मनुष्य त्रिकालदर्शी नहीं है। अतः उसके लिए तो दया-क्षमा ही न्याय है। वह स्वयं निरन्तर न्याय का पात्र बना हुआ क्षमा का याचक है। वह दूसरे का न्याय क्षमा से ही चुका सकता है। क्षमा के गुण का विकास करने पर ही अंत में अकर्ता—योगी—समतावान—कर्म में कुशल बनता है।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

ईश्वर किसीके पाप या पुण्य को नहीं ओढ़ता। अज्ञान द्वारा ज्ञान के ढक जाने से लोग मोह में फंसते हैं। १५

टिप्पणी—अज्ञान से, 'मैं करता हूं' इस वृत्ति से मनुष्य कर्म बन्धन बांधते हुए भी भले-बुरे फल का आरोप ईश्वर पर करता है, यह मोह-जाल है।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

परंतु जिनके अज्ञान का आत्मज्ञानद्वारा नाश हो गया है, उनका वह सूर्य के समान, प्रकाशमय ज्ञान परमतत्त्व का दर्शन कराता है। १६

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

ज्ञान द्वारा जिनके पाप धुल गए हैं, वे ईश्वर का ध्यान

धरनेवाले, तन्मय हुए, उसमें स्थिर रहनेवाले, उसीको सर्वस्व माननेवाले लोग मोक्ष पाते हैं। १७

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

विद्वान और विनयवान ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में, कुत्ते में और कुत्ते को खानेवाले मनुष्य में ज्ञानी समदृष्टि रखते हैं। १८

टिप्पणी—तात्पर्य, सबकी, उनकी आवश्यकतानुसार सेवा करते हैं। ब्राह्मण और चांडाल के प्रति समभाव रखने का अर्थ यह है कि ब्राह्मण को सांप काटने पर उसके घाव को जैसे ज्ञानी प्रेमभाव से चूसकर उसका विष दूर करने का प्रयत्न करेगा वैसा ही बर्ताव चांडाल को भी सांप काटने पर करेगा।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

जिनका मन समत्व में स्थिर हो गया है उन्होंने इस देह में रहते ही संसार को जीत लिया है। ब्रह्म, निष्कलंक और सम-भावी है, इसलिए वे ब्रह्म में ही स्थिर होते हैं। १९

टिप्पणी—मनुष्य जैसा और जिसका चिंतन करता है वैसा हो जाता है। इसलिए समत्व का चिंतन करके, दोषरहित होकर, समत्व के मूर्तिरूप निर्दोष ब्रह्म को पाता है।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

जिसकी बुद्धि स्थिर हुई है, जिसका मोह नष्ट हो गया है, जो ब्रह्म को जानता है और ब्रह्मपरायण रहता है, वह प्रिय को पाकर सुख नहीं मानता और अप्रिय को पाकर दुःख का अनुभव नहीं करता। २०

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा
विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा
सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

बाह्य विषयों में आसक्ति न रखनेवाला पुरुष अपने अंतः-करण में जो आनन्द भोगता है वह अक्षय आनन्द पूर्वोक्त ब्रह्म-परायण पुरुष अनुभव करता है। २१

टिप्पणी—अंतर्मुख होनेवाला ही ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है और वही परम आनन्द पाता है। विषयों से निवृत्त रहकर कर्म करना और ब्रह्म-समाधि में रमण करना ये दो भिन्न वस्तुएं नहीं हैं, वरन् एक ही वस्तु को देखने की दो दृष्टियां हैं—एक ही सिक्के की दो पीठें हैं।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

विषय-जनित भोग अवश्य दुःखों के कारण हैं। हे कौंतेय ! वे आदि और अन्तवाले हैं। बुद्धिमान मनुष्य उनमें नहीं फंसता। २२

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

देहांत के पहले जिस मनुष्य ने इस देह से ही काम और क्रोध के वेग को सहन करने की शक्ति प्राप्त की है उस मनुष्य ने समत्व को पाया है, वह सुखी है। २३

टिप्पणी—मरे हुए शरीर को जैसे इच्छा या द्वेष नहीं होता, सुख-दुःख नहीं होता, वैसे जो जीवित रहते भी मृतसमान, जड़ भरत की भांति देहातीत रह सकता है वह इस संसार में विजयी हुआ है और वह वास्तविक सुख को जानता है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

जिसे आंतरिक आनन्द है, जिसके हृदय में शांति है, जिसे निश्चित रूप से अंतर्ज्ञान हुआ है वह ब्रह्मरूप हुआ योगी ब्रह्म-निर्वाण पाता है। २४

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

जिनके पाप नष्ट हो गए हैं, जिनकी शंकाएं शांत हो गई हैं,

जिन्होंने मन पर अधिकार कर लिया है और जो प्राणीमात्र के हित में ही लगे रहते हैं, ऐसे ऋषि ब्रह्म निर्वाण पाते हैं। २५

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

जो अपने को पहचानते हैं, जिन्होंने काम-क्रोध को जीता है और जिन्होंने मन को वश किया है, ऐसे यतियों को सर्वत्र ब्रह्मनिर्वाण ही है। २६

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

बाह्य विषय-भोगों का बहिष्कार करके, दृष्टि को भृकुटी के बीच में स्थिर करके, नासिका द्वारा आने-जानेवाले प्राण और अपान वायु की गति को एक समान रखकर, इंद्रिय, मन और बुद्धि को वश में करके तथा इच्छा, भय और क्रोध से रहित होकर जो मुनि मोक्षपरायण रहता है, वह सदा मुक्त ही है। २७-२८

टिप्पणी—प्राणवायु अंदर से बाहर निकलनेवाली और अपान बाहर से अंदर जानेवाली वायु है। इन श्लोकों में प्राणायामादि यौगिक क्रियाओं का समर्थन है। प्राणायामादि तो बाह्य क्रियाएं हैं और उनका प्रभाव शरीर को स्वस्थ रखने और परमात्मा के रहनेयोग्य मंदिर बनाने तक ही परिमित है। भोगी का साधारण व्यायामादि से जो काम निकलता है, वही योगी का प्राणायामादि से निकलता है। भोगी के व्यायामादि उसकी इद्रियों को उत्तेजित करने में सहायता पहुंचाते हैं। प्राणायामादि योगी के शरीर को निरोगी और कठिन बनाने पर भी, इंद्रियों को शांत रखने में सहायता करते हैं। आजकल प्राणायामादि की विधि बहुत ही कम लोग जानते हैं और उनमें भी बहुत थोड़े उसका सदुपयोग करते हैं। जिसन इन्द्रिय, मन और बुद्धि पर

अधिक नहीं तो प्राथमिक विजय प्राप्त की है, जिसे मोक्ष की उत्कट अभिलाषा है, जिसने रागद्वेषादि को जीतकर भय को छोड़ दिया है, उसे प्राणायामादि उपयोगी और सहायक होते हैं, अंत: शौच-रहित प्राणायामादि बंधन का एक साधन बनकर मनुष्य को मोह-कूप में अधिक नीचे ले जा सकते हैं—ले जाते हैं, ऐसा बहुतों का अनुभव है। इससे योगींद्र पतंजलि ने यम-नियम को प्रथम स्थान देकर उसके साधक के लिए ही मोक्षमार्ग में प्राणा-यामादि को सहायक माना है।

यम पांच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरि-ग्रह। नियम पांच हैं—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

यज्ञ और तप के भोक्ता, सर्वलोक के महेश्वर और भूतमात्र के हित करनेवाले ऐसे मुझको जानकर (उक्त मुनि) शांति प्राप्त करता है। २९

टिप्पणी—कोई यह न समझे कि इस अध्याय के चौदहवें, पंद्रहवें तथा ऐसे ही दूसरे श्लोकों का यह श्लोक विरोधी है। ईश्वर सर्वशक्तिमान होते हुए कर्ता-अकर्ता, भोक्ता-अभोक्ता जो कहो सो है और नहीं है। वह अवर्णनीय है। मनुष्य की भाषा से वह अतीत है। इससे उसमें परस्पर विरोधी गुणों और शक्तियों का भी आरोपण करके, मनुष्य उसकी झांकी की आशा रखता है।

ॐ तत्सत्

इति श्रमद्भगवद् गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्या-न्तर्गत योगशास्त्र के श्री कृष्णार्जुन संवाद का 'कर्मसंन्यासयोग' नामक पांचवां अध्याय।

: ६ :

ध्यानयोग

इस अध्याय में योग साधन के—समत्व प्राप्त करने के—कितने ही साधन बतलाये गये हैं।

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

श्री भगवान बोले—

कर्मफल का आश्रय लिये बिना जो मनुष्य विहित कर्म करता है वह संन्यासी है, वह योगी है। जो अग्नि का और समस्त क्रियाओं का त्याग करके बैठ जाता है वह नहीं। १

टिप्पणी—अग्नि से तात्पर्य है साधन मात्र। जब अग्नि के द्वारा होम होते थे तब अग्नि की आवश्यकता थी। इस युग में यदि चरखे को सेवा का साधन मानें तो उसका त्याग करने से संन्यासी नहीं हुआ जा सकता।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाडण्व।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

हे पांडव ! जिसे संन्यास कहते हैं उसे तू योग जान। जिसने मन के संकल्पों को त्यागा नहीं वह कभी योगी नहीं हो सकता। २

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

योग साधनेवाले को कर्म साधन है, जिसने उसे साधा है उसे शांति साधन है। ३

टिप्पणी—जिसकी आत्मशुद्धि हो गई है, जिसने समत्व सिद्ध कर लिया है, उसे आत्मदर्शन सहज है। इसका यह अर्थ नहीं है कि योगारूढ़ को लोक-संग्रह के लिए भी कर्म करने की

आवश्यकता नहीं रहती। लोक-संग्रह के बिना तो वह जी ही नहीं सकता। अतः सेवा-कर्म करना भी उसके लिए सहज हो जाता है। वह दिखावे के लिए कुछ नहीं करता। (अध्याय ३, ४ अध्याय ५, २ से मिलाइए)

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ।।४।।

जब मनुष्य इंद्रियों के विषयों में या कर्म में आसक्त नहीं होता और संकल्प तज देता है तब वह योगारूढ़ कहलाता है। ४

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।५।।

आत्मा से मनुष्य आत्म का उद्धार करे, उसकी अधोगति न करे। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। ५

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।।६।।

उसीका आत्मा बन्धु है जिसने अपने बल से मन को जीता है। जिसने मन को जीता नहीं वह अपने ही साथ शत्रु का-सा बर्ताव करता है। ६

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ।।७।।

जिसने अपना मन जीता है और जो संपूर्ण रूप से शांत हो गया है उसका आत्मा सरदी-गरमी, दुःख-सुख और मान-अपमान में समान रहता है। ७

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।।८।।

जो ज्ञान और अनुभव से तृप्त हो गया है, जो अविचल है, जिसने इंद्रियों को जीत लिया है और जिसे मिट्टी, पत्थर और सोना समान है, ऐसा ईश्वरपरायण मनुष्य योगी कहलाता है। ८

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

हितेच्छु, मित्र, शत्रु, निष्पक्षपाती, दोनों का भला चाहनेवाला, द्वेषी, बन्धु और साधु तथा पापी इन सब में जो समान भाव रखता है वह श्रेष्ठ है।
९

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

चित्त स्थिर करके, वासना और संग्रह का त्याग करके, अकेला एकांत में रहकर योगी निरंतर आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़े।
१०

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

पवित्र स्थान में, न बहुत नीचा, न बहुत ऊंचा, ऐसा कुश, मृगचर्म और वस्त्र एक-पर-एक बिछाकर स्थिर आसन अपने लिए करके, वहां एकाग्र मन से बैठकर चित्त और इंद्रियों को वश करके आत्म-शुद्धि के लिए योग साधे।
११-१२

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

धड़, गर्दन और सिर एक सीध में अचल रखकर, स्थिर रहकर, इधर-उधर न देखता हुआ, अपने नासिकाग्र पर निगाह टिकाकर पूर्ण शांति से, निर्भय होकर, ब्रह्मचर्य में दृढ़ रहकर, मन को मारकर, मुझमें परायण हुआ योगी मेरा ध्यान धरता हुआ बैठे।
१३-१४

टिप्पणी—नासिकाग्र से मतलब है भृकुटी के बीच का भाग। (देखो अध्याय ५-२७) ब्रह्मचारी व्रत का अर्थ केवल वीर्य-संग्रह

ही नहीं है, बल्कि ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए आवश्यक अहिंसादि सभी व्रत हैं।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

इस प्रकार जिसका मन नियम में है ऐसा योगी आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ता है और मेरी प्राप्ति में मिलनेवाली मोक्षरूपी परमशान्ति प्राप्त करता है। १५

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

हे अर्जुन ! यह समत्वरूप योग न तो प्राप्त होता है ठूसकर खानेवाले को, न उपवासी को, वैसे ही, वह बहुत सोनेवाले या बहुत जागनेवाले को प्राप्त नहीं होता। १६

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

जो मनुष्य आहार-बिहार में, दूसरे कर्मों में, सोने-जागने में परिमित रहता है, उसका योग दुःखभंजन हो जाता है। १७

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

भली-भांति नियमबद्ध मन जब आत्मा में स्थिर होता है और मनुष्य सारी कामनाओं से निस्पृह हो बैठता है तब वह योगी कहलाता है। १८

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ने का प्रयत्न करनेवाले स्थिर चित्त योगी की स्थिति वायु-रहित स्थान में अचल रहनेवाले दीपक की-सी कही गई है। १९

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

योग के सेवन से अंकुश में आया हुआ मन जहां शांति पाता है, आत्मा से ही आत्मा को पहचानकर आत्मा में जहां मनुष्य संतोष पाता है और इंद्रियों से परे और बुद्धि से ग्रहण करने योग्य अनंत सुख का जहां अनुभव होता है, जहां रहकर मनुष्य मूल-वस्तु से चलायमान नहीं होता और जिसे पाने पर दूसरे किसी लाभ को वह उससे अधिक नहीं मानता और जिसमें स्थिर हुआ महादुःख से भी डगमगाता नहीं, उस दुःख के प्रसंग से रहित स्थिति का नाम योग की स्थिति समझना चाहिए। यह योग ऊबे बिना दृढ़तापूर्वक साधन योग्य है। २०—२३

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

संकल्प से उत्पन्न होनेवाली सारी कामनाओं का पूर्णरूप से त्याग करके, मन से ही इंद्रिय-समूह को सब ओर से भलीभांति नियम में लाकर अचल बुद्धि से योगी धीरे-धीरे शांत होता जाय और मन को आत्मा में पिरोकर, दूसरी किसी बात का विचार न करे। २४—२५

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

जहाँ-जहाँ चंचल और अस्थिर मन भागे, वहां-वहां से (योगी) उसे नियम में लाकर अपने वश में लावे। २६

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

जिसका मन भलीभाँति शांत हुआ है, जिसके विकार शांत हो गए हैं, ऐसा ब्रह्ममय हुआ निष्पाप योगी अवश्य उत्तम सुख प्राप्त करता है।

२७

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

आत्मा के साथ निरन्तर अनुसंधान करते हुए पाप-रहित हुआ यह योगी सरलता से ब्रह्मप्राप्ति-रूप अनंत सुख का अनुभव करता है।

२८

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूता न चात्मनि ।
इक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

सर्वत्र समभाव रखनेवाला योगी अपनेको सब भूतों में और सब भूतों को अपने में देखता है।

२९

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, वह मेरी दृष्टि से ओझल नहीं होता और मैं उसकी दृष्टि से ओझल नहीं होता।

३०

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

मुझमें लीन हुआ जो योगी भूतमात्र में रहनेवाले मुझको भजता रहता है, वह चाहे जिस तरह बर्तता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है।

३१

टिप्पणी—'आप' जबतक है तबतक तो परमात्मा 'पर' है, 'आप' मिट जाने पर—शून्य होने पर ही एक परमात्मा को सर्वत्र देखता है। (अध्याय १३-२३ की टिप्पणी देखिए।)

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

हे अर्जुन ! जो मनुष्य अपने-जैसा सबको देखता है और सुख हो या दुःख, दोनों को समान समझता है, वह योगी श्रेष्ठ गिना जाता है। ३२

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः
साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि
चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

अर्जुन बोले—

हे मधुसूदन ! यह (समत्वरूपी) योग जो आपने कहा, उसकी स्थिरता मैं चंचलता के कारण नहीं देख पाता। ३३

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

क्योंकि, हे कृष्ण ! मन चंचल ही है, मनुष्य को मथ डालता है और बड़ा बलवान है। जैसे वायु का दबाना बहुत कठिन है वैसे मन का वश करना भी मैं कठिन मानता हूं। ३४

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

श्रीभगवान बोले—

हे महाबाहो ! सच है कि मन चंचल होने के कारण वश में करना कठिन है। पर हे कौंतेय ! अभ्यास और वैराग्य से वह वश में किया जा सकता है। ३५

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

मेरा मत है कि जिसका मन अपने वश में नहीं है, उसके लिए योग साधना बड़ा कठिन है; पर जिसका मन अपने वश में है और जो यत्नवान है वह उपाय द्वारा साध सकता है। ३६

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

अर्जुन बोले--

हे कृष्ण ! जो श्रद्धावान तो है पर यत्न में मंद होने के कारण योग-भ्रष्ट हो जाता है, वह सफलता न पाने पर कौन-सी गति पाता है ?

३७

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

हे महाबाहो ! योग से भ्रष्ट हुआ, ब्रह्ममार्ग में भटका हुआ वह छिन्न-भिन्न बादलों की भांति उभयभ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता ?

३८

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

हे कृष्ण ! मेरा यह संशय दूर करने में आप समर्थ हैं । आपके सिवा दूसरा कोई इस संशय को दूर करनेवाला नहीं मिल सकता ।

३९

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

श्रीभगवान बोले—

हे पार्थ ! ऐसे मनुष्यों का नाश न तो इस लोक में होता है, न परलोक में । हे तात ! कल्याणमार्ग में जानेवाले की कभी दुर्गति होती ही नहीं ।

४०

प्राप्य पुण्यकृतां लोका-
नुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे
योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

पुण्यशाली लोगों को मिलनेवाले स्थान को पाकर और

वहां बहुत समय तक रहकर योग-भ्रष्ट मनुष्य पवित्र और साधन-वाले के घर जन्म लेता है। ४१

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

या ज्ञानवान योगी के ही कुल में वह जन्म लेता है। संसार में ऐसा जन्म अवश्य बहुत दुर्लभ है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

हे कुरुनन्दन ! वहां उसे पूर्व-जन्म के बुद्धि-संस्कार मिलते हैं और वहां से वह मोक्ष के लिए आगे बढ़ता है। ४३

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

उसी पूर्वाभ्यास के कारण वह अवश्य योग की ओर खिंचता है। योग का जिज्ञासु तक सकाम वैदिक कर्म करनेवाले की स्थिति को पार कर जाता है। ४४

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्ध स्ततो यति परां गतिम् ॥४५॥

लगन से प्रयत्न करता हुआ योगी पाप से छूटकर अनेक जन्मों से विशुद्ध होता हुआ परम गति को पाता है। ४५

तपस्विभ्योऽधिको योगी
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी
तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

तपस्वी से योगी अधिक है, ज्ञानी से भी वह अधिक माना जाता है, वैसे ही कर्मकांडी से वह अधिक है, इसलिए, हे अर्जुन ! तू योगी बन। ४६

टिप्पणी—यहां तपस्वी की तपस्या फलेच्छायुक्त है। ज्ञानी से मतलब अनुभव ज्ञानी से नहीं है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७

सारे योगियों में भी उसे मैं सर्वश्रेष्ठ योगी मानता हूं जो मुझमें मन पिरोकर मुझे श्रद्धापूर्वक भजता है। ४७

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भागवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्री कृष्णार्जुन-संवाद का 'ध्यानयोग' नामक छठा अध्याय।

: ७ :

ज्ञानविज्ञानयोग

इस अध्याय में यह समझाना आरंभ किया गया है कि ईश्वरतत्त्व और ईश्वरभक्ति क्या है।

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

श्रीभगवान बोले—

हे पार्थ ! मेरे में मन पिरोकर और और मेरा आश्रय लेकर योग साधता हुआ तू निश्चयपूर्वक और संपूर्ण रूप से मुझे किस तरह पहचान सकता है सो सुन। १

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

अनुभवयुक्त यह ज्ञान में तुझे पूर्णरूप से कहूंगा। इसे जानने के बाद इस लोक में अधिक कुछ जानने को नहीं रह जाता। २

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

हजारों मनुष्यों में से कोई ही सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है। प्रयत्न करनेवाले सिद्धों में से भी कोई ही मुझे वास्तविक रूप से पहचानता है। ३

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहं-भाव—यह आठ प्रकार की मेरी प्रकृति है। ४

टिप्पणी—इन आठ तत्त्वोंवाला स्वरूप क्षेत्र या क्षर पुरुष है। (देखो अध्याय १३—५; और अध्याय १५—१६)।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

यह अपरा प्रकृति हुई। इससे भी ऊँची परा प्रकृति है, जो जीवरूप है। हे महाबाहो ! यह जगत उसके आधार पर निभ रहा है। ५

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

भूतमात्र की उत्पत्ति का कारण तू इन दोनों को जान। समूचे जगत की उत्पत्ति और लय का कारण मैं हूं। ६

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

हे धनंजय ! मुझसे उच्च दूसरा कुछ नहीं है। जैसे धागे में मनके पिराये हुए रहते हैं वैसे यह मुझमें पिरोया हुआ है। ७

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

हे कौंतेय ! जल में रस मैं हूं, सूर्य-चंद्र में तेज मैं हूं; सब वेदों में ओंकार मैं हूं, आकाश में शब्द मैं हूं और पुरुषों का पराक्रम मैं हूं। ८

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

पृथ्वी में सुगंध मैं हूं, अग्नि में तेज मैं हूं, प्राणीमात्र का जीवन मैं हूं, तपस्वी का तप मैं हूं। ९

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

हे पार्थ ! समस्त जीवों का सनातन बीज मुझे जान। बुद्धिमान की बुद्धि मैं हूं, तेजस्वी का तेज मैं हूं। १०

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

बलवान काम और रागरहित बल मैं हूं और हे भरतर्षभ ! प्राणियों में धर्म का अविरोधी काम मैं हूं। ११

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

जो-जो सात्विक, राजसी और तामसी भाव हैं, उन्हें मुझसे उत्पन्न हुआ जान। परंतु मैं उनमें हूं, ऐसा नहीं है; वे मुझमें हैं। १२

टिप्पणी—इन भावों पर परमात्मा निर्भर नहीं है, बल्कि वे भाव उसपर निर्भर हैं। उसके आधार पर हैं, रहते हैं और उसके वश में हैं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

इन त्रिगुणी भावों से सारा संसार मोहित हो रहा है और इसलिए उनसे उच्च और भिन्न ऐसे मुझको—अविनाशी को—वह नहीं पहचानता। १३

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

इस मेरी तीन गुणोंवाली दैवी माया का तरना कठिन है; पर जो मेरी ही शरण लेते हैं वे इस माया को तर जाते हैं। १४

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

दुराचारी, मूढ़, अधम मनुष्य मेरी शरण नहीं आते। वे आसुरी भाववाले होते हैं और माया द्वारा उनका ज्ञान हरा हुआ होता है। १५

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

हे अर्जुन ! चार प्रकार के सदाचारी मनुष्य मुझे भजते हैं—दुखी, जिज्ञासु, कुछ प्राप्ति की इच्छावाले और ज्ञानी। १६

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

उनमें जो नित्य समभावी एक को ही भजनेवाला है, वह ज्ञानी श्रेष्ठ है। मैं ज्ञानी को अत्यन्त प्रिय हूं और ज्ञानी मुझे प्रिय है। १७

उदाराः सर्व एवैते
ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा
मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

ये सभी भक्त अच्छे हैं, पर ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है, ऐसा मेरा मत है; क्योंकि मुझे पाने के सिवा दूसरी अधिक उत्तम गति है ही नहीं, यह जानता हुआ वह योगी मेरा ही आश्रय लेता है। १८

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

बहुत जन्मों के अंत में ज्ञानी मुझे पाता है। सब वासुदेव-मय है, यों जाननेवाला महात्मा बहुत दुर्लभ है। १९

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

अनेक कामनाओं से जिन लोगों का ज्ञान हरा गया है, वे अपनी प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न विधि का आश्रय लेकर दूसरे देवताओं की शरण जाते हैं। २०

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।।२१।।

जो-जो मनुष्य जिस-जिस स्वरूप की भक्ति श्रद्धापूर्वक करना चाहता है, उस-उस स्वरूप में उसकी श्रद्धा को मैं दृढ़ करता हूं। २१

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ।।२२।।

श्रद्धापूर्वक उस-उस स्वरूप की वह आराधना करता है और उसके द्वारा मेरी निर्मित की हुई और अपनी इच्छित कामनाएं पूरी करता है। २२

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।।२३।।

उन अल्प बुद्धिवालों को जो फल मिलता है वह नाशवान होता है। देवताओं को भजनेवाले देवताओं को पाते हैं, मुझे भजनेवाले मुझे पाते हैं। २३

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।।२४।।

मेरे परम अविनाशी और अनुपम स्वरूप को न जाननेवाले बुद्धिहीन लोग इंद्रियों से अतीत मुझको इंद्रियगम्य मानते हैं। २४

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।।२५।।

अपनी योगमाया से ढका हुआ मैं सबके लिए प्रकट नहीं हूं। यह मूढ़ जगत मुझ अजन्मा और अव्यय को भलीभांति नहीं पहचानता। २५

टिप्पणी—इस दृश्य जगत को उत्पन्न करने का सामर्थ्य

होते हुए भी अलिप्त होने के कारण परमात्मा के अदृश्य रहने का जो भाव है वह उसकी योगमाया है।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

हे अर्जुन ! जो हो चुके हैं, जो हैं और होनेवाले सभी भूतों को मैं जानता हूं, पर मुझे कोई नहीं जानता। २६

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥

हे भारत ! हे परंतप ! इच्छा और द्वेष से उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःखादि द्वंद्व के मोह से प्राणीमात्र इस जगत में मोहग्रस्त रहते हैं। २७

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

पर जिन सदाचारी लोगों के पापों का अंत हो चुका है और जो द्वंद्व के मोह से मुक्त हो गये हैं वे अटल व्रतवाले मुझे भजते हैं। २८

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

जो मेरा आश्रय लेकर जरा और मरण से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं वे पूर्णब्रह्म को, अध्यात्म को और अखिल कर्म को जानते हैं। २९

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञयुक्त मुझे जिन्होंने पहचाना है, वे समत्व को पाये हुए मुझे मृत्यु के समय भी पहचानते हैं। ३०

टिप्पणी—अधिभूतादि का अर्थ आठवें अध्याय में आता है। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि इस संसार में ईश्वर के सिवा और कुछ भी नहीं है और समस्त कर्मों का कर्ता-भोक्ता वह है,

ऐसा समझकर जो मृत्यु के समय शांत रहकर ईश्वर में ही तन्मय रहता है तथा कोई वासना उस समय जिसे नहीं होती, उसने ईश्वर को पहचाना है और उसने मोक्ष पाई है।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का 'ज्ञानविज्ञानयोग' नामक सातवां अध्याय।

: ८ :

अक्षरब्रह्मयोग

इस अध्याय में ईश्वरतत्त्व को विशेषरूप से समझाया गया है।

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥

अर्जुन बोले—

हे पुरुषोत्तम ! इस ब्रह्म का क्या स्वरूप है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत किसे कहते हैं ? अधिदैव क्या कहलाता है ?

१

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

हे मधुसूदन ! इस देह में अधियज्ञ क्या है और किस प्रकार है ? और संयमी आपको मृत्यु के समय किस तरह पहचान सकता है।

२

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः ॥३॥

श्रीभगवान बोले—

जो सर्वोत्तम अविनाशी है वह ब्रह्म है; प्राणीमात्र में अपनी सत्ता से जो रहता है वह अध्यात्म है और प्राणीमात्रको उत्पन्न करनेवाला सृष्टिव्यापार कर्म कहलाता है। ३

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥४॥

अधिभूत मेरा नाशवान स्वरूप है। अधिदैवत उसमें रहनेवाला मेरा जीवस्वरूप है। और हे मनुष्यश्रेष्ठ ! अधियज्ञ इस शरीर में स्थित किंतु यज्ञ द्वारा शुद्ध हुआ जीवस्वरूप है। ४

टिप्पणी—तात्पर्य, अव्यक्त ब्रह्म से लेकर नाशवान दृश्य पदार्थमात्र परमात्मा ही है और सब उसी की कृति है। तब फिर मनुष्य प्राणी स्वयं कर्तापन का अभिमान रखने के बदले परमात्मा का दास बनकर सबकुछ उसे समर्पण क्यों न करे ?

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

अंतकाल में मुझे ही स्मरण करते-करते जो देहत्याग करता है वह मेरे स्वरूप को पाता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। ५

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥

अथवा तो हे कौंतेय ! नित्य जिस-जिस स्वरूप का ध्यान मनुष्य धरता है, उस-उस स्वरूप को अंतकाल में भी स्मरण करता हुआ वह देह छोड़ता है और इससे वह उस-उस स्वरूप को पाता है। ६

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥७॥

इसलिए सदा मुझे स्मरण कर और जूझता रह; इस प्रकार मुझमें मन और बुद्धि रखने से अवश्य मुझे पावेगा ७

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

हे पार्थ ! चित्त को अभ्यास से स्थिर करके और कहीं न भागने देकर जो एकाग्र होता है वह दिव्य परमपुरुष को पाता है।

८

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

जो मनुष्य मृत्युकाल में अचल मन से, भक्ति से युक्त होकर और योगबल से भृकुटी के बीच में अच्छी तरह प्राण को स्थापित करके सर्वज्ञ, पुरातन, नियंता, सूक्ष्मतम, सबके पालनहार, अचिंत्य, सूर्य के समान तेजस्वी, अज्ञानरूपी अन्धकार से पर स्वरूप का ठीक स्मरण करता है वह दिव्य परमपुरुष को पाता है।

९-१०

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

जिसे वेद जाननेवाले अक्षर नाम से वर्णन करते हैं, जिसमें वीतराग मुनि प्रवेश करते है और जिसकी प्राप्ति की इच्छा से लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते है. उस पद का संक्षिप्त वर्णन मैं तुझसे करूंगा।

११

सर्वद्वाराणि संयम्य
मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राण-
मास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

इंद्रियों के सब द्वारों को रोककर, मन को हृदय में ठहराकर, मस्तक में प्राण को धारण करके समाधिस्थ होकर ॐ ऐसे एकाक्षरी ब्रह्म का उच्चारण और मेरा चिंतन करता हुआ जो मनुष्य देह त्यागता है वह परमगति को पाता है। १२-१३

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

हे पार्थ ! चित्त को अन्यत्र कहीं रखे बिना जो नित्य और निरंतर मेरा ही स्मरण करता है वह नित्ययुक्त योगी मुझे सहज में पाता है। १४

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

मुझे पाकर परमगति को पहुंचे हुए महात्मा दुःख के घर अशाश्वत पुनर्जन्म को नहीं पाते। १५

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

हे कौंतेय ! ब्रह्मलोक से लेकर सभी लोक फिर-फिर आनेवाले हैं, परंतु मुझे पाने के बाद मनुष्य को फिर जन्म नहीं लेना होता। १६

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

हजार युग तक ब्रह्मा का एक दिन और हजार युग तक की ब्रह्मा की एक रात, जो जानते हैं वे रात-दिन के जाननेवाले हैं। १७

टिप्पणी—तात्पर्य, हमारे चौबीस घंटे के रात-दिन कालचक्र के अंदर एक क्षण से भी सूक्ष्म हैं। उनकी कोई गिनती नहीं है। इसलिए उतने समय में मिलनेवाले भोग आकाश पुष्पवत् हैं, यों समझकर हमें उनकी ओर से उदासीन रहना चाहिए और

उतना ही समय हमारे पास है उसे भगवद्भक्ति में, सेवा में, व्यतीत कर सार्थक करना चाहिए और यदि तत्काल आत्मदर्शन न हो तो धीरज रखना चाहिए।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

(ब्रह्मा का) दिन आरंभ होने पर सब अव्यक्त में से व्यक्त होते हैं और रात पड़नेपर उनका प्रलय होता है अर्थात् अव्यक्त में लय हो जाते हैं।

१८

टिप्पणी—यह जानकर भी मनुष्य को समझना चाहिए कि उसके हाथ में बहुत थोड़ी सत्ता है। उत्पत्ति और नाश का जोड़ा साथ-साथ चलता ही रहता है।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

हे पार्थ ! यह प्राणियों का समुदाय इस तरह पैदा हो-होकर रात पड़ने पर बरबस लय होता है और दिन उगने पर उत्पन्न होता है।

१९

परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो-
ऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु
नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

इस अव्यक्त से परे दूसरा सनातन अव्यक्त भाव है। समस्त प्राणियों का नाश होते हुए भी वह सनातन अव्यक्त भाव नष्ट नही होता।

२०

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

जो अव्यक्त, अक्षर (अविनाशी) कहलाता है, उसीको परमगति कहते हैं। जिसे पाने के बाद लोगों का पुनर्जन्म नहीं होता, वह मेरा परमधाम है।

२१

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

हे पार्थ ! इस उत्तम पुरुष के दर्शन अनन्य भक्ति से होते हैं। इसमें भूतमात्र स्थित हैं और यह सब उससे व्याप्त है। २२

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

जिस समय मरकर योगी मोक्ष पाते हैं और जिस समय मरकर उन्हें पुनर्जन्म प्राप्त होता है, वह काल है, भरतर्षभ ! मैं तुझसे कहूंगा। २३

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
यत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

उत्तरायण के छः महीनों में, शुक्लपक्ष में, दिन को जिस समय अग्नि की ज्वाला उठ रही हो उस समय जिसकी मृत्यु होती है वह ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म को पाता है। २४

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः
षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योति-
र्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

दक्षिणायन के छः महीनों में, कृष्णपक्ष में, रात्रि में जिस समय धुआं फैला हुआ हो उस समय मरनेवाले चंद्रलोक को पाकर पुनर्जन्म पाते हैं। २५

टिप्पणी—ऊपर के दो श्लोक मैं पूरी तौर से नहीं समझता। उनके शब्दार्थ का गीता की शिक्षा के साथ मेल नहीं बैठता। उस शिक्षा के अनुसार तो जो भक्तिमान है, जो सेवामार्ग को सेता है, जिसे ज्ञान हो चुका है, वह चाहे जभी मरे, उसे मोक्ष ही है। उससे इन श्लोकों का शब्दार्थ विरोधी है। उसका भावार्थ यह अवश्य निकल सकता है कि जो यज्ञ करता है अर्थात् परोपकार में ही जो जीवन बिताता है, जिसे ज्ञान हो चुका है, जो ब्रह्मविद् अर्थात् ज्ञानी है, मृत्यु के समय भी यदि उसकी ऐसी

स्थिति हो तो वह मोक्ष पाता है। इससे विपरीत जो यज्ञ नहीं करता जिसे ज्ञान नहीं है, जो भक्ति नहीं जानता वह चंद्रलोक अर्थात् क्षणिक लोक को पाकर फिर संसार-चक्र में लौटता है। चंद्र के निजी ज्योति नहीं है।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥

जगत में ज्ञान और अज्ञान के ये दो परंपरा से चलते आये मार्ग माने गए हैं। एक अर्थात् ज्ञानमार्ग से मनुष्य मोक्ष पाता है और दूसरे अर्थात् अज्ञान मार्ग से उसे पुनर्जन्म प्राप्त होता है।
२६

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

हे पार्थ ! इन दोनों मार्गों का जाननेवाला कोई भी योगी मोह में नहीं पड़ता। इसलिए हे अर्जुन ! तू सर्वदा योगयुक्त रहना।
२७

टिप्पणी—दोनों मार्गों का जाननेवाला और समभाव रखनेवाला अंधकार का—अज्ञान का मार्ग नहीं पकड़ता, इसी-का नाम है मोह में न पड़ना।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

यह वस्तु जान लेने के बाद वेद में, यज्ञ में, तप में, और दान में जो पुण्यफल बतलाया है, उस सबको पार करके योगी उत्तम आदि स्थान पाता है।
२८

टिप्पणी—अर्थात् जिसने ज्ञान, भक्ति और सेवा-कर्म से समभाव प्राप्त किया है, उसे न केवल सब पुण्यों का फल ही मिल जाता है, बल्कि उसे परम मोक्ष पद मिलता है।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का 'अक्षरब्रह्मयोग' नामक आठवां अध्याय ।

: ९ :

राजविद्याराजगुह्ययोग

इसमें भक्ति की महिमा गाई है ।

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

श्रीभगवान बोले—

तू द्वेषरहित है, इससे तुझे मैं गुह्य-से-गुह्य अनुभवयुक्त ज्ञान दूंगा, जिसे जानकर तू अकल्याण से बचेगा । १

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥

विद्याओं में यह राजा है। गूढ़ वस्तुओं में भी राजा है। यह विद्या पवित्र है, उत्तम है, प्रत्यक्ष अनुभव में आने योग्य, धार्मिक, आचार में लाने में सहज और अविनाशी है । २

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

हे परंतप ! इस धर्म में जिन्हें श्रद्धा नहीं है, ऐसे लोग मुझे न पाकर मृत्युमय संसार-मार्ग में बारंबार ठोकर खाते हैं । ३

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

मेरे अव्यक्त स्वरूप से यह समूचा जगत भरा हुआ है। मुझमें—मेरे आधार पर—सब प्राणी हैं, मैं उनके आधार पर

नहीं हूं।

४

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

तथापि प्राणी मुझमें नहीं हैं ऐसा भी कहा जा सकता है। यह मेरा योगबल तू देख। मैं जीवों का पालन करनेवाला हूं, फिर भी मैं उनमें नहीं हूं; परंतु मैं उनका उत्पत्तिकारण हूं।

५

टिप्पणी—मुझमें सब जीव हैं और नहीं। उनमें मैं हूं और नहीं हूं। यह ईश्वर का योगबल, उसकी माया, उसका चमत्कार है। ईश्वर का वर्णन भगवान को भी मनुष्य की भाषा में ही करना ठहरा, इसलिए अनेक प्रकार के भाषा-प्रयोग करके उसे संतोष देते हैं। ईश्वरमय सब है, इसलिए सब उसमें है। वह अलिप्त है, प्राकृत कर्ता नहीं है, इसलिए उसमें जीव नहीं हैं, यह कहा जा सकता है। परंतु जो उसके भक्त हैं उनमें वह अवश्य है। जो नास्तिक हैं, उनमें उसकी दृष्टि से तो वह नहीं है। और इसे उसके चमत्कार के सिवा और क्या कहा जाय ?

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

जैसे सर्वत्र विचरती हुई महान् वायु नित्य आकाश में विद्यमान है ही, वैसे सब प्राणी मुझमें हैं, ऐसा जान। ६

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

हे कौंतेय ! सारे प्राणी कल्प के अंत में मेरी प्रकृति में लय पाते हैं और कल्प का आरंभ होने पर मैं उन्हें फिर रचता हूं।

७

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

अपनी माया के आधार से मैं इस प्रकृति के प्रभाव के अधीन रहनेवाले प्राणियों के सारे समुदाय को बारंबार उत्पन्न

करता हूं। ८

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

हे धनंजय ! ये कर्म मुझे बंधन नहीं करते, क्योंकि मैं उनमें उदासीन के समान और आसक्तिरहित बर्तता हूं। ९

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

मेरे अधिकार के नीचे प्रकृति स्थावर और जंगम जगत को उत्पन्न करती है और इस हेतु, हे कौंतेय ! जगत घटमाल (रहँट) की भांति घूमा करता है। १०

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

प्राणीमात्र का महेश्वररूप जो मैं हूं उसके भाव को न जानकर मूर्ख लोग मुझ मनुष्य-तनधारी की अवज्ञा करते हैं। ११

टिप्पणी—क्योंकि जो लोग ईश्वर की सत्ता नहीं मानते, वे शरीरस्थित अंतर्यामी को नहीं पहचानते और उसके अस्तित्व को न मानते हुए जड़वादी बने रहते हैं।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

व्यर्थ आशावाले, व्यर्थ काम करनेवाले और व्यर्थ ज्ञानवाले मूढ़ लोग मोह में डाल रखनेवाली राक्षसी या आसुरी प्रकृति का आश्रय लेते हैं। १२

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

इससे विपरीत, हे पार्थ ! महात्मालोग दैवी प्रकृति का आश्रय लेकर प्राणीमात्र के आदिकारण ऐसे अविनाशी मुझको जानकार एकनिष्ठा से भजते हैं। १३

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

दृढ़ निश्चयवाले, प्रयत्न करनेवाले वे निरंतर मेरा कीर्तन करते हैं, मुझे भक्ति से नमस्कार करते हैं और नित्य ध्यान धरते हुए मेरी उपासना करते हैं। १४

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

और दूसरे लोग अद्वैतरूप से या द्वैतरूप से अथवा बहुरूप से सब कहीं रहनेवाले मुझको ज्ञान द्वारा पूजते हैं। १५

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

यज्ञ का संकल्प मैं हूं, यज्ञ मैं हूं, यज्ञ द्वारा पितरों का आधार मैं हूं, यज्ञ की वनस्पति मैं हूं, मंत्र मैं हूं, आहुति मैं हूं, अग्नि मैं हूं, और हवन-द्रव्य मैं हूं। १६

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

इस जगत् का पिता मैं, माता मैं, धारण करनेवाला मैं, पितामह मैं, जानने योग्य मैं, पवित्र ॐकार मैं, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूं। १७

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

गति मैं, पोषक मैं, प्रभ मैं, साक्षी मैं, निवास मैं, आश्रय मैं, हितैषी मैं, उत्पत्ति मैं, नाश मैं, स्थिति मैं, भंडार मैं और अव्यय बीज भी मैं हूं। १८

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

धूप मैं देता हूं, वर्षा को मैं ही रोक रखता और बरसने देता हूं। अमरता मैं हूं, मृत्यु मैं हूं और हे अर्जुन! सत् तथा असत् भी मैं ही हूं। १९

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥

तीन वेद के कर्म करनेवाले सोमरस पीकर निष्पाप बने हुए यज्ञ द्वारा मुझे पूजकर स्वर्ग माँगते हैं। वे पवित्र देवलोक पाकर स्वर्ग में दिव्य भोग भोगते हैं। २०

टिप्पणी—सभी वैदिक क्रियाएं फल-प्राप्ति के लिए की जाती थीं और उनमें से कई क्रियाओं में सोमपान होता था, उसका यहां उल्लेख है। वे क्रियाएं क्या थीं, सोमरस क्या था, यह आज वास्तव में कोई नहीं कह सकता।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

इस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर वे पुण्य का क्षय हो जाने पर मृत्युलोक में वापस आते हैं। इस प्रकार तीन वेद के कर्म करनेवाले फल की इच्छा रखनेवाले जन्म-मरण के चक्कर काटा करते हैं। २१

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

जो लोग अनन्य भाव से मेरा चिंतन करते हुए मुझे भजते हैं, उन नित्य मुझमें ही रत रहनेवालों के योग-क्षेम का भार मैं उठाता हूं। २२

टिप्पणी—इस प्रकार योगी को पहचानने के तीन सुंदर लक्षण हैं—समत्व, कर्म-कौशल, अनन्य भक्ति। ये तीनों एक-दूसरे में ओत-प्रोत होने चाहिए। भक्ति के बिना समत्व नहीं मिलता, समत्व के बिना भक्ति नहीं मिलती और कर्म-कौशल के बिना भक्ति तथा समत्व का आभासमात्र होने का भय है। योग अर्थात् अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करना और क्षेम अर्थात प्राप्त वस्तु को संभालकर रखना।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

और, हे कौंतेय ! जो श्रद्धापूर्वक दूसरे देवता को भजते हैं, वे भी भले ही विधिरहित भजें, मुझे ही भजते हैं। २३

टिप्पणी—विधिरहित अर्थात् अज्ञानवश, मुझ एक निरंजन निराकार को न जानकर।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

जो मैं ही सब यज्ञों को भोगनेवाला स्वामी हूं, उसे वे सच्चे स्वरूप में नहीं पहचानते, इसलिए वे गिरते हैं। २४

यान्ति देवव्रता देवान्
पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या
यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

देवताओं का पूजन करनेवाले देवलोकों को पाते हैं, पितरों का पूजन करनेवाले पितृलोक को पाते हैं, भूत-प्रेतादि को पूजनेवाले उन लोकों को पाते हैं और मुझे भजनेवाले मुझे पाते हैं। २५

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

पत्र, फूल, फल या जल जो मुझे भक्तिपूर्वक अर्पित करता है वह प्रयत्नशील मनुष्य द्वारा भक्तिपूर्वक अर्पित किया हुआ मैं सेवन करता हूं। २६

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि ईश्वर प्रीत्यर्थ जो कुछ सेवाभाव से दिया जाता है, उसका स्वीकार उस प्राणी में रहनेवाले अंतर्यामीरूप से भगवान ही ग्रहण करते हैं।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

इसलिए हे कौंतेय ! जो करे, जो खाय, जो हवन में होमे,

जो तू दान में दे, जो तप करे, वह सब मुझे अर्पण करके करना। २७

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ।।२८।।

इससे तू शुभाशुभ फल देनेवाले कर्म-बंधन से छूट जाएगा और फलत्यागरूपी समत्व को पाकर, जन्म-मरण से मुक्त होकर मुझे पावेगा। २८

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।।२९।।

सब प्राणियों में मैं समभाव से रहता हूं। मुझे कोई अप्रिय या प्रिय नहीं है। जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूं। २९

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।।३०।।

भारी दुराचारी भी यदि अनन्य भाव से मुझे भजे तो उसे साधु हुआ ही मानना चाहिए, क्योंकि अब उसका अच्छा संकल्प है। ३०

टिप्पणी—क्योंकि अनन्य भक्ति दुराचार को शांत कर देती है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।।३१।।

वह तुरंत धर्मातमा हो जाता है और निरंतर शांति पाता है। हे कौंतेय ! तू निश्चयपूर्वक जानना कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता। ३१

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य
येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा-
स्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।३२।।

फिर हे पार्थ ! जो पाप योनि हों वे भी और स्त्रियां, वैश्य

तथा शूद्र, जो मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं, वे परमगति पाते हैं। ३२

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।।३३।।

तब फिर पुण्यवान ब्राह्मण और राजर्षि, जो मेरे भक्त हैं उनका तो कहना ही क्या है ! इसलिए इस अनित्य और सुख-रहित लोक में जन्मकर तू मुझे भज। ३३

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ।।३४।।

मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे निमित्त यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर, इससे मुझमें परायण होकर आत्मा को मेरे साथ जोड़कर तू मुझे ही पावेगा। ३४

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का 'राजविद्याराजगुह्य-योग' नामक नवां अध्याय।

: १० :

विभूतियोग

सातवें, आठवें और नवें अध्याय में भक्ति आदि का निरूपण करने के बाद भगवान अपनी अनंत विभूतियों का कुछ दिग्दर्शन भक्त के लिए कराते हैं।

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ।।१।।

श्रीभगवान बोले—

हे महाबाहो ! फिर मेरा परम वचन सुन। यह मैं तुझ

प्रियजन को तेरे हित के लिए कहूंगा। १

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

देव और महर्षि मेरी उत्पत्ति को नहीं जानते, क्योंकि मैं ही देवों का और महर्षियों का सब प्रकार से आदि कारण हूं। २

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

मृत्युलोक में रहता हुआ जो ज्ञानी लोकों के महेश्वर मुझको अजन्मा और अनादि रूप में जानता है वह सब पापों से मुक्त हो जाता है। ३

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

बुद्धि, ज्ञान, अमूढ़ता, क्षमा, सत्य, इंद्रियनिग्रह, शांति, सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, भय और अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश, अपयश--इस प्रकार प्राणियों के भिन्न-भिन्न भाव मुझसे उत्पन्न होते हैं। ४-५

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

सप्तर्षि, उनके पहले सनकादिक चार और (चौदह) मनु मेरे संकल्प से उत्पन्न हुए और उनमें से ये लोक उत्पन्न हुए हैं। ६

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

इस मेरी विभूति और शक्ति को जो यथार्थ जानता है वह अविचल समता को पाता है, इसमें संशय नहीं है। ७

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

मैं सबकी उत्पत्ति का कारण हूं और सब मुझसे ही प्रवृत्त होते हैं, यह जानकर समझदार लोग भावपूर्वक मुझे भजते हैं।८

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥९॥

मुझमें चित्त लगानेवाले, मुझे प्राणार्पण करनेवाले एक-दूसरे को बोध कराते हुए, मेरा ही नित्य कीर्तन करते हुए, संतोष और आनंद में रहते हैं। ९

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥१०॥

इस प्रकार मुझमें तन्मय रहनेवालों को और मुझे प्रेम से भजनेवालों को मैं ज्ञान देता हूं और उससे वे मुझे पाते हैं। १०

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥११॥

उनपर दया करके उनके हृदय में स्थित मैं ज्ञानरूपी प्रकाशमय दीपक से उनके अज्ञानरूपी अंधकार का नाश करता हूं। ११

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥१२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥१३॥

अर्जुन बोले—

हे भगवान! आप परम ब्रह्म हैं, परम धाम हैं, परम पवित्र हैं। समस्त ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास आपको अविनाशी, दिव्यपुरुष, आदिदेव, अजन्मा, ईश्वररूप मानते हैं और आप स्वयं भी वैसा ही कहते हैं। १२-१३

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥१४॥

हे केशव! आप जो कहते हैं उसे मैं सत्य मानता हूं। हे भगवान! आपके स्वरूप को न देव जानते हैं न दानव। १४

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

हे पुरुषोत्तम ! हे जीवों के पिता ! हे जीवेश्वर ! हे देवों के देव ! हे जगत के स्वामी ! आप स्वयं ही अपने द्वारा अपने को जानते हैं। १५

वक्तुमर्हस्यशेषेण
दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोका-
निमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

जिन विभूतियों के द्वारा इन लोकों में आप व्याप रहे हैं, अपनी वह दिव्य विभूतियां पूरी-पूरी मुझसे आपको कहनी चाहिए। १६

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥

हे योगिन् ! आपका नित्य चिंतन करते-करते आपको मैं कैसे पहचान सकता हूं ? हे भगवन् ! किस-किस रूप में आपका चिंतन करना चाहिए ? १७

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

हे जनार्दन ! अपनी शक्ति और अपनी विभूति का वर्णन मुझसे फिर विस्तारपूर्वक कीजिए। आप की अमृतमय वाणी सुनते-सुनते तृप्ति ही नहीं होती। १८

श्रीभगवानुवाच
हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

श्रीभगवान बोले—

हे कुरुश्रेष्ठ ! अच्छा, मैं अपनी मुख्य-मुख्य दिव्य विभूतियां तुझे कहूंगा। उनके विस्तार का अंत तो है ही नहीं। १९

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

हे गुडाकेश ! मैं सब प्राणियों के हृदय में विद्यमान आत्मा हूं। मैं ही भूतमात्र का आदि, मध्य और अंत हूं। २०

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

आदित्यों में विष्णु मैं हूं, ज्योतियों में जगमगाता सूर्य मैं हूं, वायुओं में मरीचि मैं हूं, नक्षत्रों में चंद्र मैं हूं। २१

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

वेदों में सामवेद मैं हूं, देवों में इंद्र मैं हूं, इंद्रियों में मन मैं हूं और प्राणियों का चेतन मैं हूं। २२

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

रुद्रों में शंकर मैं हूं, यक्ष और राक्षसों में कुबेर मैं हूं, वसुओं में अग्नि मैं हूं, पर्वतों में मेरु मैं हूं। २३

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

हे पार्थ ! पुरोहितों में प्रधान बृहस्पति मुझे समझ । सेनापतियों में कार्त्तिक स्वामी मैं हूं और सरोवरों में सागर मैं हूं। २४

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

महर्षियों में भृगु मैं हूं, वाणी में एकाक्षरी ॐ मैं हूं, यज्ञों में जप-यज्ञ मैं हूं और स्थावरों में हिमालय मैं हूं। २५

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

सब वृक्षों में अश्वत्थ (पीपल) मैं हूं, देवर्षियों में नारद मैं हूं, गंधर्वों में चित्ररथ मैं हूं और सिद्धों में कपिल मुनि

मैं हूं। २६

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।

ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ।।२७।।

अश्वों में अमृत में से उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवा मुझे जान। हाथियों में ऐरावत और मनुष्यों में राजा मैं हूं। २७

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।

प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ।।२८।।

हथियारों में वज्र मैं हूं, गायों में कामधेनु मैं हूं, प्रजा की उत्पत्ति का कारण कामदेव मैं हूं, सर्पों में वासुकि मैं हूं। २८

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।

पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ।।२९।।

नागों में शेषनाग मैं हूं, जलचरों में वरुण मैं हूं, पितरों में अर्यमा मैं हूं और दंड देनेवालों में यम मैं हूं। २९

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।

मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ।।३०।।

दैत्यों में प्रह्लाद मैं हूं, गिननेवालो में काल मैं हूं, पशुओं में सिंह मैं हूँ, पक्षियों में गरुड़ मैं हूं। ३०

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।

झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ।।३१।।

पावन करनेवालों में पवन मैं हूं, शस्त्रधारियों में परशुराम मैं हूं, मछलियों में मगरमच्छ मैं हूं, नदियों में गंगा मैं हूं। ३१

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।

अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ।।३२।।

हे अर्जुन ! सृष्टियों का आदि, अंत और मध्य मैं हूं, विद्याओं में अध्यात्म विद्या मैं हूं और विवाद करनेवालों का विवाद मैं हूं। ३२

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।

अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ।।३३।।

अक्षरों में अकार मैं हूँ, समासों में द्वंद्व मैं हूं, अविनाशी

काल मैं हूं और सर्वव्यापी धारण करनेवाला भी मैं हूं। ३३

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

सबको हरनेवाली मृत्यु मैं हूं, भविष्य में उत्पन्न होनेवाले का उत्पत्तिकारण मैं हूं और नारी-जाति के नामों में कीर्ति, लक्ष्मी, वाणी, स्मृति, मेधा (बुद्धि), धृति (धैर्य) और क्षमा मैं हूं। ३४

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

सामों में बृहत् (बड़ा) साम मैं हूं, छंदों में गायत्री छंद मैं हूं। महीनों में मार्गशीर्ष मैं हूं, ऋतुओं में वसंत मैं हूं। ३५

द्यूतं छलयतामस्मि
तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि
सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥

छल करनेवाले का द्यूत मैं हूं, प्रतापी का प्रभाव मैं हूं, जय मैं हूं, निश्चय मैं हूं, सात्त्विक भाववाले का सत्त्व मैं हूं। ३६

टिप्पणी—छल करनेवालों का द्यूत मैं हूं, इस वचन से भड़कने की आवश्यकता नहीं है। यहां सारासार का निर्णय नहीं है, किंतु जो कुछ होता है वह विना ईश्वर की मर्जी के नहीं होता, यह बतलाया है और सब उसके अधीन है, यह जाननेवाला छली भी अपना अभिमान छोड़कर छल त्यागे।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

वृष्णिकुल में वासुदेव मैं हूं, पांडवों में धनंजय (अर्जुन) मैं हूं, मुनियों में व्यास मैं हूं और कवियों में उशना मैं हूं। ३७

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

शासक का दंड मैं हूं, जय चाहनेवालों की नीति मैं हूं, गुह्य

बातों में मौन मैं हूं और ज्ञानवान का ज्ञान मैं हूं। ३८

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ।।३९।।

हे अर्जुन ! समस्त प्राणियों की उत्पति का कारण मैं हूं। जो कुछ स्थावर या जंगम है, वह मेरे बिना नहीं है। ३९

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ।।४०।।

हे परंतप ! मेरी दिव्य विभूतियों का अंत नहीं है। विभूतियों का विस्तार मैंने केवल दृष्टांत रूप से बतलाया है। ४०

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ।।४१।।

जो कुछ भी विभूतिमान, लक्ष्मीवान या प्रभावशाली है, उस-उसको मेरे तेज के अंश से ही हुआ समझ। ४१

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।।४२।।

अथवा हे अर्जुन ! यह विस्तारपूर्वक जानकर तुझे क्या करना है। अपने एक अंशमात्र से इस समूचे जगत को धारण करके मैं विद्यमान हूं। ४२

ॐ तत्सत्

इति श्रीमदभगवदगीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का 'विभूतियोग' नामक दसवां अध्याय।

: ११ :

विश्वरूपदर्शनयोग

इस अध्याय में भगवान अपना विराट स्वरूप अर्जुन को बतलाते हैं। भक्तों को यह अध्याय बहुत प्रिय है। इसमें दलीलें

नहीं, बल्कि केवल काव्य है। इस अध्याय का पाठ करते-करते मनुष्य थकता ही नहीं।

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

अर्जुन बोले—

आपने मुझपर कृपा करके यह आध्यात्मिक परम रहस्य कहा है। आपके मुझसे कहे हुए इन वचनों से मेरा यह मोह टल गया है। १

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष महात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

प्राणियों की उत्पत्ति और नाश के संबंध में आपसे मैंने विस्तार पूर्वक सुना। हे कमलपत्राक्ष, उसी प्रकार आपका अविनाशी महात्म्य भी सुना। २

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मनं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥

हे परमेश्वर ! आप जैसा अपनेको पहचनवाते हैं वैसे ही हैं। हे पुरुषोत्तम ! आपके उस ईश्वरी रूप के दर्शन करने की मुझे इच्छा होती है। ३

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

हे प्रभो ! वह दर्शन करना मेरे लिए संभव मानते हैं तो हे योगेश्वर ! उस अव्यय रूप का दर्शन कराइए। ४

श्री भगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

श्रीभगवान बोले—

हे पार्थ ! मेरे सैकड़ों और हजारों रूप देख। वे नाना प्रकार के दिव्य, भिन्न-भिन्न रंग और आकृतिवाले हैं। ५

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥

हे भारत ! आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, दो अश्विनीकुमारों और मरुतों को देख। पहले न देखे गये, ऐसे बहुत-से आश्चर्यों को तू देख। ६

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

हे गुडाकेश ! यहां मेरे शरीर में एक रूप से स्थित समूचा स्थावर और जंगम जगत तथा और जो कुछ तू देखना चाहता हो वह आज देख। ७

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

इन अपने चमचक्षुओं से तू मुझे देख नहीं सकता। तुझे मैं दिव्य चक्षु देता हूं। तू मेरा ईश्वरीय योग देख। ८

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥

संजय ने कहा—

हे राजन् ! योगेश्वर कृष्ण ने ऐसा कहकर पार्थ को अपना परम ईश्वरीय रूप दिखलाया। ९

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

वह अनेक मुख और आंखोंवाला, अनेक अद्भुत दर्शनवाला, अनेक दिव्य आभूषणवाला और अनेक उठाये हुए दिव्य शस्त्रों वाला था। १०

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

उसने अनेक दिव्य मालाएं और वस्त्र धारण कर रखे थे, उसके दिव्य सुगंधित लेप लगे हुए थे। ऐसा वह सर्वप्रकार से

आश्चर्यमय, अनंत, सर्वव्यापी देव था। ११

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

आकाश में हजार सूर्यों का तेज एक साथ प्रकाशित हो उठे तो वह तेज उस महात्मा के तेज-जैसा कदाचित हो। १२

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

वहां इस देवाधिदेव के शरीर में पांडव ने अनेक प्रकार से विभक्त हुआ समूचा जगत एक रूप में विद्यमान देखा। १३

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

फिर आश्चर्यचकित और रोमांचित हुए धनंजय सिर झुका, हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले— १४

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे।
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

अर्जुन बोले—

हे देव! आपकी देह में मैं देवताओं को, भिन्न-भिन्न प्रकार के सब प्राणियों के समुदायों को, कमलासन पर विराजमान ईश ब्रह्मा को, सब ऋषियों को और दिव्य सर्पों को देखता हूं। १५

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

आपको मैं अनेक हाथ, उदर, मुख और नेत्रयुक्त अनंत रूपवाला देखता हूं। आपका अंत नहीं है, न मध्य है, न आपका आदि है। हे विश्वेश्वर! आपके विश्व रूप का मैं दर्शन कर

रहा हूं। १६

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

मुकुटधारी, गदाधारी, चक्रधारी, तेज के पुंज, सर्वत्र जगमगाती ज्योतिवाले, साथ ही कठिनाई से दिखाई देनेवाले, अपरिमित और प्रज्वलित अग्नि किंवा सूर्य के समान सभी दिशाओं में देदीप्यमान आपको मैं देख रहा हूं। १७

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

आपको मैं जानने योग्य परम अक्षररूप, इस जगत का अंतिम आधार, सनातन धर्म का अविनाशी रक्षक और सनातन पुरुष मानता हूं। १८

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्य नेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

जिसका आदि, मध्य या अंत नहीं है, जिसकी शक्ति अनंत है, जिसके अनंत बाहु हैं, जिसके सूर्य-चंद्ररूपी नेत्र हैं, जिसका मुख प्रज्वलित अग्नि के समान है और जो अपने तेज से इस जगत को तपा रहा है, ऐसे आपको मैं देख रहा हूं। १९

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

आकाश और पृथ्वी के बीच के इस अंतर में और समस्त

दिशाओं में आप ही अकेले व्याप्त हो रहे हैं। हे महात्मन् ! यह आपका अद्‌भुत उग्र रूप देखकर तीनों लोक थरथराते हैं। २०

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

और यह देवों का संघ आपमें प्रवेश कर रहा है। भयभीत हुए कितने ही हाथ जोड़कर आपका स्तवन कर रहे हैं। महर्षि और सिद्धों का समुदाय '(जगत का) कल्याण हो' कहता हुआ अनेक प्रकार से आपका यश गा रहा है। २१

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुत, गरम ही पीनेवाले पितर, गंधर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों का संघ ये सभी विस्मित होकर आपको निरख रहे हैं। २२

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

हे महाबाहो ! बहुत मुख और आंखोंवाला, बहुत हाथ, जंघा और पैरोंवाला, बहुत पेटोंवाला और बहुत दाढ़ों के कारण विकराल दीखनेवाला विशाल रूप देखकर लोग व्याकुल हो गए हैं। वसे ही मैं भी व्याकुल हो उठा हूं। २३

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

आकाश का स्पर्श करते, जगमगाते, अनेक रंगवाले, खुले मुखवाले और विशाल तेजस्वी नेत्रवाले, आपको देखकर, हे विष्णु ! मेरा हृदय व्याकुल हो उठा है और मैं धैर्य या शांति नहीं रख सकता। २४

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

प्रलयकाल के अग्नि के समान और विकराल दाढ़ोंवाला आपका मुख देखकर न मुझे दिशाएं जान पड़ती हैं, न शांति मिलती है। हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइए। २५

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

सब राजाओं के संघसहित, धृतराष्ट्र के ये पुत्र, भीष्म, द्रोणाचार्य, यह सूतपुत्र कर्ण और हमारे मुख्य योद्धा, विकराल दाढ़ोंवाले आपके भयानक मुख में वेगपूर्वक प्रवेश कर रहे हैं। कितनों के ही सिर चूर होकर आपके दांतों के बीच में लगे हुए दिखाई देते हैं। २६-२७

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

जिस प्रकार नदियों की बड़ी धाराएं समुद्र की ओर दौड़ती हैं, उसी प्रकार आपके धधकते हुए मुख में ये लोक-नायक प्रवेश कर रहे हैं। २८

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गाः
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

जलते हुए दीपक में जैसे पतंग बढ़ते हुए वेग से पड़ते हैं, वैसे ही आपके मुख में भी सब लोग बढ़ते हुए वेग से प्रवेश कर रहे हैं। २९

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

सब लोकों को सब ओर से निगलकर आप अपने धधकते हुए मुख से चाट रहे हैं। हे सर्वव्यापी विष्णु ! आपका उग्र प्रकाश समूचे जगत को तेज से पूरित कर रहा है और तपा रहा है। ३०

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

उग्ररूप आप कौन हैं सो मुझसे कहिए। हे देववर ! आप प्रसन्न होइए। आप जो आदि कारण हैं उन्हें मैं जानना चाहता हूं। आपकी प्रवृत्ति मैं नहीं जानता। ३१

श्रीभगवानुवाच
कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

श्री भगवान बोले—

लोकों का नाश करनेवाला, बढ़ा हुआ मैं काल हूं। लोकों का नाश करने के लिए यहां आया हूं। प्रत्येक सेना में जो ये सब योद्धा आये हुए हैं उनमें से कोई तेरे लड़ने से इनकार करने पर भी बचनेवाला नहीं है। ३२

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

इसलिए तू उठ खड़ा हो, कीर्ति प्राप्त कर, शत्रु को जीतकर धन-धान्य से भरा हुआ राज्य भोग। इन्हें मैंने पहले से ही मार रखा है। हे सव्यसाची ! तू तो केवल निमित्त रूप बन। ३३

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और अन्यान्य योद्धाओं को मैं मार ही चुका हूं। उन्हें तू मार। डर मत, लड़। शत्रु को तू रण में जीतने को है। ३४

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

संजय ने कहा—

केशव के ये वचन सुनकर हाथ जोड़े, कांपते, बारंबार नमस्कार करते हुए, डरते-डरते प्रणाम करके मुकुटधारी अर्जुन

श्रीकृष्ण से गद्‌गद् कंठ से इस प्रकार बोले। ३५

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

अर्जुन बोले—

हे हृषीकेश ! आपका कीर्तन करके जगत को जो हर्ष होता है और आपके लिए जो अनुराग उत्पन्न होता है वह उचित्त ही है। भयभीत राक्षस इधर-उधर भाग रहे हैं और सिद्धों का सारा समुदाय आपको नमस्कार कर रहा है। ३६

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

हे महात्मन् ! ये आपको क्यों नमस्कार न करें ? आप ब्रह्मा से भी बड़े आदिकर्ता हैं। हे अनंत, हे देवेश, हे जगन्निवास ! आप अक्षर हैं, असत् हैं और इससे जो परे है वह भी आप ही हैं। ३७

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

आप आदि देव हैं। आप पुराण-पुरुष हैं। आप इस विश्व के परम आश्रयस्थान हैं। आप जाननेवाले हैं और जानने योग्य हैं। आप परमधाम हैं। हे अनंतरूप ! इस जगत में आप व्याप्त हो रहे हैं। ३८

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चंद्र, प्रजापति, प्रपितामह आप ही हैं। आपको हजारों बार नमस्कार पहुंचे और फिर-फिर आपको नमस्कार पहुंचे। ३९

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

हे सर्व ! आपको आगे, पीछे, सब ओर से नमस्कार है। आप का वीर्य अनंत है, आपकी शक्ति अपार है, सब आप ही धारण करते हैं, इसलिए आप सर्व हैं। ४०

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

मित्र जानकर और आपकी यह महिमा न जानकर, 'हे कृष्ण !' 'हे यादव !' 'हे सखा !' इस प्रकार संबोधनकर मुझसे भूल में या प्रेम में भी जो अविवेक हुआ हो और विनोदार्थ खेलते, सोते, बैठते या खाते अर्थात् सोहबत में आपका जो कुछ अपमान हुआ हो उसे क्षमा करने के लिए मैं आपसे प्रार्थना करता हूं।
४१-४२

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

स्थावर-जंगम जगत के आप पिता हैं। आप उसके पूज्य और श्रेष्ठ गुरु हैं। आपके समान कोई नहीं है तो आपसे अधिक तो कहां से हो सकता है? तीनों लोक में आपके सामर्थ्य का जोड़ नहीं है। ४३

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

इसलिए साष्टांग नमस्कार करके आपसे, पूज्य ईश्वर से प्रसन्न होने की प्रार्थना करता हूं। हे देव! जिस तरह पिता पुत्र को, सखा सखा को सहन करता है वैसे आप मेरे प्रिय होने के कारण मेरे कल्याण के लिए मुझे सहन करने योग्य हैं। ४४

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेप मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

पहले न देखा हुआ आपका ऐसा रूप देखकर मेरे रोएं खड़े हो गए हैं और भय से मेरा मन व्याकुल हो गया है। इसलिए, हे देव! अपना पहले का रूप दिखलाइए। हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होइए। ४५

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

पूर्व की भांति आपका—मुकुट, गदा, चक्रधारी का दर्शन करना चाहता हूं! हे सहस्रबाहु! हे विश्वमूर्ति! अपना चतुर्भुज रूप धारण कीजिए। ४६

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

श्री भगवान बोले—

हे अर्जुन ! तुझपर प्रसन्न होकर तुझे मैंने अपनी शक्ति से अपना तेजोमय, विश्वव्यापी, अनंत, परम, आदि रूप दिखाया है। यह तेरे सिवा और किसीने पहले नहीं देखा है। ४७

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

हे कुरुप्रवीर ! वेदाभ्यास से, यज्ञ से, अन्यान्य शास्त्रों के अध्ययन से, दान से, क्रियाओं से, या उग्र तपों से तेरे सिवा दूसरा कोई यह मेरा रूप देखने में समर्थ नहीं है। ४८

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

यह मेरा विकराल रूप देखकर तू घबरा मत, मोह में मत पड़। डर छोड़कर शांत चित्त हो और यह मेरा परिचित रूप फिर देख। ४९

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

संजय ने कहा—

यों वासुदेव ने अर्जुन से कहकर अपना रूप फिर दिखाया और फिर शांत मूर्ति धारण करके भयभीत अर्जुन को उस महात्मा ने आश्वासन दिया। ५०

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

अर्जुन बोले—

हे जनार्दन ! यह आपका सौम्य मानव स्वरूप देखकर अब मैं शांत हुआ हूं और ठिकाने आ गया हूं। ५१

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥

श्रीभगवान बोले—

मेरा जो रूप तूने देखा उसके दर्शन बहुत दुर्लभ हैं। देवता भी वह रूप देखने को तरसते रहते हैं। ५२

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

जो मेरे दर्शन तूने किये हैं वह दर्शन न वेद से, न तप से, न दान से अथवा न यज्ञ से हो सकते हैं। ५३

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

परंतु हे अर्जुन ! हे परंतप ! मेरे संबंध में ऐसा ज्ञान, ऐसे मेरे दर्शन और मुझमें वास्तविक प्रवेश केवल अनन्य भक्ति से ही संभव है। ५४

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

हे पांडव ! जो सब कर्म मुझे समर्पण करता है, मुझ में परायण रहता है, मेरा भक्त बनता है, आसक्ति का त्याग करता है

और प्राणीमात्र में द्वेष-रहित होकर रहता है, वह मुझे पाता है। ५५

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्म विद्यान्तर्गत योग शास्त्र के श्री कृष्णार्जुन-संवाद का 'विश्वरूपदर्शनयोग' नामक ग्यारहवां अध्याय।

: १२ :

भक्तियोग

पुरुषोत्तम के दर्शन अनन्य भक्ति से ही होते हैं, भगवान के इस वचन के बाद तो भक्ति का स्वरूप ही सामने आना चाहिए। यह बारहवां अध्याय सबको कंठ कर लेना चाहिए। यह छोटे-से-छोटे अध्यायों में एक है। इसमें दिए हुए भक्त के लक्षण नित्य मनन करने योग्य हैं।

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

अर्जुन बोले—

इस प्रकार जो भक्त आपका निरंतर ध्यान धरते हुए आपकी उपासना करते हैं और जो आपके अविनाशी अव्यक्त स्वरूप का ध्यान धरते हैं, उनमें से कौन योगी श्रेष्ठ माना जायगा? १

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

श्रीभगवान बोले—

नित्य ध्यान करते हुए, मुझमें मन लगाकर जो श्रद्धापूर्वक

मेरी उपासना करता है उसे मैं श्रेष्ठ योगी मानता हूं। २

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

सब इंद्रियों को वश में रखकर, सर्वत्र समत्व का पालन करके जो दृढ़, अचल, धीर, अचिंत्य, सर्वव्यापी, अव्यक्त, अवर्णनीय, अविनाशी स्वरूप की उपासना करते हैं, वे सारे प्राणियों के हित में लगे हुए मुझे ही पाते हैं। ३-४

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

जिनका चित्त अव्यक्त में लगा हुआ है उन्हें कष्ट अधिक है। अव्यक्त गति को देहधारी कष्ट से ही पा सकता है। ५

टिप्पणी—देहधारी मनुष्य अमूर्त स्वरूप की केवल कल्पना ही कर सकता है, पर उसके पास अमूर्तस्वरूप के लिए एक भी निश्चयात्मक शब्द नहीं है, इसलिए उसे निषेधात्मक 'नेति' शब्द से संतोष करना ठहरा। इस दृष्टि से मूर्ति-पूजा का निषेध करनेवाले भी सूक्ष्म रीति से विचारा जाय तो मूर्ति-पूजक ही होते हैं। पुस्तक की पूजा करना, मंदिर में जाकर पूजा करना, एक ही दिशा में मुख रखकर पूजा करना, ये सभी साकार पूजा के लक्षण हैं। तथापि साकार के उस पार निराकार अचिंत्य स्वरूप है, इतना तो सबके समझ लेने में ही निस्तार है। भक्ति की पराकाष्ठा यह है कि भक्त भगवान में विलीन हो जाय और अंत में केवल एक अद्वितीय अरूपी भगवान ही रह जाय। पर इस स्थिति को साकार द्वारा सुलभता से पहुंचा जा सकता है, इसलिए निराकार को सीधे पहुंचने का मार्ग कष्टसाध्य बतलाया है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

परंतु हे पार्थ ! जो मुझमें परायण रहकर, सब कर्म मुझे समर्पण करके, एक निष्ठा से मेरा ध्यान धरते हुए मेरी उपासना करते हैं और मुझमें जिनका चित्त पिरोया हुआ है उन्हें मृत्युरूपी संसार-सागर से मैं झटपट पार कर लेता हूं। ६-७

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

अपना मन मुझमें लगा, अपनी बुद्धि मुझमें रख, इससे इस (जन्म) के बाद निःसंशय मुझे ही पावेगा। ८

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोशि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥९॥

जो तू मुझमें अपना मन स्थिर करने में असमर्थ हो तो, हे धनंजय ! अभ्यास-योग द्वारा मुझे पाने की इच्छा रखना। ९

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

ऐसा अभ्यास रखनें में भी तू असमर्थ हो तो कर्ममात्र मुझे अपर्ण कर और इस प्रकार मेरे निमित्त कर्म करते-करते भी तू मोक्ष पावेगा। १०

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

और जो मेरे निमित्त कर्म करने भर की तेरी शक्ति न हो तो यत्नपूर्वक सब कर्मों के फल का त्याग कर। ११

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासा-
ज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्याग-
स्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

अभ्यास-मार्ग से ज्ञान मार्ग श्रेयस्कर है। ज्ञान-मार्ग से ध्यान-मार्ग विशेष है और ध्यान-मार्ग से कर्म-फल-त्याग श्रेष्ठ है,

क्योंकि इस त्याग के अंत में तुरंत शांति ही होती है। १२

टिप्पणी—अभ्यास अर्थात् चित्त-वृत्ति-निरोध की साधना, ज्ञान अर्थात् श्रवण-मननादि, ध्यान अर्थात् उपासना। इनके फल-स्वरूप यदि कर्म-फल-त्याग न दिखाई दे तो वह अभ्यास अभ्यास नहीं है, ज्ञान ज्ञान नहीं है और ध्यान ध्यान नहीं है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

जो प्राणीमात्र के प्रति द्वेषरहित, सबका मित्र, दयावान, ममतारहित, अहंकाररहित, सुख-दुःख में समान, क्षमावान, सदा संतोषी, योगयुक्त, इंद्रिय निग्रही और दृढनिश्चयी है और मुझमें जिसने अपनी बुद्धि और मन अर्पण कर दिया है, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है। १३-१४

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

जिससे लोग उद्वेग नहीं पाते, जो लोगों से उद्वेग नहीं पाता, जो हर्ष, क्रोध, ईर्ष्या, भय, उद्वेग से मुक्त है, वह मुझे प्रिय है। १५

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

जो इच्छारहित है, पवित्र है, दक्ष (सावधान) है, तटस्थ चिंता-रहित है, संकल्पमात्र का जिसने त्याग किया है वह मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है। १६

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

जिसे हर्ष नहीं होता, जो द्वेष नहीं करता, जो चिंता नहीं करता, जो आशाएं नहीं बांधता, जो शुभाशुभ का त्याग करने वाला है, वह भक्तिपरायण मुझे प्रिय है। १७

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख—इन सब में जो समतावान है, जिसने आसक्ति छोड़ दी है, जो निंदा और स्तुति में समान भाव से बर्तता है और मौन धारण करता है, चाहे जो मिले उससे जिसे संतोष है, जिसका कोई अपना निजी स्थान नहीं है, जो स्थिर चित्तवाला है, ऐसा मुनि भक्त मुझे प्रिय है। १८-१९

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

यह पवित्र अमृतरूप ज्ञान जो मुझमें परायण रहकर श्रद्धापूर्वक सेवन करते हैं वे मेरे अतिशय प्रिय भक्त हैं। २०

ॐ तत्सत

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्म विद्यान्तर्गत योग-शास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन-संवाद का 'भक्तियोग' नामक बारहवां अध्याय।

: १३ :

क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

इस अध्याय में शरीर और शरीरी का भेद बतलाया है।

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

श्री भगवान बोले—

हे कौंतेय ! यह शरीर क्षेत्र कहलाता है और इसे जो

जानता है उसे तत्त्व ज्ञानी लोग क्षेत्रज्ञ कहते हैं। १

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

और हे भारत ! समस्त क्षेत्रों—शरीरों—में स्थित मुझको क्षेत्रज्ञ जान। मेरा मत है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद का ज्ञान ही ज्ञान है। २

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥

यह क्षेत्र क्या है, कैसा है, कैसे विकारवाला है, कहां से है और क्षेत्रज्ञ कौन है, उसकी शक्ति क्या है, यह मुझसे संक्षेप में सुन। ३

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥

विविध छंदों में, भिन्न-भिन्न प्रकार से और उदाहरण, युक्तियों द्वारा, निश्चययुक्त ब्रह्मसूचक वाक्यों में ऋषियों ने इस विषय को बहुत गाया है। ४

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः ॥५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

महाभूत, अहंता, बुद्धि, प्रकृति, दस इंद्रियां, एक मन, पाँच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतन शक्ति, धृति—यह अपने विकारोंसहित क्षेत्र संक्षेप में कहा है। ५-६

टिप्पणी—महाभूत पांच हैं—पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश। अहंकार अर्थात् शरीर के प्रति विद्यमान अहंता, अहंपना। अव्यक्त अर्थात् अदृश्य रहनेवाली माया, प्रकृति। दस इंद्रियों में पांच ज्ञानेंद्रियां—नाक, कान, आंख जीभ और चाम, तथा पांच कर्मेन्द्रियां—हाथ, पैर, मुंह और दो गुह्येंद्रियां। पांच गोचर अर्थात् पांच ज्ञानेंद्रियों के पांच विषय—सूँघना, सुनना,

देखना, चखना और छूना। संघात अर्थात् शरीर के तत्त्वों की परस्पर सहयोग करने की शक्ति। धृति अर्थात् धैर्यरूपी सूक्ष्म गुण नहीं, किंतु इस शरीर के परमाणुओं का एक दूसरे से सटे रहने का गुण। यह अहंभाव के कारण ही संभव है और यह अहंता अव्यक्त प्रकृति में विद्यमान है। मोहरहित मनुष्य इस अहंता का ज्ञानपूर्वक त्याग करता है और इस कारण मृत्यु के समय या दूसरे आघात से वह दुःख नहीं पाता। ज्ञानी-अज्ञानी सबको, अंत में तो, इस विकारी क्षेत्र का त्याग किये ही निस्तार है।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदोतोऽन्यथा ॥११॥

अमानित्व, अदंभित्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्य की सेवा, शुद्धता, स्थिरता, आत्मसंयम, इंद्रियों के विषयों में वैराग्य, अहंकार-रहितता, जन्म, मरण, जरा, व्याधि, दुःख और दोषों का निरंतर भान, पुत्र, स्त्री और गृह आदि में मोह तथा ममता का अभाव, प्रिय और अप्रिय में नित्य समभाव, मुझमें अनन्य ध्यानपूर्वक एक निष्ठ भक्ति, एकांत स्थान का सेवन, जन समूह में सम्मिलित होने की अरुचि, आध्यात्मिक ज्ञान की नित्यता का भान और आत्मदर्शन—यह सब ज्ञान कहलाता है। इससे जो उलटा है वह अज्ञान है। ७-८-९-१०-११

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

जिसे जाननेवाले मोक्ष पाते हैं वह ज्ञेय क्या है सो तुझसे कहूंगा । वह अनादि परब्रह्म है, वह न सत् कहा जा सकता है न असत् कहा जा सकता है । १२

टिप्पणी—परमेश्वर को सत् या असत् भी नहीं कहा जा सकता । किसी एक शब्द से उसकी व्याख्या या परिचय नहीं हो सकता, ऐसा वह गुणातीत स्वरूप है ।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरो मुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

जहां देखो वहीं उसके हाथ, पैर, आँखें, सिर, मुंह और कान हैं । सर्वत्र व्याप्त होकर वह इस लोक में विद्यमान है । १३

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

सब इंद्रियों के गुणों का आभास उसमें मिलता है तो भी वह स्वरूप इंद्रिय-रहित और सबसे अलिप्त है तथापि सबको धारण करने वाला है । वह गुण-रहित होने पर भी गुणों का भोक्ता है । १४

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

वह भूतों के बाहर है और अंदर भी है । वह गतिमान है और स्थिर भी है । सूक्ष्म होने के कारण वह अविज्ञेय है । वह दूर है और समीप भी है ।

टिप्पणी—जो उसे पहचानता है वह उसके अंदर है । गति और स्थिरता, शांति और अशांति हम लोग अनुभव करते हैं । और सब भाव उसीमें से उत्पन्न होते हैं, इसलिए वह गतिमान और स्थिर है । १५

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

भूतों में वह अविभक्त है और विभक्त-सरीखा भी विद्यमान है। वह जानने योग्य (ब्रह्म) प्राणियों का पालक, नाशक और कर्ता है। १६

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

ज्योतियों की भी वह ज्योति है, अंधकार से वह परे कहा जाता है। ज्ञान वही है, जानने योग्य वही है और ज्ञान से जो प्राप्त होता है वह भी वही है। वह सबके हृदय में मौजूद है। १७

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय के विषय में मैंने संक्षेप में बतलाया। इसे जानकर मेरा भक्त मेरे भाव को पाने योग्य बनता है। १८

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि जान। विकार और गुणों को प्रकृति से उत्पन्न हुआ जान। १९

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

कार्य और कारण का हेतु प्रकृति कही जाती है और पुरुष सुख-दुःख के भोग में हेतु कहा जाता है। २०

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

प्रकृति में रहनेवाला पुरुष प्रकृति में उत्पन्न होनेवाले गुणों को भोगता है और यह गुण संग भली-बुरी योनि में उसके जन्म का कारण बनता है। २१

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

टिप्पणी—प्रकृति को हम लोग लौकिक भाषा में माया के नाम से पुकारते हैं। पुरुष जीव है। माया अर्थात् मूलस्वभाव के वशीभूत हो जीव सत्त्व, रजस् या तमस् से होनेवाले कार्यों का फल भोगता है और इससे कर्मानुसार पुनर्जन्म पाता है।

इस देह में स्थित जो परमपुरुष है वह सर्वसाक्षी, अनुमति देनेवाला, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा भी कहलाता है। २२

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

जो मनुष्य इस प्रकार पुरुष और गुणमयी प्रकृति को जानता है, वह सब प्रकार के कार्य करता हुआ भी फिर जन्म नहीं पाता। २३

टिप्पणी—२, ६, १२ और अन्यान्य अध्यायों की सहायता से हम जान सकते हैं कि यह श्लोक स्वेच्छाचार का समर्थन करने वाला नहीं है, बल्कि भक्ति की महिमा बतलानेवाला है। कर्म-मात्र जीवन के लिए बंधनकर्ता हैं, किन्तु यदि वह सब कर्म परमात्मा को अपर्ण कर दे तो वह बंधनमुक्त हो जाता है और इस प्रकार जिसमें से कर्तृत्वरूपी अहंभाव नष्ट हो गया है और जो अंतर्यामी को चौबीस घंटे पहचान रहा है वह पाप कर्म कर ही नहीं सकता। पाप का मूल ही अभिमान है। जहां 'मैं' नहीं है वहां पाप नहीं है। यह श्लोक पाप कर्म न करने की युक्ति बतलाता है।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

कोई ध्यान-मार्ग से आत्मा द्वारा आत्मा को अपने में देखता है, कितने ही ज्ञान-मार्ग से और दूसरे कितने ही कर्ममार्ग से। २४

अन्ये त्वेमवजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

और कोई इन मार्गों को न जानने के कारण दूसरों से

परमात्मा के विषय में सुनकर, सुने हुए पर श्रद्धा रखकर और उसमें परायण रहकर उपासना करते हैं और वे भी मृत्यु को तर जाते हैं २५

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावर जंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

जो कुछ चर या अचर वस्तु उत्पन्न होती है वह, हे भरतर्षभ ! क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अर्थात् प्रकृति और पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुई जान। २६

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनिश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

समस्त नाशवान प्राणियों में अविनाशी परमेश्वर को समभाव से मौजूद जो जानता है वही उसका जाननेवाला है। २७

समं पश्यन्हि सर्वत्न समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

जो मनुष्य ईश्वर को सर्वत्र समभाव से अवस्थित देखता है वह अपने-आपका घात नहीं करता और इससे परमगति को पाता है। २८

टिप्पणी—समभाव से अवस्थित ईश्वर को देखनेवाला आप उसमें विलीन हो जाता है और अन्य कुछ नहीं देखता। इसलिए विकारवश न होकर मोक्ष पाता है; अपना शत्रु नहीं बनता।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

सर्वत्र प्रकृति ही कर्म करती है ऐसा जो समझता है और इसीलिए आत्मा को अकर्तारूप जानता है वही जानता है। २९

टिप्पणी—कैसे, जैसे कि सोते हुए मनुष्य का आत्मा निद्रा का कर्ता नहीं है, किंतु प्रकृति निद्रा का कर्म करती है। निर्विकार मनुष्य के नेत्र कोई गंदगी नहीं देखते। प्रकृति व्यभिचारणी नहीं है। अभिमानी पुरुष जब उसका स्वामी बनता है तब उस मिलाप में से विषय-विकार उत्पन्न होते हैं।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

जब वह जीवों का अस्तित्व पृथक् होने पर भी एक में ही स्थित देखता है और इसीलिए सारे विस्तार को उसीसे उत्पन्न हुआ समझता है तब वह ब्रह्म को पाता है। ३०

टिप्पणी—अनुभव से सबकुछ ब्रह्म में ही देखना ब्रह्म को प्राप्त करना है। उस समय जीव शिव से भिन्न नहीं रह जाता।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

हे कौंतेय ! यह अविनाशी परमात्मा अनादि और निर्गुण होने के कारण शरीर में रहता हुआ भी न कुछ करता और न किसीसे लिप्त होता है। ३१

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

जिस प्रकार सूक्ष्म होने के कारण सर्वव्यापी आकाश लिप्त नहीं होता, वैसे सब देह में रहनेवाला आत्मा लिप्त नहीं होता। ३२

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

जैसे एक ही सूर्य इस समूचे जगत को प्रकाश देता है, वैसे हे भारत ! क्षेत्री समूचे क्षेत्र को प्रकाशित करता है। ३३

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

जो ज्ञानचक्षु द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद और प्रकृति के बंधन से प्राणियों की मुक्ति कैसे होती है यह जानता है वह ब्रह्म को पाता है। ३४

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्त-

गंत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभाग-योग' नामक तेरहवां अध्याय।

: १४ :

गुणत्रयविभागयोग

गुणमयी प्रकृति का थोड़ा परिचय कराने के बाद स्वभावतः तीनों गुणों का वर्णन इस अध्याय में आता है और यह करते हुए गुणातीत के लक्षण भगवान गिनाते हैं। दूसरे अध्याय में जो लक्षण स्थितप्रज्ञ के दिखाई देते हैं, बारहवें में जो भक्त के दिखाई देते हैं, वैसे इसमें गुणातीत के हैं।

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

श्रीभगवान बोले—

ज्ञानों में जिस उत्तम ज्ञान का अनुभव करके सब मुनियों ने यह शरीर छोड़ने पर परम गति पाई है वह मैं तुझसे फिर कहूंगा। १

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

इस ज्ञान का आश्रय लेकर जिन्होंने मेरे भाव को प्राप्त किया है उन्हें उत्पत्तिकाल में जन्मना नहीं पड़ता और प्रलय-काल में व्यथा भोगनी नहीं पड़ती। २

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥

हे भारत! महद्ब्रह्म अर्थात् प्रकृति मेरी योनि है। उसमें मैं गर्भाधान करता हूं और उससे प्राणीमात्र की उत्पत्ति होती है। ३

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

हे कौंतेय ! सब योनियों में जिन-जिन प्राणियों की उत्पत्ति होती है उनकी उत्पत्ति का स्थान मेरी प्रकृति है और उसमें बीजारोपण करनेवाला पिता—पुरुष—मैं हूं। ४

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

हे महाबाहो ? सत्त्व, रजस् और तमस् प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले गुण हैं। वे अविनाशी देहधारी—जीव—को देह के संबंध में बांधते हैं। ५

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥६॥

इनमें सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाशक और आरोग्य-कर है, और हे अनघ ! वह देही को सुख के और ज्ञान के संबंध में बांधता है। ६

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥७॥

हे कौंतेय ! रजोगुण रागरूप होने से तृष्णा और आसक्ति का मूल है, वह देहधारी को कर्मपाश में बांधता है। ७

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥

हे भारत ! तमोगुण अज्ञानमूलक है। वह देहधारी मात्र को मोह में डालता है और वह देही को असावधानी, आलस्य तथा निद्रा के पाश में बांधता है। ८

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥९॥

हे भारत ! सत्त्व आत्मा को शांतिसुख का संग कराता है, रजस् कर्म का और तमस् ज्ञान को ढककर प्रमाद का संग कराता है। ९

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रज: सत्त्वं तमश्चैव तम: सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

हे भारत ! जब रजस् और तमस् दबते हैं तब सत्त्व ऊपर आता है, जब सत्त्व और तमस् दबते हैं तब रजस् और जब सत्त्व तथा रजस् दबते हैं तब तमस् उभरता है। १०

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

सब इंद्रियों द्वारा इस देह में जब प्रकाश और ज्ञान का उद्‌भव होता है तब सत्त्वगुण की वृद्धि हुई है ऐसा जानना चाहिए। ११

लोभ: प्रवृत्तिरारम्भ: कर्मणामशम: स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

हे भरतर्षभ ! जब रजोगुण की वृद्धि होती है तब लोभ प्रवृत्ति, कर्मों का आरंभ, अशांति और इच्छा का उदय होता है। १२

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

हे कुरुनंदन ! जब तमोगुण की वृद्धि होती है तब अज्ञान, मंदता, असावधानी और मोह उत्पन्न होता है। १३

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥

सत्त्वगुण की वृद्धि हुई होने पर देहधारी मरता हैं तो वह उत्तम ज्ञानियों के निर्मल लोक को पाता है। १४

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

रजोगुण में मृत्यु होने पर देहधारी कर्मसंगी के लोक में जन्मता है और तमोगुण में मृत्यु पानेवाला मूढ़योनि में जन्मता है। १५

टिप्पणी—कर्मसंगी से तात्पर्य है मनुष्यलोक और मूढ़योनि से तात्पर्य है पशु इत्यादि लोक।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

सत्कर्म का फल सात्त्विक और निर्मल होता है। राजसी कर्म का फल दुःख होता है और तामसी कर्म का फल अज्ञान होता है। १६

टिप्पणी—जिसे हम लोग सुख-दुःख मानते हैं यहां उस सुख-दुःख का उल्लेख नहीं समझना चाहिए। सुख से मतलब है आत्मानंद, आत्मप्रकाश। इससे जो उलटा है वह दुःख है। १७वें श्लोक में यह स्पष्ट हो जाता है।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

सत्त्वगुण में से ज्ञान उत्पन्न होता है। रजोगुण में से लोभ और तमोगुण में से असावधानी, मोह और अज्ञान उत्पन्न होता है। १७

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

सात्त्विक मनुष्य ऊंचे चढ़ते हैं, राजसी मध्य में रहते हैं और अंतिम गुणवाले तामसी अधोगति पाते हैं। १८

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

ज्ञानी जब ऐसा देखता है कि गुणों के सिवा और कोई कर्ता नहीं है और जो गुणों से परे है उसे जानता है तब वह मेरे भाव को पाता है। १९

टिप्पणी—गुणों को कर्त्ता माननेवाले को अहंभाव होता ही नहीं। इससे उसके सब काम स्वाभाविक और शरीर-यात्रा भर के लिए होते हैं। और शरीर-यात्रा परमार्थ के लिए ही होती है, इसलिए उसके सारे कामों में निरंतर त्याग और

वैराग्य होना चाहिए। ऐसा ज्ञानी स्वभावतः गुणों से परे निर्गुण ईश्वर की भावना करता और उसे भजता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।।२०।।

देह के संग से उत्पन्न होनेवाले इन तीन गुणों को पार करके देहधारी जन्म, मृत्यु और जरा के दुःख से छूट जाता है और मोक्ष पाता है। २०

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ।।२१।।

अर्जुन बोले—

हे प्रभो! इन गुणों को तर जानेवाला किन लक्षणों से पहचाना जाता है? उसके आचार क्या होते हैं? और वह तीनों गुणों को किस प्रकार पार करता है। २१

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ।।२२।।
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ।।२३।।
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुति ।।२४।।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।।२५।।

श्रीभगवान बोले—

हे पांडव! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह प्राप्त होने पर जो दुःख नहीं मानता और इनके प्राप्त न होने पर इनकी इच्छा नहीं करता, उदासीन की भांति जो स्थिर है, जिसे गुण विचलित नहीं करते, गुण ही अपना काम कर रहे हैं यह मानकर जो स्थिर रहता है और विचलित नहीं होता, जो सुख-दुःख में

सम रहता है, स्वस्थ रहता है, मिट्टी के ढेले, पत्थर और सोने को समान समझता है, प्रिय अथवा अप्रिय वस्तु प्राप्त होने पर एक समान रहता है, ऐसा बुद्धिमान जिसे अपनी निंदा या स्तुति समान है, जिसे मान और अपमान समान है, जो मित्रपक्ष और शत्रुपक्ष में समान भाव रखता है और जिसने समस्त आरंभों का त्याग कर दिया है, वह गुणातीत कहलाता है।

२२-२३-२४-२५

टिप्पणी—२२ से २५ तक के श्लोक एक साथ विचारने योग्य हैं, प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह पिछले श्लोक में कहे अनुसार क्रम से सत्त्व, रजस् और तमस् के परिणाम अथवा चिह्न हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जो गुणों को पार कर गया है, उसपर उस परिणाम का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पत्थर प्रकाश की इच्छा नहीं करता, न प्रवृत्ति या जड़ता का द्वेष करता है। उसे बिना चाहे शांति है, उसे कोई गति देता है तो वह उसका द्वेष नहीं करता। गति देने के बाद उसे ठहरा करके रख देता है तो इससे, प्रवृत्ति—गति बंद हो गई, मोह—जड़ता प्राप्त हुई, ऐसा सोचकर वह दुखी नहीं होता, वरन् तीनों स्थितियों में वह एक समान बर्तता है। पत्थर और गुणातीत में अंतर यह है कि गुणातीत चेतनमय है और उसने ज्ञानपूर्वक गुणों के परिणामों का—स्पर्श का त्याग किया है और जड़—पत्थर-सा बन गया है। पत्थर गुणों का अर्थात् प्रकृति के कार्यों का साक्षी है, पर कर्ता नहीं है, वैसे ज्ञानी उसका साक्षी रहता है, कर्ता नहीं रह जाता। ऐसे ज्ञानी के संबंध में यह कल्पना की जा सकती है कि वह २३वें श्लोक के कथनानुसार 'गुण अपना काम किया करते हैं' यह मानता हुआ विचलित नहीं होता और अचल रहता है, उदासीन-सा रहता है—अडिग रहता है। यह स्थिति गुणों में तन्मय हुए हम लोग धैर्यपूर्वक केवल कल्पना करके समझ सकते हैं, अनुभव नहीं कर सकते। परंतु उस कल्पना को दृष्टि में रखकर हम 'मैं' पने को दिन-दिन घटाते जायं तो अंत में गुणातीत की अवस्था

के समीप पहुंचकर उसकी झांकी कर सकते हैं। गुणातीत अपनी स्थिति का अनुभव करता है, वर्णन नहीं कर सकता। जो वर्णन कर सकता है वह गुणातीत नहीं है, क्योंकि उसमें अहंभाव मौजूद है। जिसे सब लोग सहज में अनुभव कर सकते हैं वह शांति, प्रकाश, 'धांधल'—प्रवृत्ति और जड़ता—मोह है। गीता में स्थान-स्थान पर इसे स्पष्ट किया है कि सात्त्विकता गुणातीत के समीप-से-समीप की स्थिति है इसलिए मनुष्यमात्र का प्रयत्न सत्त्वगुण के विकास करने का है। यह विश्वास रखे कि उसे गुणातीतता अवश्य प्राप्त होगी।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

जो एकनिष्ठ भक्तियोग द्वारा मुझे सेता है वह इन गुणों को पार करके ब्रह्मरूप बनने योग्य होता है। २६

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

और ब्रह्म की स्थिति मैं ही हूं, शाश्वत मोक्ष की स्थिति मैं हूं। वैसे ही सनातन धर्म की और उत्तम सुख की स्थिति भी मैं ही हूं। २७

ॐ तत्सत्

इति श्रीमदभगवदगीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन-संवाद का 'गुणत्रयविभागयोग' नामक चौदहवां अध्याय।

: १५ :

पुरुषोत्तमयोग

भगवान ने इस अध्याय में क्षर और अक्षर से परे अपना उत्तम स्वरूप समझाया है।

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥१॥

श्रीभगवान बोले—

जिसका मूल ऊंचे है, जिसकी शाखा नीचे है और वेद जिसके पत्ते हैं, ऐसे अविनाशी अश्वत्थ वृक्ष का बुद्धिमान लोगों ने वर्णन किया है, इसे जो जानते हैं वे वेद के जाननेवाले ज्ञानी हैं। १

टिप्पणी—'श्वः' का अर्थ है आनेवाला कल। इसलिए अश्वत्थ का मतलब है आगामी कलतक न टिकनेवाला क्षणिक संसार। संसार का प्रतिक्षण रूपांतर हुआ करता है इससे वह अश्वत्थ है; परंतु ऐसी स्थिति में वह सदा रहनेवाला होने के कारण तथा उसका मूल ऊर्ध्व अर्थात् ईश्वर है, इस कारण वह अविनाशी है उसमें यदि वेद अर्थात् धर्म के शुद्ध ज्ञानरूपी पत्ते न हों तो वह शोभा नहीं दे सकता। इस प्रकार संसार का यथार्थ ज्ञान जिसे है और जो धर्म को जाननेवाला है वह ज्ञानी है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥२॥

गुणों के स्पर्श द्वारा बढ़ी हुई और विषयरूपी कोंपलोंवाली उस अश्वत्थ की डालियां नीचे-ऊपर फैली हुई हैं; कर्मों का बंधन करनेवाली उसकी जड़ें मनुष्य-लोक में नीचे फैली हुई हैं। २

टिप्पणी—यह संसार-वृक्ष का अज्ञानी की दृष्टिवाला वर्णन है। उसके ऊंचे ईश्वर में रहनेवाले मूल को वह नहीं देखता, बल्कि विषयों की रमणीयता पर मुग्ध रहकर, तीनों गुणों द्वारा इस वृक्ष का पोषण करता है और मनुष्यलोक में कर्म-पाश में बंधा हुआ रहता है।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

उसका यथार्थ स्वरूप देखने में नहीं आता। उसका अंत नहीं है, आदि नहीं है, नींव नहीं है। खूब गहराई तक गई हुई जड़ोंवाले इस अश्वत्थ वृक्ष को असंगरूपी बलवान शस्त्र से काट-कर मनुष्य यह प्रार्थना करे—

'जिसने सनातन प्रवृत्ति—माया—को फैलाया है उस आदि पुरुष की मैं शरण जाता हूं।' और उस पद को खोजे जिसे पानेवाले को पुनः जन्म-मरण के फेर में पड़ना नहीं पड़ता। ३-४

टिप्पणी—असंग से मतलब है असहयोग, वैराग्य। जबतक मनुष्य विषयों से असहयोग न करे, उनके प्रलोभनों से दूर न रहे तबतक वह उनमें फंसता ही रहेगा। इस श्लोक का आशय यह है कि विषयों के साथ खेल खेलना और उनसे अछूता रहना यह अनहोनी बात है।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

जिसने मान-मोह का त्याग किया है, जिसने आसक्ति से होनेवाले दोषों को दूर किया है, जो आत्मा में नित्य निमग्न है, जिसके विषय शांत हो गये हैं, जो सुख-दुःखरूपी द्वंद्वों से मुक्त है वह ज्ञानी अविनाशी पद को पाता है। ५

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

वहां सूर्य को, चंद्र को या अग्नि को प्रकाश नहीं देना पड़ता। जहां जानेवाले को फिर जन्मना नहीं पड़ता, वह मेरा परमधाम है। ६

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

मेरा ही सनातन अंश जीवलोक में जीव होकर प्रकृति में रहनेवाली पांच इंद्रियों को और मन को आकर्षित करता है। ७

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

(जीव बना हुआ यह मेरा अंशरूपी) ईश्वर जब शरीर धारण करता है या छोड़ता है तब यह उसी तरह (मन के साथ इंद्रियों को) साथ ले जाता है। जैसे वायु आस-पास के मंडल में से गंध ले जाता है। ८

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

और वह कान, आंख, त्वचा, जीभ, नाक और मन का आश्रय लेकर विषयों का सेवन करता है। ९

टिप्पणी—यहां 'विषय' शब्द का अर्थ बीभत्स विलास नहीं है, बल्कि प्रत्येक इंद्रिय की स्वाभाविक क्रिया है, जैसे आंख का विषय है देखना, कान का सुनना, जीभ का चखना। ये क्रियाएं जब विकारवाली, अहंभाववाली होती हैं तब दूषित-बीभत्स ठहरती हैं। जब निर्विकार होती हैं तब वे निर्दोष हैं। बच्चा आंख से देखता या हाथ से छूता हुआ विकार नहीं पाता, इसलिए नीचे के श्लोक में कहते हैं—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

(शरीर का) त्याग करनेवाले या उसमें रहनेवाले अथवा

गुणों का आश्रय लेकर भोग भोगनेवाले को (इस अंशरूपी ईश्वर को), मूर्ख नहीं देखते, किंतु दिव्यचक्षु ज्ञानी देखते हैं। १०

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

यत्न करते हुए योगीजन अपने में स्थित (इस ईश्वर) को देखते हैं। जिन्होंने आत्म-शुद्धि नहीं की है, ऐसे मूढ़जन यत्न करते हुए भी इसे नहीं पहचानते। ११

टिप्पणी—इसमें और नवें अध्याय में दुराचारी को भगवान ने जो वचन दिया है उसमें विरोध नहीं है। अकृतात्मा से तात्पर्य है भक्तिहीन। स्वेच्छाचारी, दुराचारी जो नम्रतापूर्वक श्रद्धा से ईश्वर को भजता है वह आत्मशुद्ध हो जाता है और ईश्वर को पहचानता है। जो यम-नियमादि की परवाह न कर केवल बुद्धि-प्रयोग से ईश्वर को पहचानना चाहते हैं, वे अचेता—चित्त से रहित, राम से रहित, राम को नहीं पहचान सकते।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

सूर्य में विद्यमान जो तेज समूचे जगत को प्रकाशित करता है और जो तेज चंद्र में तथा अग्नि में विद्यमान है, वह मेरा है, ऐसा जान। १२

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

पृथ्वी में प्रवेश करके अपनी शक्ति से मैं प्राणियों को धारण करता हूं और रसों को उत्पन्न करनेवाला चंद्र बनकर समस्त वनस्पतियों का पोषण करता हूं। १३

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

प्राणियों के शरीर का आश्रय लेकर जठराग्नि होकर प्राण और अपान वायु के द्वारा मैं चार प्रकार का अन्न

पचाता हूं।

१४

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

सबके हृदय में अधिष्ठित मेरे द्वारा स्मृति, ज्ञान और उनका अभाव होता है। समस्त वेदों द्वारा जानने योग्य मैं ही हूं, वेदों का जाननेवाला मैं हूं, वेदांत का प्रकट करनेवाला भी मैं ही हूं।

१५

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

इस लोक में क्षर अर्थात् नाशवान और अक्षर अर्थात् अविनाशी दो पुरुष हैं। भूतमात्र क्षर हैं और उनमें जो स्थिर रहनेवाला अंतर्यामी है वह अक्षर कहलाता है।

१६

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

इसके सिवा उत्तम पुरुष और है। वह परमात्मा कहलाता है। यह अव्यय ईश्वर तीनों लोक में प्रवेश करके उनका पोषण करता है।

१७

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

क्योंकि मैं क्षर से पर और अक्षर से भी उत्तम हूं, इसलिए वेदों और लोकों में पुरुषोत्तम नाम से प्रख्यात हूं।

१८

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

हे भारत! मोहरहित होकर मुझ पुरुषोत्तम को इस प्रकार जो जानता है वह सब जानता है और मुझे पूर्णभाव से भजता है।

१९

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

हे अनघ ! यह गुह्य-से-गुह्य शास्त्र मैंने तुझसे कहा। हे भारत ! इसे जानकर मनुष्य को चाहिए कि वह बुद्धिमान बने और अपना जीवन सफल करे। २०

ॐ तत्सत्

इस श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का 'पुरुषोत्तमयोग' नामक पंद्रहवां अध्याय।

: १६ :

दैवासुरसंपद्विभागयोग

इस अध्याय में दैवी और आसुरी संपद् का वर्णन है।

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

श्रीभगवान बोले—

हे भारत ! अभय, अंतःकरण की शुद्धि, ज्ञान और योग में निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शांति, अपैशुन, भूतदया, अलोलुपता, मृदुता, मर्यादा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, निरभिमान—इतने गुण उसमें होते हैं जो दैवी संपत् को लेकर जन्मा है। १-२-३

टिप्पणी—दम अर्थात् इंद्रियनिग्रह, अपैशुन अर्थात् किसी-की चुगली न करना, अलोलुपता अर्थात् लालसा न रखना—लंपट न होना, तेज अर्थात् प्रत्येक प्रकार की हीन-वृत्ति का विरोध करने का जोश, अद्रोह अर्थात् किसी का बुरा न चाहना या करना।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥४॥

दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य, अज्ञान, हे पार्थ! इतने आसुरी संपत् लेकर जन्मनेवालों में होते हैं। ४

टिप्पणी—जो अपने में नहीं है वह दिखाना दंभ है, ढोंग है, पाखंड है। दर्प यानी बड़ाई, पारुष्य का अर्थ है कठोरता।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

दैवी संपत् मोक्ष देनेवाली और आसुरी (संपत्) बंधन में डालनेवाली मानी गई है। हे पांडव! तू विषाद मत कर। तू दैवी संपत् लेकर जन्मा है। ५

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

इस लोक में दो प्रकार की सृष्टि है—दैवी और आसुरी। हे पार्थ! दैवी का विस्तार से वर्णन किया गया। आसुरी का (अब) सुन। ६

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

आसुर लोग यह नहीं जानते कि वृत्ति क्या है, निवृत्ति क्या है। वैसे ही उन्हें शौच का, आचार का और सत्य का भान नहीं है। ७

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥

वे कहते हैं, जगत असत्य, निराधार और ईश्वररहित है।

केवल नर-मादा के संबंध से हुआ है। उसमें विषय-भोग के सिवा और क्या हेतु हो सकता है ? ८

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

भयंकर काम करनेवाले, मंदमति, दुष्टगण इस अभिप्राय को पकड़े हुए जगत के शत्रु, उसके नाश के लिए उत्पन्न होते हैं। ९

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

तृप्त न होनेवाली कामनाओं से भरपूर, दंभी, मानी, मदांध, अशुभ निश्चयवाले मोह से दुष्ट इच्छाएं ग्रहण करके प्रवृत्त होते हैं। १०

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥१२॥

प्रलयपर्यंत अंत ही न होनेवाली ऐसी अपरिमित चिंता का आश्रय लेकर, कामों के परमभोगी, 'भोग ही सर्वस्व है', ऐसा निश्चय करनेवाले, सैकड़ों आशाओं के जाल में फंसे हुए, कामी, क्रोधी, विषय-भोग के लिए अन्यायपूर्वक धन-संचय की चाह रखते हैं। ११-१२

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि
कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य
इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

आज मैंने यह पाया, यह मनोरथ (अब) पूरा करूंगा, इतना धन मेरे पास है, फिर कल इतना और मेरा हो जायगा, इस शत्रु को तो मारा, दूसरे को भी मारूंगा, मैं सर्वसंपन्न हूं भोगी हूं, सिद्ध हूं, बलवान हूं, सुखी हूं, मैं श्रीमान हूं, कुलीन हूं, मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं यज्ञ करूंगा, दान दूंगा, मौज करूंगा—अज्ञान से मूढ़ हुए लोग ऐसा मानते हैं और अनेक भ्रांतियों में पड़े, मोहजाल में फंसे, विषयभोग में मस्त हुए अशुभ नरक में गिरते हैं। १३-१४-१५-१६

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

अपने को बड़ा माननेवाले, अकड़बाज, धन तथा मान के मद में मस्त हुए (ये लोग) दंभ से और विधिरहित नाममात्र के ही यज्ञ करते हैं। १७

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अहंकार, बल, घमंड, काम और क्रोध का आश्रय लेनेवाले, निंदा करनेवाले और उनमें तथा दूसरों में रहनेवाला जो मैं, उसका वे द्वेष करनेवाले हैं। १८

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

इन नीच, द्वेषी, क्रूर अमंगल नराधमों को मैं इस संसार की अत्यंत आसुरी योनि में ही बारबार डालता हूं। १९

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

हे कौंतेय ! जन्म-जन्म आसुरी योनि को पाकर और मुझे न पाने से मूढ़ लोग इससे भी अधिक अधम गति पाते हैं। २०

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

आत्मा का नाश करनेवाले नरक के ये त्रिविध द्वार हैं—काम, क्रोध और लोभ। इसलिए इन तीन का मनुष्य को त्याग करना चाहिए। २१

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

हे कौंतेय ! इस त्रिविध नरकद्वार से दूर रहनेवाला मनुष्य आत्मा के कल्याण का आचरण करता है और इससे परम गति को पाता है। २२

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

जो मनुष्य शास्त्रविधि को छोड़कर स्वेच्छा से भोगों में लीन होता है वह न सिद्धि पाता है, न सुख पाता है, न परमगति पाता है। २३

टिप्पणी—शास्त्रविधि का अर्थ धर्म के नाम से माने जानेवाले ग्रंथों में बतलाई हुई अनेक क्रियाएं नहीं, बल्कि अनुभवज्ञानवाले सत्पुरुषों का अनुभव किया हुआ संयम-मार्ग है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

इसलिए कार्य और अकार्य का निर्णय करने में तुझे शास्त्र को प्रमाण मानना चहिए। शास्त्र-विधि क्या है, यह जानकर यहां तुझे कर्म करना उचित है। २४

टिप्पणी—जो ऊपर बतलाया जा चुका है, शास्त्र का वही अर्थ यहां भी है। सबको निज-निज के नियम बनाकर स्वेच्छाचारी न वनना चाहिए, बल्कि धर्म के अनुभवी के वाक्य को प्रमाण मानना चाहिए, यह इस श्लोक का आशय है।

ॐतत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्त-

गंत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का 'दैवासुरसंपद्विभाग-योग' नामक सोलहवां अध्याय ।

: १७ :

श्रद्धात्रयविभागयोग

शास्त्र अर्थात् शिष्टाचार को प्रमाण मानना चाहिए, यह सुनकर अर्जुन को शंका हुई कि जो शिष्टाचार को न मान सके, पर श्रद्धापूर्वक आचरण करे उसकी कैसी गति होती है । इस अध्याय में इसका उत्तर देने का प्रयत्न है, परंतु शिष्टाचाररूपी दीपस्तंभ छोड़ देने के बाद की श्रद्धा में भयों की संभावना बतलाकर भगवान ने संतोष माना है । इसलिए श्रद्धा और उसके आधार पर होनेवाले यज्ञ, तप, दान आदि के गुणानुसार तीन भाग करके दिखाये हैं और 'ॐ तत्सत्' की महिमा गाई है ।

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वाहो रजस्तमः ।।१।।

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण ! शास्त्रविधि अर्थात् शिष्टाचार की परवा न कर जो केवल श्रद्धा से ही पूजादि करते हैं उनकी गति कैसी होती है ?—सात्त्विक, राजसी व तामसी ? १

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ।।२।।

श्री भगवान बोले—

मनुष्य में स्वभाव से ही तीन प्रकार की श्रद्धा अर्थात् सात्त्विक, राजसी और तामसी होती है, वह तू सुन । २

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

हे भारत ! सबकी श्रद्धा अपने स्वभाव का अनुसरण करती है। मनुष्य में कुछ-न-कुछ श्रद्धा तो होती ही है। जैसी जिसकी श्रद्धा, वैसा वह होता है। ३

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

सात्त्विक लोग देवताओं को भजते हैं, राजस लोग यक्षों और राक्षसों को भजते हैं और दूसरे तामस लोग भूतप्रेतादि को भजते हैं। ४

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यवासुरनिश्चयान् ॥६॥

दंभ और अहंकारवाले, काम और राग के बल से प्रेरित जो लोग शास्त्रीय विधि से रहित घोर तप करते हैं, वे मूढ़ लोग शरीर में स्थित पंच महाभूतों को और अन्तःकरण में विद्यमान मुझको भी कष्ट देते हैं। ऐसों को आसुरी निश्चयवाला जान। ५-६

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

आहार भी तीन प्रकार से प्रिय होता है। उसी प्रकार यज्ञ, तप और दान (भी तीन प्रकार से प्रिय होता) है। उनका यह भेद तू सुन ! ७

आयुःसत्त्वबलारोग्य-
सुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या
आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

आयुष्य, सात्त्विकता, बल, आरोग्य, सुख और रुचि बढ़ाने

वाले, रसदार, चिकने पौष्टिक और मन को रुचिकर आहार सात्त्विक लोगों को प्रिय होते हैं। ८

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

तीखे, खट्टे, खारे, बहुत गरम, चरपरे, रूखे, दाहकारक आहार राजस लोगों को प्रिय होते हैं और वे दुःख, शोक तथा रोग उत्पन्न करनेवाले होते हैं। ९

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

पहर भर से पड़ा हुआ, नीरस, दुर्गंधित, बासी, जूठा, अपवित्र भोजन तामस लोगों को प्रिय होता है। १०

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

जिसमें फल की इच्छा नहीं है, जो विधिपूर्वक कर्तव्य समझकर, मन को उसमें पिरोकर होता है वह यज्ञ सात्त्विक है। ११

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जो फल के उद्देश्य से और दंभ से होता है उस यज्ञ को राजसी जान। १२

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

जिसमें विधि नहीं है, अन्न की उत्पत्ति नहीं है, मंत्र नहीं है, त्याग नहीं है, श्रद्धा नहीं है, उस यज्ञ को बुद्धिमान लोग तामस यज्ञ कहते हैं। १३

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी की पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा—यह शारीरिक तप कहलाता है। १४

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

दुःख न देनेवाला, सत्य, प्रिय, हितकर वचन तथा धर्मग्रंथों का अभ्यास—यह वाचिक तप कहलाता है। १५

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, आत्मसंयम, भावना-शुद्धि यह मानसिक तप कहलाता है। १६

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

समभावयुक्त पुरुष जब फलेच्छा का त्याग करके परम श्रद्धापूर्वक यह तीन प्रकार का तप करते हैं तब उसे बुद्धिमान लोग सात्त्विक तप कहते हैं। १७

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

जो सत्कार, मान और पूजा के लिए दंभपूर्वक होता है वह अस्थिर और अनिश्चत तप, राजस कहलाता है। १८

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

जो तप कष्ट उठाकर, दुराग्रहपूर्वक अथवा दूसरे के नाश के लिए होता है वह तामस तप कहलाता है। १९

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

देना उचित है ऐसा समझकर, बदला मिलने की आशा के बिना देश, काल और पात्र को देखकर जो दान होता है उसे सात्त्विक दान कहा है। २०

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

जो दान बदला मिलने के लिए अथवा फल को लक्ष्य कर

और दुःख के साथ दिया जाता है वह राजसी दान कहा गया है। २१

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ।।२२।।

देश, काल और पात्र का विचार किये बिना, बिना मान का, तिरस्कार से दिया हुआ दान तामसी कहलाता है। २२

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ।।२३।।

ब्रह्म का वर्णन 'ॐ तत्सत्' इस तरह तीन प्रकार से हुआ हैं और इसके द्वारा पूर्वकाल में ब्राह्मण, वेद और यज्ञ निर्मित हुए। २३

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ।।२४।।

इसलिए ब्रह्मवादी 'ॐ' का उच्चारण करके यज्ञ, दान और तपरूपी क्रियाएं सदा विधवत् करते हैं। २४

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाःक्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ।।२५।।

और मोक्षार्थी 'तत्' का उच्चारण करके फल की आशा रख बिना यज्ञ, तप और दानरूपी विविध क्रियाएं करते हैं। २५

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ।।२६।।

सत्य और कल्याण के अर्थ में 'सत्' शब्द का प्रयोग होता है। और हे पार्थ! भले कामों में भी 'सत्' शब्द व्यवहृत होता है। २६

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।।२७।।

यज्ञ, तप और दान में दृढ़ता को भी सत् कहते हैं। तत् के निमित्त ही कर्म है, ऐसा संकल्प भी सत् कहलाता है। २७

टिप्पणी—उपर्युक्त तीन श्लोकों का भावार्थ यह हुआ कि प्रत्येक कर्म ईश्वरार्पण करके ही करना चाहिए, क्योंकि ओम ही सत् है, सत्य है। उसे अर्पण किया हुआ ही फलता है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

हे पार्थ! जो यज्ञ, दान, तप, या दूसरा कार्य बिना श्रद्धा के होता है वह असत् कहलाता है। वह तो न यहां के काम का है, न परलोक के। २८

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुनसंवाद का श्रद्धात्रयविभागयोग, नामक सत्रहवां अध्याय।

: १८ :

संन्यासयोग

इस अध्याय को उपसंहाररूप मानना चाहिए। इस अध्याय का या गीता का प्रेरक मन्त्र यह कहा जा सकता है—'सब धर्मों को तजकर मेरी शरण ले।' यह सच्चा संन्यास है, परंतु सब धर्मों के त्याग का मतलब सब कर्मों का त्याग नहीं है। परोपकार के कर्मों में भी जो सर्वोत्कृष्ट कर्म हों उन्हें उसे अर्पण करना और फलेच्छा का त्याग करना, यह सर्वधर्मत्याग या संन्यास है।

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशिनिषूदन! संन्यास और त्याग का पृथक्-पृथक् रहस्य मैं जानना चाहता हूं। १

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

काम्य (कामना से उत्पन्न हुए) कर्मों के त्याग को ज्ञानी संन्यास के नाम से जानते हैं । समस्त कर्मों के फल के त्याग को बुद्धिमान लोग त्याग कहते हैं । २

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

कितने ही विचारवान पुरुष कहते हैं कि कर्ममात्र दोषमय होने के कारण त्यागने योग्य हैं । दूसरों का कथन है कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं । ३

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४॥

हे भरतसत्तम ! इस त्याग के विषय के मेरा निर्णय सुन । हे पुरुषव्याघ्र ! त्याग का तीन प्रकार से वर्णन किया गया है । ४

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म त्याज्य नहीं है वरन् करने योग्य हैं । यज्ञ, दान और तप विवेकी को पावन करनेवाले हैं । ५

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गंत्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

हे पार्थ ! ये कर्म भी आसक्ति और फलेच्छा का त्याग करके करने चाहिए, ऐसा मेरा निश्चत उत्तम अभिप्राय है । ६

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

नियत कर्म का त्याग उचित नहीं है । मोह के वश होकर उसका त्याग किया जाय तो वह त्याग तामस माना जाता है । ७

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

दुःखकारक समझकर कायाकष्ट के भय से जो कर्म का त्याग करता है वह राजस त्याग है और इससे उसे त्याग का फल नहीं मिलता है। ८

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

हे अर्जुन ! 'करना चाहिए' ऐसा समझकर जो नियत कर्म संग और फल को त्यागकर किया जाता है वह त्याग ही सात्त्विक माना गया है। ९

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

संशयरहित हुआ, शुद्ध भावनावाला,त्यागी और बुद्धिमान असुविधाजनक कर्म का द्वेष नहीं करता, सुविधावाले में लीन नहीं होता। १०

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

कर्म का सर्वथा त्याग देहधारी के लिए संभव नहीं है; परंतु जो कर्म-फल का त्याग करता है वह त्यागी कहलाता है। ११

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

त्याग न करनेवाले के कर्म का फल कालांतर में तीन प्रकार का होता है। अशुभ, शुभ और शुभाशुभ। जो त्यागी (संन्यासी) है उसे कभी नहीं होता। १२

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

हे महाबाहो! कर्ममात्र की सिद्धि के विषय में सांख्यशास्त्र में पांच कारण कहे गये हैं। वे मुझसे जान। १३

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

वे पांच ये हैं—क्षेत्र, कर्ता, भिन्न-भिन्न साधन, भिन्न-भिन्न क्रियाएं और पांचवां दैव । १४

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

शरीर, वाचा अथवा मन से जो कोई भी कर्म मनुष्य नीति-सम्मत या नीतिविरुद्ध करता है उसके ये पांच कारण होते हैं । १५

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

ऐसा होने पर भी, असंस्कारी बुद्धि के कारण जो अपने को ही कर्ता मानता है वह दुर्मति कुछ समझता नहीं है । १६

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

जिसमें अहंकार भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि मलिन नहीं है, वह इस जगत को मारते हुए भी नहीं मरता, न बंधन में पड़ता है । १७

टिप्पणी—ऊपर-ऊपर से पढ़ने पर यह श्लोक मनुष्य को भुलावे में डालनेवाला है । गीता के अनेक श्लोक काल्पनिक आदर्श का अवलंबन करनेवाले हैं । उसका सच्चा नमूना जगत में नहीं मिल सकता और उपयोग के लिए भी जिस तरह रेखा-गणित में काल्पनिक आदर्श आकृतियों की आवश्यकता है उसी तरह धर्म-व्यवहार के लिए है । इसीलिए इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है —जिसकी अहंता नष्ट हो गई है और जिसकी बुद्धि में लेशमात्र भी मैल नहीं है, उसके लिए कह सकते हैं कि वह भले ही सारे जगत को मार डाले; परंतु जिसमें अहंता नहीं है उसे शरीर ही नहीं है । जिसकी बुद्धि विशुद्ध है वह त्रिकालदर्शी है । ऐसा पुरुष तो केवल एक भगवान है । वह

करते हुए भी अकर्ता है, मारते हुए भी अहिंसक है। इससे मनुष्य के सामने तो एक न मारने का और शिष्टाचार—शास्त्र—का ही मार्ग है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

कर्म की प्रेरणा में तीन तत्त्व विद्यमान हैं—ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता। कर्म के अंग तीन प्रकार के होते हैं—इंद्रियां, क्रिया और कर्ता। १८

टिप्पणी—इसमें विचार और आचार का समीकरण है। पहले मनुष्य कर्त्तव्य कर्म (ज्ञेय), उसकी विधि (ज्ञान) को जानता है—परिज्ञाता बनता है। इस कर्मप्रेरणा के प्रकार के बाद वह इंद्रियों (करण) द्वारा क्रिया का कर्ता बनता है। यह कर्मसंग्रह है।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

ज्ञान, कर्म और कर्ता गुणभेद के अनुसार तीन प्रकार के हैं। गुणगणना में उनका जैसा वर्णन किया जाता है वैसा सुन। १९

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम् ॥२०॥

जिसके द्वारा मनुष्य समस्त भूतों में एक ही अविनाशी भाव को और विविधता में एकता को देखता है उसे सात्त्विक ज्ञान जान। २०

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं
नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु
तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

भिन्न-भिन्न (देखने में) होने के कारण समस्त भूतों में जिसके द्वारा मनुष्य भिन्न-भिन्न विभक्त भावों को देखता है

उस ज्ञान को राजस जान। २१

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

जिसके द्वारा एक ही कार्य में बिना किसी कारण के सब आ जाने का भास होता है, जो रहस्यरहित और तुच्छ है वह तामस ज्ञान कहलाता है। २२

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

फलेच्छारहित पुरुष का आसक्ति और राग-द्वेष के बिना किया हुआ नियत कर्म सात्त्विक कहलाता है। २३

टिप्पणी—(देखो, टिप्पणी अध्याय ३-८)

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

भोग की इच्छा रखनेवाले जिस कार्य को 'मैं करता हूं', इस भाव से बड़े आयासपूर्वक करते हैं वह राजस कहलाता है। २४

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

मनुष्य जो काम परिणाम का, हानि का, हिंसा का और अपनी शक्ति का विचार किये बिना, मोह के वश होकर आरंभ करता है वह तामस कर्म कहलाता है। २५

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी
धृत्युत्साहसमन्वितः
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः
कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

जो आसक्ति और अहंकाररहित है, जिसमें दृढ़ता और उत्साह है, जो सफलता-निष्फलता में हर्ष-शोक नहीं करता है वह सात्त्विक कर्ता कहलाता है। २६

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितःकर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

जो रागी है, जो कर्मफल की इच्छावाला है, लोभी है, हिंसावान है, हर्ष और शोकवाला है, वह राजस कर्ता कहलाता है।
२७

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

जो अव्यवस्थित, असंस्कारी, झक्की, झूठ, नीच, आलसी, अप्रसन्नचित्त और दीर्घसूत्री है, वह तामस कर्ता कहलाता है।
२८

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥

हे धनंजय ! बुद्धि और धृति के गुण के अनुसार पूरे और पृथक्-पृथक् तीन प्रकार कहता हूं, उन्हें सुन। २९

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य, अकार्य, भय, अभय, बंधन, मोक्ष का भेद जो बुद्धि (उचित रीति से) जानती है वह सात्त्विक बुद्धि है।
३०

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

जो बुद्धि धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्य का विवेक गलत ढंग से करती है, वह बुद्धि, हे पार्थ ! राजसी है। ३१

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

हे पार्थ! जो बुद्धि अंधकार से घिरी हुई है, अधर्म को धर्म मानती है और सब बातें उलटी ही देखती है वह तामसी है।
३२

धृत्या यया धारयते
मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।

योगेनाव्यभिचारिण्या
धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

हे पार्थ ! जिस एकनिष्ठ धृति से मनुष्य मन, प्राण और इंद्रियों की क्रिया को साम्यबुद्धि से धारण करता है, वह धृति सात्त्विक है। ३३

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसंगेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

हे पार्थ ! जिस धृति से मनुष्य फलाकांक्षी होकर धर्म, काम और अर्थ को असक्तिपूर्वक धारण करता है वह धृति राजसी है। ३४

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

जिस धृति से दुर्बुद्धि मनुष्य निद्रा, भय, शोक, निराशा और मद को छोड़ नहीं सकता, हे पार्थ ! वह तामसी धृति है। ३५

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

हे भरतर्षभ ! अब तीन प्रकार के सुख का वर्णन मुझसे सुन। जिसके अभ्यास से मनुष्य प्रसन्न रहता है, जिससे दुःख का अंत होता है, जो आरंभ में विषसमान लगता है, परिणाम में अमृत-जैसा होता है, जो आत्म-ज्ञान की प्रसन्नता में से उत्पन्न होता है, वह सात्त्विक सुख कहलाता है। ३६-३७

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

विषय और इंद्रियों के संयोग से जो आरंभ में अमृत समान लगता है पर परिणाम में विष समान होता है, वह सुख राजस कहा गया है। ३८

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

जो आरंभ में और परिणाम में आत्मा को मोहग्रस्त करने वाला और निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद में से उत्पन्न हुआ है, वह तामस सुख कहलाता है। ३९

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

पृथ्वी में या देवताओं के मध्य स्वर्ग में ऐसा कुछ भी नहीं है जो प्रकृति में उत्पन्न हुए इन तीन गुणों से मुक्त हो। ४०

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

हे परंतप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्मों के भी उनके स्वभाजन्य गुणों के कारण विभाग हो गये हैं। ४१

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शम, दम, तप, शोच क्षमा, सरलता ज्ञान, अनुभव, आस्तिकता—ये ब्राह्मण के स्वभावजन्य कर्म हैं। ४२

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में पीठ न दिखाना, दान, शासन—ये क्षत्रिय के स्वभावजन्य कर्म है। ४३

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

खेती, गोरक्षा, व्यापार—ये वैश्य के स्वभावजन्य कर्म हैं। और शूद्र का स्वभावजन्य कर्म सेवा है। ४४

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

स्वयं अपने कर्म में रत रहकर पुरुष मोक्ष पाता है। अपने कर्म में रत हुआ मनुष्य किस प्रकार मोक्ष पाता है, सो सुन। ४५

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः ॥४६॥

जिसके द्वारा प्राणियों की प्रवृत्ति होती है और जिसके द्वारा यह सारे-का-सारा व्याप्त है उसे जो पुरुष स्वकर्म द्वारा भजता है वह मोक्ष पाता है। ४६

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

परधर्म सुकर होने पर भी उससे विगुण स्वधर्म अधिक अच्छा है। स्वभाव के अनुरूप कर्म करनेवाले मनुष्य को पाप नहीं लगता है। ४७

टिप्पणी—स्वधर्म अर्थात् अपना कर्त्तव्य। गीता की शिक्षा का मध्यबिंदु कर्मफल त्याग है और स्वकर्म की अपेक्षा अधिक उत्तम कर्त्तव्य खोजने पर फल त्याग के लिए स्थान नहीं रहता, इसलिए स्वधर्म को श्रेष्ठ कहा है। सब धर्मों का फल उसके पालन में आ जाता है।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता ॥४८॥

हे कौंतेय ! स्वभावतः प्राप्त कर्म, सदोष होने पर भी छोड़ना न चाहिए। जिस प्रकार अग्नि के साथ धुएं का संयोग है उसी प्रकार सब कामों के साथ दोष मौजूद है। ४८

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धि परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

जिसने सब कहीं से आसक्ति को खींच लिया है, जिसने कामनाओं को त्याग दिया है, जिसने मन को जीत लिया है, वह संन्यास द्वारा निष्कामता रूपी परम सिद्धि पाता है। ४९

सिद्धि प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

हे कौंतेय ! सिद्धि प्राप्त होने पर मनुष्य ब्रह्म को किस प्रकार पाता है, सो मुझसे संक्षेप में सुन। ज्ञान की पराकष्ठा

वही है। ५०

बुद्ध्य विशुद्धया युक्तो
धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा
रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

जिसकी बुद्धि शुद्ध हो गई है, ऐसा योगी दृढ़ता पूर्वक अपने को वश में करके, शब्दादि विषयों का त्यागकर, राग-द्वेष को जीतकर, एकांत सेवन करके, अल्पाहार करके,वाचा, काया और मन को अंकुश में रखकर, ध्यान-योग में नित्यपरायण रहकर, वैराग्य का आश्रय लेकर, अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह को त्यागकर, ममता रहित और शांत होकर ब्रह्मभाव को पाने योग्य बनता है। ५१-५२-५३

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्ति लभते पराम् ॥५४॥

ब्रह्मभाव को प्राप्त प्रसन्नचित मनुष्य न तो शोक करता है, न कुछ चाहता है। भूतमात्र में समभाव रखकर मेरी परमभक्ति को पाता है। ५४

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

मैं कैसा और कौन हूं इसे भक्ति द्वारा वह यथार्थ जानता है और इस प्रकार मुझे यथार्थ जानकर मुझमें प्रवेश करता है। ५५

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

मेरा अश्रय ग्रहण करनेवाला सदा सब कर्म करता हुआ भी

मेरी कृपा से शाश्वत, अव्ययपद को पाता है। ५६

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

मन से सब कर्मों को मुझमें अर्पण करके मुझमें परायण होकर, विवेक-बुद्धि का आश्रय लेकर निरंतर मुझमें चित्त लगा। ५७

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

मुझमें चित्त लगाने पर कठिनाइयों के समस्त पहाड़ को मेरी कृपा से पार कर जाएगा, किंतु यदि अहँकार के वश होकर मेरी न सुनेगा तो नाश हो जायगा। ५८

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

अहंकार के वश होकर 'मैं युद्ध नहीं करूंगा' ऐसा तू मानता हो तो यह तेरा निश्चय मिथ्या है। तेरा स्वभाव ही तुझे उस तरफ से बलात्कार से घसीट ले जायगा। ५९

स्वभावजेन कौन्तेय
निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्
करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

हे कौंतेय ! अपने स्वभावजन्य कर्म से बद्ध होने के कारण तू जो मोह के वश होकर नहीं करना चाहता, वह बरबस करेगा। ६०

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन, तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में बास करता है और अपनी माया के बल से उन्हें चाक पर चढ़े हुए घड़े की तरह घुमाता है। ६१

तमेव शरणं गच्छ
सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं
स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

हे भारत ! सर्वभाव से तू उसकी शरण ले। उसकी कृपा से परम शांतिमय अमर पद को पावेगा। ६२

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

इस प्रकार गुह्य-से-गुह्य ज्ञान मैंने तुझसे कहा। इस सारे का भलीभांति विचार करके तुझे जो अच्छा लगे सो कर। ६३

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

और सबसे भी गुह्य ऐसा मेरा परमवचन सुन। तू मुझे बहुत प्रिय है, इसलिए मैं तुझसे तेरा हित कहूंगा। ६४

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

मुझसे लगन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे लिए यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर। तू मुझे ही प्राप्त करेगा, यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है। तू मुझे प्रिय है। ६५

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

सब धर्मों का त्याग करके एक मेरी ही शरण ले ! मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूंगा। शोक मत कर। ६६

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

जो तपस्वी नहीं है, जो भक्त नहीं है, जो सुनना नहीं चाहता और जो मेरा द्वेष करता है, उससे यह (ज्ञान) तू कभी न कहना। ६७

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ।।६८।।

परंतु यह परम गुह्यज्ञान जो मेरे भक्तों को देगा वह मेरी परम भक्ति के कारण निसंस्देह मुझे ही पावेगा । ६८

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ।।६९।।

उसकी अपेक्षा मनुष्यों में मेरा कोई अधिक प्रिय सेवक नहीं है और पृथ्वी में उसकी अपेक्षा मुझे कोई अधिक प्रिय होनेवाला भी नहीं है । ६९

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ।।७०।।

हमारे इस धर्म्यसंवाद का जो अभ्यास करेगा, वह मुझे यज्ञ द्वारा भजेगा, ऐसा मेरा मत है । ७०

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तःशुभांल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ।।७१।।

और जो मनुष्य द्वेष-रहित होकर श्रद्धापूर्वक केवल सुनेगा वह भी मुक्त होकर पुण्यवान जहां बसते हैं उस शुभ लोक को पावेगा । ७१

टिप्पणी—इसमें तात्पर्य यह है कि जिसने इस ज्ञान का अनुभव किया है वही इसे दूसरे को दे सकता है। शुद्ध उच्चारण करके अर्थसहित सुना जानेवालों के विषय में ये दोनों श्लोक नहीं है ।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ।।७२।।

हे पार्थ ! यह तूने एकाग्रचित्त से सुना ? हे धनंजय ! इस अज्ञान के कारण जो मोह तुझे हुआ था वह क्या नष्ट हो गया । ७२

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

अर्जुन बोले—

हे अच्युत ! आपकी कृपा से मेरा मोह-नाश हो गया है। मुझे समझ आ गई है, शंका का समाधान हो जाने से मैं स्वस्थ हो गया हूं। आपका कहा करूंगा। ७३

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थ । च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

इस प्रकार वासुदेव और महात्मा अर्जुन का यह रोमांचित करनेवाला संवाद मैंने सुना। ७४

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

व्यासजी की कृपा से योगेश्वर श्रीकृष्ण के श्रीमुख से मैंने यह गुह्य परम योग सुना। ७५

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

हे राजन् ! केशव और अर्जुन के इस अद्भुत और पवित्र संवाद का स्मरण कर-करके, मैं बारंबार आनंदित होता हूं।७६

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महाराजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

हे राजन् ! हरि के उस अद्भुत रूप का खूब स्मरण कर-करके मैं बहुत विस्मित होता हूं और बारंबार आनंदित होता रहता हूं। ७७

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

जहां योगेश्वर कृष्ण हैं, जहां धनुर्धारी पार्थ है, वहां श्री

है, विजय है, वैभव है और अविचल नीति है, ऐसा मेरा अभिप्राय है। ७८

टिप्पणी—योगेश्वर कृष्ण से तात्पर्य है अनुभव सिद्ध शुद्ध ज्ञान और धनुर्धारी अर्जुन से अभिप्राय है तदनुसारिणी क्रिया, इन दोनों का संगम जहां हो, वहां संजय ने जो कहा है उसके सिवा दूसरा क्या परिणाम हो सकता है ?

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यान्तर्गतयोगशास्त्र के श्रीकृष्णार्जुन संवाद का 'संन्यासयोग' नामक अठारहवां अध्याय।

ॐ शान्ति

गीता-प्रवेशिका

[गीताके सरल और भक्ति-प्रधान श्लोकों का संग्रह]
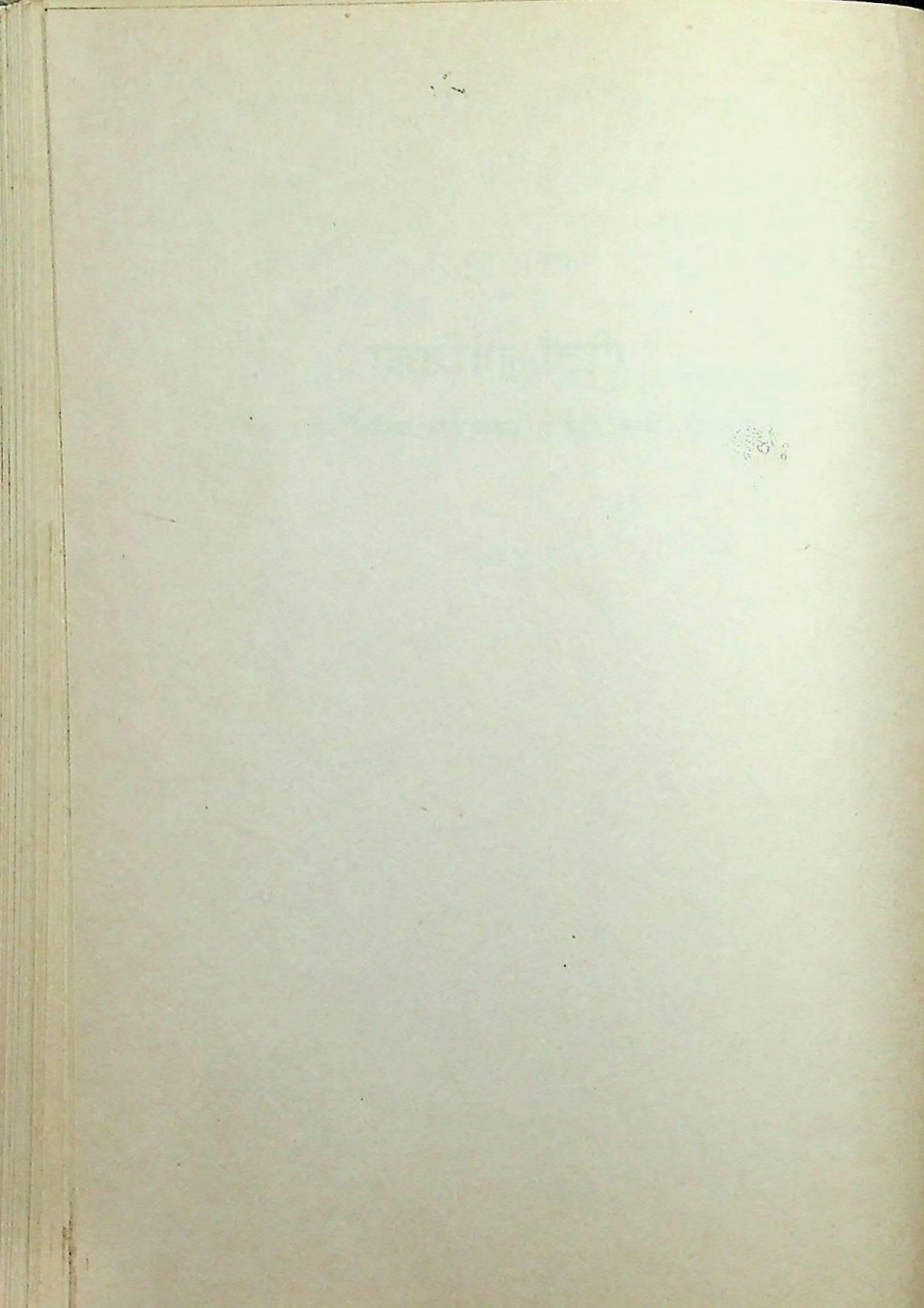
दो शब्द

यह गीता-प्रवेशिका यरवदा-मंदिर में गत वर्ष संगृहीत की गई थी। मेरा तीसरा पुत्र रामदास उसी मंदिर (जेल) में था। उसको कई बार मिलने का अथवा लिखने का मौका मुझे अमलदार दिया करते थे। रामदास गीता पढ़ता था, परंतु सब-कुछ समझ नहीं सकता था। रामदास में भक्ति-भाव है, श्रद्धा भी है। उसकी सहायता के लिए मैंने गीता के सरल और भक्ति-प्रधान श्लोकों का संग्रह करके भेजा। रामदास को यह संग्रह अच्छा लगा। मैंने उसे रामगीता का नाम देकर और भी रामदास को प्रोत्साहन दिया।

बाबा राघवदास ने उसे काका साहब के हाथ में देखा, पढ़ा और हरिजन-सेवकों के लिए यह संग्रह उपयोगी होगा ऐसा उनको लगा और इस दृष्टि से उसे छपवाने की सम्मति मांगी। मैं कोई पंडित नहीं हूं, इसलिए यह संग्रह छपवाने योग्य है या नहीं, उस बारे में मैं निश्चय नहीं कर सकता था। आश्रमनिवासी श्री विनोबा, काका साहब और बालकृष्ण यहीं थे। तीनों गीता के अभ्यासी और भक्त हैं। मैंने बाबाजी से कहा, यदि ये तीन आश्रम-वासी पसंद करें तो उस संग्रह को छपवाने में मुझे कोई बाधा नहीं है। तीनों ने विचार करके और उपयोगिता बढ़ाने की दृष्टि से तीन श्लोक निकालने की और चार नये दाखिल करने की सलाह दी। इतनी सुधा-रणा के साथ यह संग्रह सेवक, सेविका और अन्य गीता-भक्तों के सामने रखा जाता है। आशा और आशय यह है कि इस संग्रह को प्रवेशिका की दृष्टि से ही पढ़ा जाय और अच्छी तरह समझने के बाद पूर्ण गीता का अभ्यास किया जाय। साथ इतना भी स्मरण में रखा जाय कि प्रवेशिका अथवा पूर्ण गीता कंठ करने से ही अथवा उसका पूर्ण अर्थ समझने से ही कुछ आत्मलाभ हासिल नहीं होगा। गीता अनुकरण के लिए है। उसके

पारिभाषिक शब्द अच्छी तरह समझने के बाद और उसका मध्यबिंदु अनासक्ति हृदयगत होने के बाद गीता समझने में कम कठिनाई आती है।

सत्याग्रह आश्रम
वर्धा
१-१०३३

—मोहनदास करमचंद गांधी

गीता-प्रवेशिका

श्रीभगवानुवाच

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

आत्मा से मनुष्य आत्मा का उद्धार करे, उसकी अधोगति न करे। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। ६-५

२

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

उसीका आत्मा बन्धु है जिसने अपने वल से मन को जीता है। जिसने मन को जीता नहीं वह अपने ही साथ शत्रु का-सा वर्ताव करता है। ६-६

३

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥

पूर्ण शांति से, निर्भय होकर, ब्रह्मचर्य में दृढ़ रहकर, मन को मारकर, मुझमें परायण हुआ योगी मेरा ध्यान धरता हुआ बैठे। ६-१४

टिप्पणी—ब्रह्मचारी व्रत का अर्थ केवल वीर्य-संग्रह ही नहीं है, वल्कि ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए आवश्यक अहिंसादि सभी व्रत हैं।

४

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
इक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।।

सर्वत्र समभाव रखनेवाला योगी अपनेको सब भूतों में और सब भूतों को अपने में देखता है। ६-२९

५

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।

जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, वह मेरी दृष्टि से ओझल नहीं होता और मैं उसकी दृष्टि से ओझल नहीं होता। ६-३०

६

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।।

मुझमें लीन हुआ जो योगी भूतमात्र में रहनेवाले मुझको भजता रहता है, वह चाहे जिस तरह बर्तता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है। ६-३१

टिप्पणी–'आप' जबतक है तबतक तो परमात्मा 'पर' है, 'आप' मिट जाने पर—शून्य होने पर ही एक परमात्मा को सर्वत्र देखता है। (अध्याय १३-२३ की टिप्पणी देखिए।)

७

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।।

हे अर्जुन ! जो मनुष्य अपने-जैसा सबको देखता है और सुख हो या दुःख, दोनों को समान समझता है, वह योगी श्रेष्ठ गिना जाता है। ६-३२

८

योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

सारे योगियों में भी उसे मैं सर्वश्रेष्ठ योगी मानता हूं, जो मुझमें मन पिरोकर मुझे श्रद्धापूर्वक भजता है। ६-४७

९

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

हे धनंजय ! मुझसे उच्च दूसरा कुछ नहीं है। जैसे धागे में मनके पिरोये हुए रहते हैं, वैसे यह मुझमें पिरोया हुआ है। ७-७

१०

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥

हे पार्थ ! समस्त जीवों का सनातन बीज मुझे जान। बुद्धिमान की बुद्धि मैं हूं, तेजस्वी का तेज मैं हूं। ७-१०

११

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

हे पार्थ ! चित्त को अन्यत्र कहीं रखे बिना जो नित्य और निरंतर मेरा ही स्मरण करता है, वह नित्ययुक्त योगी मुझे सहज में पाता है। ८-१४

१२

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

जो लोग अनन्य भाव से मेरा चिंतन करते हुए मुझे भजते

हैं, उन नित्य मुझमें ही रत रहनेवालों के योग-क्षेम का भार मैं उठाता हूं। ९-२२

टिप्पणी—योग अर्थात् वस्तु को प्राप्त करना और क्षेम अर्थात प्राप्त वस्तु को संभालकर रखना।

१३

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

पत्र, फूल, फल या जल जो मुझे भक्तिपूर्वक अर्पित करता है वह प्रयत्नशील मनुष्य द्वारा भक्तिपूर्वक अर्पित किया हुआ मैं सेवन करता हूं। ९-२६

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि ईश्वर प्रीत्यर्थ जो कुछ सेवाभाव से दिया जाता है, उसका स्वीकार उस प्राणी में रहनेवाले अंतर्यामीरूप से भगवान ही करते हैं।

१४

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

इसलिए हे कौंतेय! तू जो करे, जो खाय, जो हवन में होमे, जो दान में दे, जो तप करे, वह सब मुझे अर्पण करके करना। ९-२७

१५

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

सब प्राणियों में मैं समभाव से रहता हूं। मुझे कोई अप्रिय या प्रिय नहीं है। जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूं। ९-२९

१६

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

भारी दुराचारी भी यदि अनन्य भाव से मुझें भजे तो उसे साधु हुआ ही मानना चाहिए, क्योंकि अब उसका अच्छा संकल्प है। ९-३०

टिप्पणी—क्योंकि अनन्य भक्ति दुराचार को शांत कर देती है।

१७

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

वह तुरंत धर्मातमा हो जाता है और निरंतर शांति पाता है। हे कौंतेय ! तू निश्चयपूर्वक जानना कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता। ९-३१

१८

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे निमित्त यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर, इससे मुझमें परायण होकर आत्मा को मेरे साथ जोड़कर तू मुझे ही पावेगा। ९-३४

१९

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

मैं सबकी उत्पत्ति का कारण हूं और सब मुझसे ही प्रवृत्त होते हैं, यह जानकर समझदार लोग भावपूर्वक मुझे भजते हैं। १०-८

२०

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।।

मुझमें चित्त लगानेवाले, मुझे प्राणार्पण करनेवाले एक-दूसरे को बोध कराते हुए, मेरा ही नित्य कीर्तन करते हुए, संतोष और आनंद में रहते हैं । १०-९

२१

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।

इस प्रकार मुझमें तन्मय रहनेवालों को और मुझे प्रेम से भजनेवालों को मैं ज्ञान देता हूं और उससे वे मुझे पाते हैं । १०-१०

२२

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।।

उनपर दया करके उनके हृदय में स्थित मैं ज्ञानरूपी प्रकाश-मय दीपक से उनके अज्ञानरूपी अंधकार का नाश करता हूं । १०-११

२३

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।।

जो मेरे दर्शन तूने किये हैं वह दर्शन न वेद से, न तप से, न दान से अथवा न यज्ञ से ही हो सकते हैं । ११-५३

२४

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ।।

परंतु हे अर्जुन ! हे परंतप ! मेरे संबंध में ऐसा ज्ञान, ऐसे मेरे दर्शन और मुझमें वास्तविक प्रवेश केवल अनन्य भक्ति से ही संभव है। ११-५४

२५

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

हे पांडव ! जो सब कर्म मुझे समर्पण करता है, मुझमें परायण रहता है, मेरा भक्त बनता है, आसक्ति का त्याग करता है और प्राणीमात्र में द्वेष-रहित होकर रहता है, वह मुझे पाता है। ११-५५

२६

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥

जिससे लोग उद्वेग नहीं पाते, जो लोगों से उद्वेग नहीं पाता, जो हर्ष, क्रोध, ईर्ष्या, भय, उद्वेग से मुक्त है, वह मुझे प्रिय है। १२-१५

२७

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनिश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥

समस्त नाशवान प्राणियों में अविनाशी परमेश्वर को समभाव से मौजूद जो जानता है वही उसका जाननेवाला है। १३-२७

२८

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

जिसके द्वारा प्राणियों की प्रवृत्ति होती है और जिसके द्वारा यह सारे-का-सारा व्याप्त है उसे जो पुरुष स्वकर्म द्वारा भजता है वह मोक्ष पाता है। १८-४६

२९

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।

अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में बास करता है और अपनी माया के बल से उन्हें चाक पर चढ़े हुए घड़े की तरह घुमाता है। १८-६१

३०

तमेव शरणं गच्छ
सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्ति
स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।

हे भारत ! सर्वभाव से तू उसकी शरण ले। उसकी कृपा से परम शांतिमय अमर पद को पावेगा। १८-६२

३१

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

सब धर्मों का त्याग करके एक मेरी ही शरण ले ! मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूंगा। शोक मत कर। १८-६६

३२

संजय उवाच
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।

संजय ने कहा—

जहां योगेश्वर कृष्ण हैं, जहां धनुर्धारी पार्थ है, वहां श्री है, विजय है, वैभव है और अविचल नीति है, ऐसा मेरा अभिप्राय है। १८-७८

टिप्पणी—योगेश्वर कृष्ण से तात्पर्य है अनुभव सिद्ध शुद्ध ज्ञान और धनुर्धारी अर्जुन से अभिप्राय है तदनुसारिणी क्रिया, इन दोनों का संगम जहां हो, वहां संजय ने जो कहा है उसके सिवा दूसरा क्या परिणाम हो सकता है ?

३३

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे।
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥

अर्जुन बोले—

हे देव ! आपकी देह में मैं देवताओं को, भिन्न-भिन्न प्रकार के सब प्राणियों के समुदायों को, कमलासन पर विराजमान ईश ब्रह्मा को, सब ऋषियों को और दिव्य सर्पों को देखता हूं। ११-१५

३४

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥

आपको मैं अनेक हाथ, उदर, मुख और नेत्रयुक्त अनंत रूपवाला देखता हूं। आपका अंत नहीं है, न मध्य है, न आपका आदि है। हे विश्वेश्वर ! आपके विश्वरूप का मैं दर्शन कर

रहा हूं।　　　　११-१६

३५

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥

आपको मैं जानने योग्य परम अक्षररूप, इस जगत का अंतिम आधार, सनातन धर्म का अविनाशी रक्षक और सनातन पुरुष मानता हूं।　　　　११-१८

३६

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥

जिसका आदि, मध्य या अंत नहीं है, जिसकी शक्ति अनंत है, जिसके अनंत बाहु हैं, जिसके सूर्य-चंद्ररूपी नेत्र हैं, जिसका मुख प्रज्वलित अग्नि के समान है और जो अपने तेज से इस जगत को तपा रहा है, ऐसे आपको मैं देख रहा हूं।　　　　११-१९

३७

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥

आकाश और पृथ्वी के बीच के इस अंतर में और समस्त दिशाओं में आप ही अकेले व्याप्त हो रहे हैं। हे महात्मन्! यह

आपका अद्भुत उग्र रूप देखकर तीनों लोक थरथराते हैं।
११-२०

३८

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥

आप आदिदेव हैं। आप पुराण-पुरुष हैं। आप इस विश्व के परम आश्रयस्थान हैं। आप जाननेवाले हैं और जानने योग्य हैं। आप परमधाम हैं। हे अनंतरूप ! इस जगत में आप व्याप्त हो रहे हैं। ११-३८

३९

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चंद्र, प्रजापति, प्रपितामह आप ही हैं। आपको हजारों बार नमस्कार पहुंचे और फिर-फिर आपको नमस्कार पहुंचे। ११-३९

४०

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥

हे सर्व ! आपको आगे, पीछे, सब ओर से नमस्कार है। आप का वीर्य अनंत है, आपकी शक्ति अपार है, सब आप ही

धारण करते हैं, इसलिए आप सर्व हैं। ११-४०

४१

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥

स्थावर-जंगम जगत के आप पिता हैं। आप उसके पूज्य और श्रेष्ठ गुरु हैं। आपके समान कोई नहीं है तो आपसे अधिक तो कहां से हो सकता है? तीनों लोक में आपके सामर्थ्य का जोड़ नहीं है। ११-४३

४२

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥

इसलिए साष्टांग नमस्कार करके आपसे, पूज्य ईश्वर से प्रसन्न होने की प्रार्थना करता हूं। हे देव! जिस तरह पिता पुत्र को, सखा सखा को सहन करता है वैसे आप मेरे प्रिय होने के कारण मेरे कल्याण के लिए मुझे सहन करने योग्य हैं। ११-४४

गीता-पदार्थ-कोश

[गीता के शब्दों का अर्थ और स्थल-निर्देश]
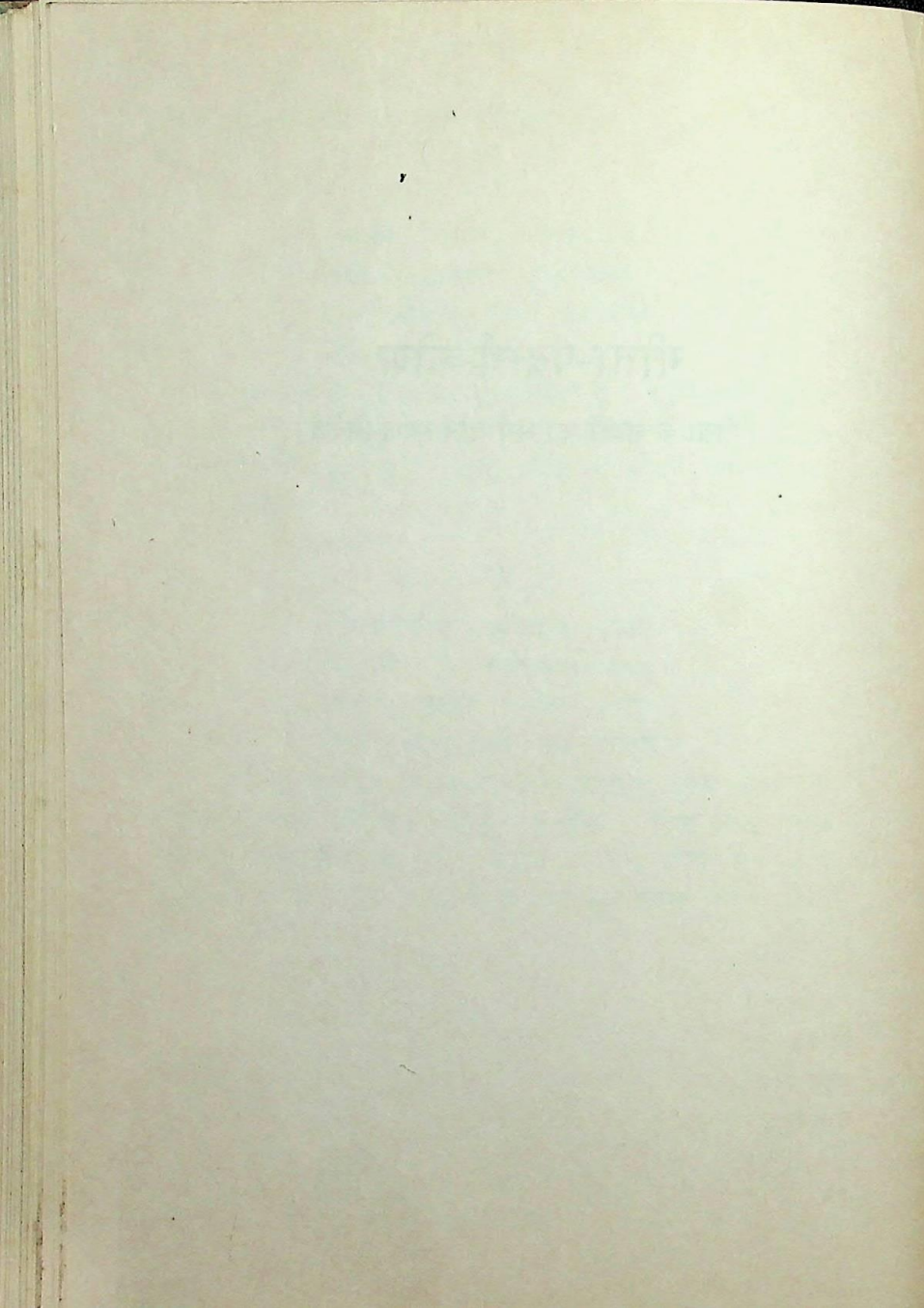
निवेदन

काकासाहब ने अपने 'दो शब्द' में बताया है कि यह कोश बारह वर्ष पहले तैयार हुआ और जैसा चाहिए था, वैसा न होनेपर भी आज क्यों छप रहा है।

जिन्हें मेरे नाम से प्रकाशित अनुवाद में कुछ भी रस है, उनके लिए यह कोश सहज ही आवश्यक है। संभव है, अन्य गीताभ्यासियों के लिए भी यह उपयोगी हो। ऐसे लोगों के लिए मेरी यह सूचना है कि यदि 'पदार्थ-कोश' में दिये हुए अर्थ उन्हें न रुचें और दूसरे अर्थ अधिक प्रिय लगें तो वे उन्हें उसी में लिख लें। ऐसा करने से उन्हें बहुत थोड़ी मेहनत में अपना मनचाहा कोश मिल जायगा और इस प्रकार अभ्यास करनेवाले व्यक्ति यदि अपने पसंद किये हुए अर्थ मेरे पास भेज दें तो मैं आभारी होऊंगा।

मैं ज्यों-ज्यों गीता का अभ्यास करता हूं त्यों-त्यों मुझे उसकी अनुपमता अधिक मालूम होती जाती है। मेरे लिए वह आध्यात्मिक कोश है।

मैं जब कभी कार्याकार्य की परेशानी में पड़ता हूं तब उसका आश्रय लेता हूं और अबतक उसने मुझे कभी निराश नहीं किया। वह सचमुच कामधेनु है। रोज एक श्लोक, फिर दो, फिर पांच, फिर रोज एक अध्याय फिर चौदह दिन में पारायण और अंत में कई वर्ष से हम में से कुछ लोग सात दिन के पारायण तक पहुंच गये हैं और सुबह साढ़े चार बजे के लगभग निश्चित दिनों के निश्चित अध्यायों की ध्वनि सुनाई पड़ती है। कुछ ने—बहुत थोड़े लोगों ने—अठारहों अध्याय कंठ कर लिये हैं। वार के हिसाब से सुबह की प्रार्थना में रोज यह क्रम चलता है :

शुक्र १, २; शनि ३, ४, ५; रवि ६, ७, ८; सोम ९, १०, ११, १२; मंगल १३, १४, १५; बुध १६, १७; गुरु १८.

इस विभाजन के विषय में इतना ही कहना काफी है कि इसके पीछे

एक विचारश्रेणी रही है। ऐसा अनुभव है कि इस प्रकार मनन करने में ठीक-ठीक सुविधा होती है।

यह प्रश्न उठना संभव है कि शुक्रवार से ही पारायण क्यों शुरू हुआ। इसका कारण इतना ही है : काफी समय तक चौदह दिन का पारायण चलता रहा। यरवदा जेल में मुझे सात दिन के पारायण की बात सूझी और एक शुक्रवार को उस पर अमल हुआ, इसलिए और उसी समय से पारायण-सप्ताह शुक्रवार से शुरू होता है।

पारायण की बात यहां देने के दो हेतु हैं। एक तो यह बताना कि गीता-भक्ति आजतक हममें से कुछ लोगों को कहां तक ले गई है और दूसरे, पाठकों को अभ्यास में प्रोत्साहन देनेवाला रास्ता बताना।

किंतु गीता गाकर ही निहाल नहीं हो सकते। गीता धर्म-दर्शक कोश है, आत्मा की उलझन को सुलझानेवाली प्रचंड शक्ति है, दीन-दुखियों का आधार है, सोते से जगानेवाली है, जो ऐसा मानता है, उसे ही गीता-गान मदद दे सकता है। यहां यह कहने का आशय बिल्कुल नहीं है कि बिना अर्थ समझे गीता-गान स्वतन्त्र रूप से मनुष्य का कल्याण करता है। प्रयत्न-पूर्वक पाले हुए तोते को गीता अवश्य कंठ कराई जा सकती है; किन्तु उससे तोते को या उसके शिक्षक को जरा भी पुण्य नहीं मिलने का।

गीता जीती-जागती, जीवन देनेवाली, अमर माता है। दूध पिलाकर पालने-पोसनेवाली माता एक दिन धोखा देकर चली जायगी। हम देखते हैं, असंख्य माताएं अपनी सन्तान को तूफान में से बचाने में असमर्थ रहती हैं, किन्तु गीता-माता का आश्रय लेनेवाला भयंकर तूफान में से उबर जाता है। वह नित्य जाग्रत है। कभी धोखा नहीं देती; किन्तु जैसे बिना मांगे मां भी दूध नहीं पिलाती, वैसे ही गीतामाता भी बिना मांगे कुछ नहीं देती। वह किसी को अपनी गोद में लेने से पहले उसकी कठिन परीक्षा लेती है; पूर्ण भक्ति की अपेक्षा रखती है। शुष्क भक्ति से भी काम नहीं चलेगा। वह अनन्य भक्ति चाहती है। इसलिए जो लोग उसे सर्वार्पण करने को तैयार नहीं, उन्हें आश्रय देना वह बिलकुल अस्वीकार कर देती है।

भौतिक शास्त्र के बड़े-बड़े अभ्यासी उसके पीछे पागल हो जाते हैं, तब कहीं उन्हें उसका कुछ दर्शन होता है। एम० ए०, बी० ए०, होनेवाले

रात-दिन पढ़ते हैं, उसपर पैसा खर्च करते हैं, शरीर सुखाते हैं। इस प्रकार प्रयत्न करनेवालों में से कुछ ही लोग पहली बार में उत्तीर्ण होते हैं। उत्तीर्ण न होनेवाले निराश न होकर बार-बार प्रयत्न करते हैं और उत्तीर्ण होने पर ही शांति से बैठते हैं। और अन्त में—?

गीतामृत का पान करने के लिए तो इन प्रयत्नों की अपेक्षा बहुत अधिक प्रयत्न की आवश्यकता होनी चाहिए और है ही। परंतु उस अमृत-पान की गरज कितनों को है ? गरज है तो कितने लोग जी-तोड़कर प्रयत्न करने को तैयार होते हैं ? हम जानते हैं कि, जैसे मैंने बताया है, उस दृष्टि से, गीता-भक्ति करनेवालों की संख्या नहीं के बराबर है, तो भी सब लोग यह कबूल करते हैं कि गीता सारे उपनिषदों का दोहन है। किसी भी हिन्दू को उसके ज्ञान से रहित नहीं होना चाहिए; किन्तु आजकल धर्ममात्र की कीमत घट गई है। उसके कारणों में जाने का यह अवसर नहीं है। मैंने तो, यह गीता-पदार्थ-कोश प्रकाशित हो रहा है, इस निमित्त से जिज्ञासुओं का ध्यान गीतारूपी रत्न की तरफ खींचने और उसका सदुपयोग कैसे हो सकता है, यह बताने का प्रयत्न इस निवेदन में किया है, वह सफल हो।

सेगांव वर्धा

२४-६-३६

मो० क० गांधी
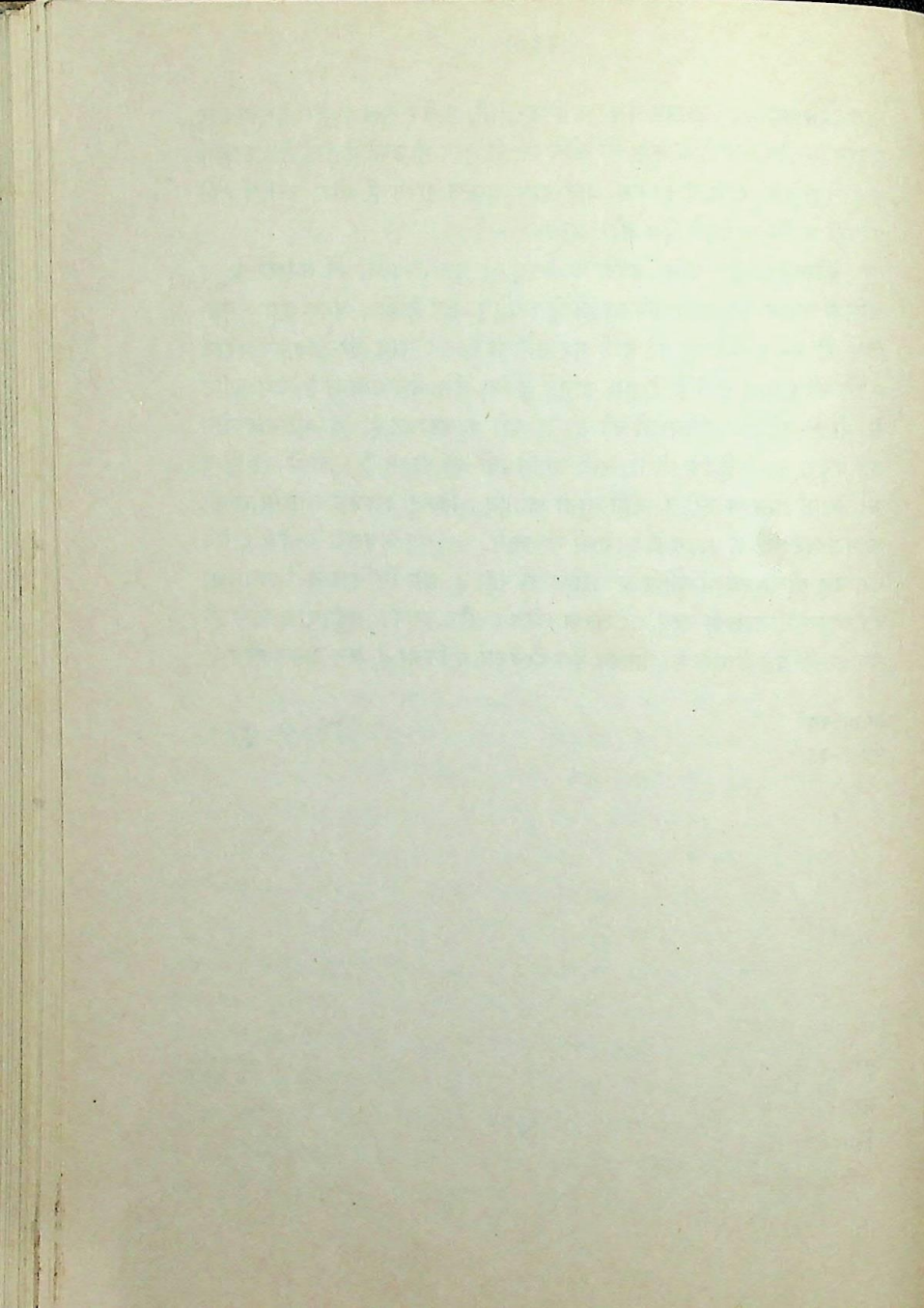
दो शब्द

गीता के शब्दों की (पदों का) अक्षरानुक्रमणिका, उनका स्थल-निर्देश और उनका अर्थकोश गांधीजी ने सन् १९२२-२३ में यरवदा जेल में तैयार किया। जेल की पढ़ाई और साहित्य-प्रवृत्ति के सम्बन्ध में गांधीजी ने लिखा है :

"जबसे मैंने संसार में प्रवेश किया तबसे मुझे लगा कि सामान्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए मुझे पढ़ना चाहिए; किंतु मुझे जीवन में पहले से ही तूफान और संकट दिखाई दिये। इसलिए साहित्य में रस लेने को अधिक समय न मिला। सन् १८९४ के बाद कुछ पढ़ने-पढ़ाने का समय मुझे मिला तो वह केवल दक्षिण अफ्रीका की जेलों में ही। मुझे पढ़ने का शौक पैदा हुआ, इतना ही नहीं, बल्कि अपना संस्कृत का ज्ञान पूरा करने और तमिल, हिंदी तथा उर्दू का अभ्यास करने को मेरा मन हुआ। दक्षिण अफ्रीका की जेलों में मेरी पढ़ने की अभिरुचि तीव्र हुई थी। इसलिए दक्षिण अफ्रीका के अपने आखिरी कारावास के समय मुझे समय से पहले छोड़ दिया गया तब मुझे दुःख हुआ।

"इसलिए हिन्दुस्तान में जब ऐसा अवसर आया तब मैंने आनंदपूर्वक उसका स्वागत किया। मैंने यरवदा में अभ्यास का एक नियमित क्रम बना लिया, जिसे पूरा करने के लिए ६ वर्ष काफी न थे।

"जर्जरित शरीरवाला ५४ वर्ष का बूढ़ा होते हुए भी मैंने २४ वर्ष के तरुण के समान उत्साहपूर्वक अभ्यास शुरू किया। मैं अपने समय के एक-एक क्षण का हिसाब रखता और चाहता था कि छूटने पर मैं उर्दू और तमिल का अच्छा अभ्यासी होकर और संस्कृत का अच्छा ज्ञान लेकर ही बाहर निकलूं। संस्कृत के मूल ग्रंथ पढ़ने की मेरी कामना पूरी हो जाती, किंतु ऐसा होने का संयोग न था। दुर्भाग्य से मैं बीमार पड़ गया। उसके परिणामस्वरूप मैं छूटा और मेरे अभ्यास के रंग में भंग हो गया।"

फिर भी गांधीजी ने अनेक भाषाओं की छोटी-बड़ी डेढ़ सौ मिलाकर

किताबें तो पढ़ ही डालीं। इनमें महाभारत, गीता और उपनिषदों का अभ्यास तो था ही। वह लिखते हैं :

"जिन पुस्तकों के बिना मेरा काम चल ही नहीं सकता था वे महाभारत, रामायण और भागवत थीं। वेद को मूल में देखने की इच्छा उपनिषद् से सतेज हुई। उसकी उत्कट कल्पनाओं से अपार आनंद हुआ और उसकी आध्यात्मिकता से मेरी आत्मा शांत हुई।"

इस पढ़ाई के साथ-साथ उन्होंने यह गीता-पदार्थ-कोश भी तैयार किया। इसके संबंध में उन्होंने लिखा है :

"जेल में किये गए अपने अभ्यास की इस समालोचना को पूरा करने से पहले मैं विद्यार्थी पाठक को नियमित कार्य करने की उपयोगिता के संबंध में तथा शुष्क वस्तुओं को रसपूर्ण बनाने की रीति के संबंध में दो शब्द कह दूं। मेरे अपने अभ्यास और नित्यप्रति के उपयोग के लिए मुझे गीता की एक शब्दानुक्रमणिका तैयार करनी थी। शब्द और उनके संबंध लिखने और दो-दो बार उनको क्रम से लगाने का काम बहुत रसपूर्ण नहीं है। मेरी धारणा थी कि अपने कारावास के समय मैं यह काम करूं, तो भी इस काम के लिए बहुत समय देना मुझे रुचिकर न था। मेरा समय-पत्रक भरा हुआ था। इससे रोज केवल बीस मिनट इस काम में देने का मैंने निश्चय किया। इस कार्य में इतना थोड़ा समय देने से यह बेगार-जैसा नहीं मालूम होता था। उलटे, रोज उसका समय होने की मैं राह देखता। जब उसकी दूसरी बार की अनुक्रमणिका तैयार करने का समय आया तब तो मैं उसमें तल्लीन होने लगा। जिज्ञासु स्वयं इस बात का अनुभव कर देखें। जिन शब्दों का अनुक्रम मुझे ठीक करना था, उनके पहले अक्षरों का अक्षरानुक्रम मैंने तैयार किया, किंतु प्रत्येक अक्षर के शब्दों को आंतरिक अक्षरानुक्रम में किस रीति से लगायें, यह प्रश्न मेरे लिए जटिल हो गया। मैंने कभी शब्दकोश तैयार नहीं किया था। इससे मुझे स्वतंत्र रूप से काम करने की रीति खोजनी पड़ी और जब मैंने वह खोज ली तब मेरे आनंद का पार नहीं रहा। बचपन में जो आनंद गोली और कंचे के खेल में आता उससे भी अधिक आनंद मुझे इस अनुक्रमणिका को लगाने के खेल से मिला। यह रीति सुघड़, तेज और भूल होने ही न

पाये, ऐसी थी। यह सारा काम पूरा करते मुझे अठारह महीने लगे। आज अब इस शब्दानुक्रम में देखकर मैं तत्काल जान सकता हूं कि गीताजी में आया हुआ कोई भी शब्द कहां और कितनी बार प्रयुक्त हुआ है। इसमें दूसरा भी अभिप्राय रहा है। यदि मैं कभी गीता के संबंध में अपने विचार लिखने में समर्थ हुआ तो इस शब्दानुक्रम और इन विचारों को पाठकों के समक्ष रखना भी चाहता हूं।"

ऐसी बात नहीं है कि गीता का पदानुक्रम इसके पहले किसी ने तैयार न किया हो। थोड़ी-बहुत पूर्णता वाले ऐसे गीता-पद-कोश चार-पांच तो हैं ही, किंतु गांधीजी को अपने विनोद के लिए और जेल की सहूलियत के लिए इस प्रकार का कोश स्वतंत्र रूप से तैयार करना था। गांधीजी का मानस प्रत्येक क्षेत्र में शास्त्रीय रीति से काम करता है। गीता के अभ्यास की सुविधा के लिए उन्होंने एक बार अनेक भाषान्तरों के हरेक श्लोक के अनुवाद इकट्ठे करके टाइप कराये थे। इसे अंग्रेजी में 'कॉन्कोर्डन्स' (सादृश्य) कहते हैं। इसका उद्देश्य अक्षरानुक्रम से यह बताना होता है कि अमुक ग्रंथ में अथवा अमुक लेखक की तमाम रचनाओं में अमुक शब्द कहां-कहां और कितनी बार आया है। गांधीजी ने इसमें हरेक पद का अर्थ भी देकर इसकी उपयोगिता बढ़ा दी है। इसलिए पद केवल पद-कोश न रहकर अर्थ-कोश भी हो गया है और इसलिए इसको 'गीता-पदार्थ-कोश' नाम दिया गया है। इस पदार्थ-कोश में उन्होंने पहले संस्कृत कोशों में दिये हुए अर्थ ही लिखे थे। बाद में जब उन्होंने गीता के अपने अर्थ को स्पष्ट करने के लिए **अनासक्तियोग** लिखा तब उसमें दिये हुए अर्थ भी इस पदार्थ-कोश में जोड़ दिये गए। ऑर्डिनेन्स राज की धांधली के दिनों में यह संबंधित कोश खो गया। इसलिए अभी-अभी दो-तीन मित्रों ने गांधीजी के मूल हस्तलिखित पद से फिर मेहनत करके यह तैयार किया है और आज यह पाठकों के हाथ में दिया जा रहा है।

यह कोश जैसा बना है, उससे गांधीजी को पूर्ण संतोष नहीं है। उनकी इच्छा थी कि अर्थ देना ही है तो प्रत्येक महत्त्व के शब्द का अलग-अलग भाष्यकारों ने और गीता के नये-पुराने अभ्यासियों ने अलग-अलग जो अर्थ किया है, वह सब व्यवस्थित रीति से दें। इससे भाष्यार्थ का तुलनात्मक

अभ्यास सुलभ हो जाता।

यह तो अर्थ-भेद की दृष्टि हुई। दूसरी रीति से भी अर्थकोश को शास्त्र-शुद्ध करने के लिए शब्दों का धात्वर्थ देकर उसके बाद गीता-युगतक इन शब्दों के अर्थ में कैसे अंतर पड़ता गया और गीता ने इन शब्दों का खास क्या अर्थ किया है, यह बताना चाहिए। उसके बाद तत्त्वज्ञान के विकास का अनुसरण करके भाष्यकारों को यह अर्थ क्यों बदलना पड़ा, यह भी थोड़े में बताना चाहिए[1]। इस रीति से अर्थ-विकास की सीढ़ियों अथवा प्रवाह को बताकर गीता के लिए पर्याप्त 'सेमेन्टिकस्' (शब्दार्थ-शास्त्र) बनाना चाहिए। जैसा मनुष्यों का विकास होता है, वैसे मनुष्य-जाति में प्रयुक्त महान् शब्दों के अर्थ में भी विकास होता जाता है। शब्द भी वस्तुतः सगुण पुरुष ही हैं।

इस अर्थ-विकास के संबंध में अनासक्तियोग की प्रस्तावना में गांधीजी ने लिखा है : "मनुष्य की भांति महावाक्यों के अर्थ का विकास भी होता ही रहता है। भाषाओं के इतिहास की जांच कीजिए तो मालूम होगा कि अनेक महान् शब्दों के अर्थ नित्य नये होते रहे हैं...गीताकार ने महा-शब्दों का व्यापक अर्थ करके अपनी भाषा का भी व्यापक अर्थ करना हमें सिखाया है।"

आगे चलकर वह लिखते हैं : "गीता एक महान् धर्मकाव्य है। उसमें जितने गहरे उतरेंगे, उतने ही नये और सुंदर अर्थ उसमें से मिलेंगे... गीता में आये हुए महाशब्दों का अर्थ युग-युग में बदलता और विस्तृत होता रहेगा। गीता का मूल मंत्र कभी नहीं बदल सकता। वह मंत्र जिस रीति से साधा जा सके, उस रीति से जिज्ञासु चाहे जो अर्थ कर सकता है।"

गांधीजी की इच्छा के अनुसार ऐसा व्यापक और शास्त्रशुद्ध संपूर्ण गीता-पदार्थ-कोश जब तैयार होगा, तब होगा। इस समय तो हम उनकी बारह वर्ष पहले की प्रवृत्ति का फल गीताभ्यासियों के आगे रखते हैं।

सरस्वती-पूजन
२४-९-३६

—दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर

गीता-पदार्थ-कोश

अ

अकर्तारम्—४-१३, १३-२९ अकर्ता; अकर्ता रूप में

अकर्म—४-१६, १८ कर्मशून्यत, अकर्म

अकर्मकृत्—३-५ कर्म किये बिना

अकर्मण:—३-८ कर्म न करने से; ३-८ कर्म न करने वाले की, कर्म विना; ४-१७ कर्म-शून्यता का, अकर्म का

अकर्मणि—२-४७ कर्मशून्यता में, कर्म न करने के विषय में; ४-१८ अकर्म में

अकल्मषम्—६-२७ पापरहित हुए को, निष्पाप को

अकार:—१०-३३ अकार; 'अ' यह अक्षर

अकार्यम्—१८-३१ न करने योग्य

अकीर्तिकरम्—२-२ लांछन लगानेवाला, अपयश देनेवाला

अकीर्तिम्—२-३४ अपकीर्ति, निंदा

अकीर्ति:—२-३४ अयश, अपकीर्ति

अकुर्वत—१-१ किया

अकुशलम्—१८-१० दु:खकर, असुविधाजनक

अकृतबुद्धित्वात्—१८-१६ असंस्कृत बुद्धि के कारण

अकृतात्मान:—१५-११ संस्कार-रहित लोग, जिन्होंने आत्मशुद्धि नहीं की है ऐसे लोग

अकृतेन—३-१८ न करने से

अकृत्स्नविद:—३-२९ अज्ञानी मंदबुद्धि लोगों को, अधकचरे ज्ञान वालों को

अक्रिय:—६-१ क्रियाओं का न करनेवाला

अक्रोध:—१६-२ क्रोध रहित होना

अक्लेद्य:—२-२४ जो भिगोया न जा सके ऐसा

अक्षय (य्य) म्—५-२१ अविनाशी अक्षय्य (जिसे नष्ट न किया जा सके)

अक्षय:—१०-३३ नाशरहित अविनाशी

अक्षरसमुद्भवम्—३-१५ (अवि-नाशी) परमात्मा से उत्पन्न हुआ; शाश्वत ब्रह्म (अक्षर) से उत्पन्न हुआ

अक्षरम्—८-३ ११; ११-१८,

उत्पन्न हुआ, अज्ञान रूप; १४-८ अज्ञानमूलक
अज्ञानविमोहिताः—१६-१५ अज्ञान से अति मूढ़ हुआ
अज्ञानसंभूतम्—४-४२ अज्ञान से उत्पन्न हुआ
अज्ञानसंमोहः—१८-७२ अज्ञानजन्य मोह
अज्ञानम्—५-१६; १३-११; १४-१६, १७; १६-४ अज्ञान
अज्ञानाम्—३-२६ अज्ञानियों की
अज्ञानेन—५-१५ अज्ञान-अविद्या से
अणीयांसम्—८-९ छोटा, अत्यन्त सूक्ष्म
अणोः—८-९ अणु से
अतत्त्वार्थवत्—१८-२२ तत्त्वरहित, रहस्यहीन, मूल स्वरूप से विपरीत (तुलना करो १८-३२)
अतन्द्रितः—३-२३ आलस्य रहित (होकर)
अतपस्काय—१८-६७ तपश्चर्या-रहित को, असंयमी को, जो तपस्वी नहीं है उसे
अतः—९-२४; १५-१८ इसलिए, इस कारण से; १३-११ इससे, इनसे
अतः परम्—२-१२ इससे आगे; १२-८ इस लोक से, इस जन्म के बाद
अतितरन्ति—१३-२५ तर जाते हैं
अतिनीचम—६-११ बहुत नीचा
अतिमानिता—१६-३ अति अभिमान
अतिरिच्यते—२-३४ अधिक है, बढ़ जाती है
अतिवर्तते—६-४४; १४-२१ लांघ जाता है, तर जाता है
अतिस्वप्नशीलस्य—६-१६ अधिक सोनेवाले को
अतीतः—१४-२१; १५-१८ लांघ गया हुआ, ...को तर जाने वाला, ...से पर
अतीत्य—१४-२० लांघकर; पार करके
अतीन्द्रियम्—६-२१ इंद्रियों से अतीत,—पर, जिसका अनुभव न हो सके ऐसा
अतीव—१२-२० बहुत
अत्यद्भुतम्—१८-७७ अति आश्चर्यकारक, अद्भुत
अत्यन्तम्—६-२८ अनंत
अत्यर्थम्—७-१७ बहुत
अत्यश्नतः—६-१६ बहुत खानेवाले को, ठूंस-ठूंसकर खानेवाले को
अत्यागिनाम्—१८-१२ अत्यागी को, त्याग न करनेवाले को
अत्युच्छ्रितम्—६-११ बहुत ऊंचा

मात्र, नाशवान सृष्टि-स्वरूप, अधिभूत

अधियज्ञः—८-२, ४ सब यज्ञ का अभिमानी विष्णु, देह में रहते हुए भी यज्ञ द्वारा शुद्ध हुआ जीवस्वरूप

अधिष्ठानम्—३-४० निवास स्थान, आश्रय, किला; १८-१४ क्षेत्र, शरीर

अधिष्ठाय—४-६ लेकर; १५-९ आश्रय लेकर

अध्यक्षेण—९-१०, नियन्ता द्वारा, अधिकार के नीचे

अध्यात्म चेतसा—३-३० विवेकात्मबुद्धि से, अध्यात्मवृत्ति रखकर

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्—१३-११ अध्यात्मज्ञान का नित्यत्व, आध्यात्मिक ज्ञान की नित्यता का भान

अध्यात्मनित्याः—१५-५ परमात्मस्वरूप के विचार में निमग्न, आत्मा में नित्यनिमग्न

अध्यात्मविद्या—१०-३२ आत्मज्ञान, अध्यात्मविद्या

अध्यात्मसंज्ञितम्—११-१ आध्यात्मिक, 'अध्यात्म' नाम का

अध्यात्मम्—७-२९ अध्यात्म को, शरीर में स्थित अंतरात्मा को; ८-१, ३ अध्यात्म, प्राणीमात्र में स्वसत्ता से रहनेवाला

अध्येष्यते—१८-७० अभ्यास करेगा

अध्रुवम्—१७-१८ अनिश्चित

अनघ—३-३; १४-६; १५-२० हे पापरहित !

अनन्त—११-३७ हे अनन्त ! अंतरहित

अनन्तबाहुम्—११-१९ अनन्त हाथोंवाले को

अनन्तरम्—१२-१२ बाद में तुरंत, अनन्तर

अनन्तरूप—११-३८ हे अनन्तरूप (कृष्ण)

अनन्तवीर्यम्—११-१९ अपार वीर्य (बल) वाले को

अनन्तवीर्यामितविक्रमः—११-४० अनन्त सामर्थ्य और अमाप बलवाला

अनन्तम्—११-११, ४७ अन्त रहित को

अनन्तरूपम्—११-१६ अनन्त रूपवाले को

अनन्तविजयम्—१-१६ अनन्तविजय नामक (युधिष्ठिर के) शंख को

अनन्तः—१०-२९ शेषनाग

अनन्ताः—२-४१ अनन्त, अपार

अनन्यचेताः—८-१४ जिसका चित्त और कहीं न हो वह, एकाग्र मनवाला

अनन्यभाक्—९-३० अनन्य निष्ठावाला एकनिष्ठ(होकर)

अनन्यमनसः—९-१३ अनन्य चित्तवाले (होकर), एक-निष्ठा से

अनन्यया—८-२२ ; ११-५४ अनन्य (भक्ति) से

अनन्येन—(योगेन) १२-६ एक—निष्ठा से

अनन्ययोगेन—१३-१० अनन्य ध्यानपूर्वक, अनन्य योग से

अनन्याः—९-२२ दूसरे को न पूजनेवाले, अनन्य भाव से

अनपेक्षः—१२-१६ इच्छारहित, निःस्पृह

अनपेक्ष्य—१८-२५ बिना विचार किये

अनभिष्वङ्गः—१३-९ समता का अभाव, निर्ममत्व

अनभिसंधाय—१७-२५ (फल की) आशा रखे बिना, इच्छा किये बिना

अनभिस्नेहः—२-५७ रागरहित, स्नेहरहित

अनयोः—२-१६ इन ('सत्' और 'असत्) का

अनलः—७-४ अग्नि, तेज (तन्मात्रा)

अनलेन—३-३९ अग्नि से

अनवलोकयन्—६-१३ न देखता हुआ

अनवाप्तम्—३-२२ जो वस्तु न पाई गई हो, न मिली हो, अप्राप्त

अनश्नतः—६-१६ उपवासी को, न खानेवाले को

अनसूयन्तः—३-३१ द्वेष को त्यागनेवाले, निंदा न करने-वाले

अनसूयवे—९-१ द्वेषरहित को, निंदा न करनेवाले को, दोषदर्शन न करनेवाले को

अनसूयः—१८-७१ द्वेषरहित, अनसूयारहित

अनहंकारः—१३-८ अहंकाररहित होना, अहंकार का अभाव, नम्रता

अनहंवादी—१८-२६ अहंतारहित

अनात्मनः—६-६ जिसने आत्मा को नहीं जीता है उसका, अजि-तेन्द्रिय का

अनादित्वात्—१३-३१ अनादि होने से, अनादिता के कारण

अनादिमत्—१३-१२ अनादि, बिना आदि का

अनादिमध्यान्तम— ११-१९

जिसका आदि, मध्य या अंत न हो उसे; उत्पत्ति, स्थिति और नाश से रहित को

अनादिम्—१०-३ आदिरहित, सनातन अनादिरूप

अनादी—१३-१९ अनादि (द्विव.)

अनामयम्—२-५१ निष्कलंक आमय-रोगरहित, निर्दोष; १४-६ आरोग्यकर, उपद्रव-रहित

अनारम्भात्—३-४ आरम्भ न करने से

अनार्यजुष्टम्—२-२ श्रेष्ठ पुरुष के अयोग्य, जो क्षुद्र पुरुष को ही शोभा दे, आर्य पुरुष जिसका सेवन न करें ऐसा

अनावृत्तिम्—८-२३, २६ मोक्ष, जहां से पीछे (इस संसार में) लौटकर न आना पड़े

अनाशिनः—२-१८ अविनाशी का, नाशरहित का

अनाश्रितः—६-१ आश्रय लिए बिना, इच्छा किये बिना

अनिकेतः—१२-१९ बिना घर का, जिसका कोई अपना निजी स्थान नहीं है

अनिच्छन्—३-३६ न चाहता हुआ

अनित्यम्—९-३३ अनित्य, क्षणिक

अनित्याः—२-१४ क्षणिक अनित्य

अनिर्देश्यम्—१२-३ अवर्णनीय, शब्दों द्वारा जिसका वर्णन न हो सके ऐसा

अनिर्विण्णचेतसा—६-२३ बिना ऊबे

अनिष्टम्—१८-१२ अशुभ, दुःख-कर

अनीश्वरम्—१६-८ ईश्वररहित

अनुकम्पार्थम्—१०-११ दया करके, दया करने के लिए

अनुचिन्तयन्—८-८ चिन्तन करता हुआ, एकाग्र होनेवाला

अनुतिष्ठन्ति—३-३१, ३२ अनु-करण करते हैं, अंगीकार करते हैं

अनुत्तमम्—७-२४ अनुपम, सर्वोत्तम

अनुत्तमम्—७-१८ जिसकी अपेक्षा दूसरी अधिक उत्तम न हो, ऐसी सर्वोत्तम (गति)

अनुद्विग्नमनाः—२-५६ उद्वेगरहित मनवाला

अनुद्वेगकरम्—१७-१५ जो दुःख न दे ऐसा

अनुपकारिणे—१७-२० उपकार न करनेवाले को—न माननेवाले को (बदला मिलने की आशा बिना)

अनुपश्यति—१३-३०; १४-१९ (वह) देखता है
अनुपश्यन्ति—१५-१० (वे) देखते हैं
अनुपश्यामि—१-३१ (मैं) देखता हूं
अनुप्रपन्नाः—९-२१ आश्रय लेने-वाले—करनेवाले
अनुबन्धम्—१८-२५ कर्मों के परिणाम को, भविष्य में होनेवाले शुभ या अशुभ को
अनुबन्धे—१८-३९ परिणाम में, आखिर में, अंत में
अनुमन्ता—१३-२२ अनुमति देने-वाला
अनुरज्यते—११-३६ अनुराग—प्रीति करता है
अनुवर्त—३-२१ (वह) अनुसरण करता है
अनुवर्तन्ते—३-२३; ४-११ (वे लोग) अनुसरण करते हैं, उनके नीचे (अधीन) रहते हैं
अनुवर्तयति—३-१६ अनुसरण करता है, चलाता है
अनुविधीयते—२-६७ पीछे दौड़ा जाता है, पिरोया जाता है
अनुशासितारम्—८-९ नियन्ता—शास्ता—ईश्वर को
अनुशुश्रुम—१-४४ सुनते आये हैं
अनुशोचन्ति—२-११ शोक करते हैं
अनुशोचितुम्—२-२५ शोक करने को
अनुषज्जते—६-४ आसक्त होता है; १८-१० लीन होता है, प्रीति करता है,
अनुसंततानि—१५-२ फैले हुए, छाये हुए, पसरे हुए (हैं)
अनुस्मर—८-७ स्मरण कर, स्मरण रख
अनुस्मरन्—८-१३ चिन्तन करता हुआ, स्मरण करता हुआ
अनुस्मरेत्—८-९ ठीक स्मरण करता है
अनेकचित्तविभ्रान्ताः— १६-१६ अनेक भ्रान्तियों में पड़े हुए, अनेक प्रकार के चित्त के संकल्पों से भ्रांत हुए
अनेकजन्मसंसिद्धिः—६-४५ अनेक जन्म के प्रयत्नों से शुद्ध हुआ, सिद्धि पाया हुआ
अनेक दिव्याभरणम्— ११-१० अनेक दिव्य आभूषणवाला
अनेकधा—११-१३ अनेक रीति से
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्— ११-१६ अनेक हाथ, उदर, मुख और नेत्रवाले को
अनेकवक्त्रनयनम्—११-१० अनेक

मुख और आँखोंवाले को
अनेकवर्णम्—११-२४ अनेक रंग वाले को
अनेकाद्भुतदर्शनम्— ११-१० अनेक अद्भुत दर्शनवाला, अति आश्चर्यकारक स्वरूपवाला
अनेन—३-१०, ११ इस (यज्ञ) द्वारा; ९-१० इस (कारण) से; ११-८ इस (चर्मचक्षु) से
अन्तकाले—२-७२; ८-५ अंतकाल में, मरणकाल में
अन्तगतम्—७-२८ जिसका अंत आ गया है, जो नष्ट हो गया है
अन्तरम्—११-२० अंतर, मध्यभाग; १३-३४ भेद
अन्तरात्मना—६-४७ चित्त से, मन लगाकर
अन्तराराम:—५-२४ जिसके अन्तर में शांति है, जिसके अन्तर में सारी क्रीड़ाएं हैं
अन्तरे—५-२७ बीच में
अन्तर्ज्योति:—५-२४ जिसे अंतर्ज्ञान हुआ है, अन्तर में प्रकाशवान
अन्तवत्—७-२३ नाशवान, अंतवाला
अन्तवन्त:—२-१८ नाशवान, अंतवाले
अन्तम्—११-१६ अंत को
अन्त:—१०-१९, २०, ३२, ४०; १५-३ अंत; १३-१५ अंदर; २-१६ निर्णय, अंत
अन्त:शरीरस्थम्—१७-६ अंत:करण में रहनेवालों को, शरीर के अंतर में रहनेवाले को
अन्त:सुख:—५-२४ जिसे अंतर का आनंद है
अन्त:स्थानि—८-२२ भीतर स्थित, अंदर रहे हुए, अंतर्गत
अन्तिके—१३-१५ नजदीक, समीप में
अन्ते—७-१९ अंत में, आखिर में; ८-६ अंत में, मरणकाल में
अन्नम्—१५-१४ अन्न
अन्नसंभव:—३-१४ अन्न की उत्पत्ति
अन्नात्—३-१४ अन्न से
अन्यत्—२-३१, ४२; ७-२, ७; ११-७; १६-८ दूसरा कोई, दूसरा
अन्यत्र—३-९ दूसरे, दूसरे से, अतिरिक्त (कर्म) से
अन्यथा—१३-११ उल्टा, विपरीत
अन्यदेवताभक्ता:—९-२३ अन्यदेवता को भजनेवाले
अन्यदेवता:—७-२० दूसरे देवताओं को

अपानम्—४-२६ अपान वायु को
अपाने—४-२६ अपान वायु में
अपावृतम्—२-३२ खुला हुआ, उघड़ा हुआ
अपि—१-२७ इत्यादि, से, फिर भी, तो भी
अपुनरावृत्तिम्—५-१७ फिर देह धारण न करना, मोक्ष
अपैशुनम्—१६-२ निन्दा न करना, चुगली न खाना, अपैशुन
अपोहनम्—१५-१५ अभाव, दूर होना
अप्रकाशः—१४-१३ अंधकार, अज्ञान, विवेकशून्यता
अप्रतिमप्रभावः—११-४३ अनुपमेय प्रभाववाला, जिसकी सामर्थ्य की जोड़ नहीं
अप्रतिष्ठम्—१६-८ बिना आधार का
अप्रतिष्ठः—६-३८ आधाररहित, योग से भ्रष्ट हुआ
अप्रतीकारम्—१-४६ प्रतिकार न करनेवाले को, सामने न होनेवाले को
अप्रदाय—३-१२ बिना दिये
अप्रमेयम्—११-१७, ४२ अमाप, प्रमाण से बाहर
अप्रमेयस्य—२-१८ अमाप का

अप्रवृत्तिः—१४-१३ प्रवृत्ति का अभाव, मंदता
अप्राप्य—६-३७; ९-३; १६-२० न पाकर (न पाने से), न पाते हुए
अप्रियम्—५-२० अप्रिय, अनिष्ट वस्तु
अप्सु—७-८ पानी में
अफलप्रेप्सुना—१८-२३ फलेच्छा-रहित (पुरुष) के द्वारा
अफलाकाङ्क्षिभिः—१७-११, १७ जिन्हें फल की इच्छा नहीं उनके द्वारा, फलेच्छा का त्याग करके
अबुद्धयः—७-२४ बुद्धिहीन, अज्ञानी, मूर्ख लोग
अब्रवीत्—१-२, २७; बोला; ४-१ कहा
अभक्ताय—१८-६७ जो भक्त नहीं है उसको—उसके लिए
अभयम्—१०-४; १६-१ अभय, निर्भयता
अभवत्—१-१३ था, हुआ
अभावयतः—२-६६ ध्यान-रहित को, जिसे भक्ति नहीं उसे
अभावः—२-१६ नाश, अभाव; १०-४ मृत्यु
अभाषत—११-१४ बोला

अभिक्रमनाशः—२-४० आरंभ का नाश
अभिजनवान्—१६-१५ कुलीन
अभिजातस्य—१६-३, ४ (लेकर) जन्मे हुए का
अभिजात—१६-५ (लेकर) जन्मा हुआ
अभिजानन्ति—९-२४ (वे) पहचानते हैं, जानते हैं
अभिजनाति—४-१४; ७-१३, २५; १८-५५ (वह) अच्छी तरह जानता है, पहचानता है
अभिजायते—२-६२; ६-४१; १३-२३ उत्पन्न होता है, जन्मता है
अभितः—५-२६ सर्वत्र, सब स्थितियों में, जीते जी और मरने के बाद
अभिधास्यति—१८-६८ कहेगा, देगा
अभिधीयते—१३-१; १७-२७; १८-११ कहलाता है
अभिनन्दति—२-५७ हर्षित होता है
अभिप्रवृत्तः—४-२० तल्लीन हुआ, पूरी तरह प्रवृत्त हुआ
अभिभवति—१-४० आक्रमण करता है, डुबाये देता है
अभिभूय—१४-१० पराजय करके, दबाकर
अभिमानः—१६-४ अभिमान, गर्व
अभिमुखाः—११-२८ तरफ मुंह वाले, तरफ (होकर), अभिमुख
अभिरक्षन्तु—१-११ बराबर रक्षण करो
अभिरतः—१८-४५ निष्ठावाला, गुंथा हुआ, रत (रहकर)
अभिविज्वलन्ति—११-२८ धधकते हुए, प्रकाशमान
अभिसंधाय—१७-१२ को उद्देश्य करके, के उद्देश्य से
अभिहिता—२-३९ कही, कही हुई हैं
अभ्यधिकः—११-४३ ज्यादा, अधिक
अभ्यर्च्य—१८-४६ संतुष्ट करके, भजकर, पूजा करके
अभ्यसूयकाः—१६-१८ बहुत निंदा करने वाले, दूसरे का उत्कर्ष सहन न करनेवाले
अभ्यसूयति—१८-६७ द्वेष करता है, दोष निकालता है
अभ्यसूयन्तः—३-३२ दोष निकालने वाले
अभ्यहन्यन्त—१-१३ बज उठे, बजे
अभ्यासयोगयुक्तेन—८-८ अभ्यासरूप योग से एकाग्र हुए (चित्त) से, अभ्यास द्वारा

अभ्यासयोगेन—१२-९ चित्त को एक स्वरूप में पिरोने से, अभ्यासयोग से
अभ्यासात्—१२-१२ अभ्यास—अभ्यासमार्ग की अपेक्षा; १८-३६ अभ्याससेवन से
अभ्यासे—१२-१० अभ्यास रखने में
अभ्यासेन—६-३५ अभ्यास से
अभ्युत्थानम्—४-७ वृद्धि, जोर करना, जोर पर आना
अमलान्—१४-१४ निर्मल
अमानित्वम्—१३-७ नम्रता, आत्मस्तुति न करना
अमी—११-२१, २६, २८ ये
अमुत्र—६-४० परलोक में
अमूढ़ाः—१५-५ ज्ञानी पुरुष
अमृतत्वाय—२-१५ मोक्ष के—अमरता के लिए
अमृतस्य—१४-२७ मोक्ष का; अविनाशी का, अमृत का
अमृतम्—९-१९; १३-१२, १४-२० अमरता, मोक्ष १०-१८ अमृत के समान मधुर वचन
अमृतोद्भवम्—१०-२७ अमृत में से उत्पन्न, अमृतमंथन के समय निकला हुआ
अमृतोपमम्—१८-३७ ३८ अमृत की उपमा के लायक, अमृत-जैसा
अमेध्यम्—१७-१० यज्ञ के लिए अयोग्य, अपवित्र, अभक्ष्य
अम्बुवेगाः—११-२८ जलप्रवाह, नदियों की मोटी धार
अम्भसा—५-१० पानी से
अम्भसि—२-६७ पानी में
अयज्ञस्य—४-३१ यज्ञ न करने वाले को (के लिए)
अयतिः—६-३७ जो पूरा प्रयत्न न कर सका हो, यत्न में मंद
अयथावत्—१८-३१ अयोग्य रीति से, जो यथायोग्य न हो
अयनेषु—१-११ मार्गों में, नियुक्त स्थान में
अयशः—१०-५ अपकीर्ति, अपयश
अयम्—२-१९, २०, २०, २४, २४, २४, २५, २५, २५, ३०, ५८; ३-९, ३६; ४-३ ३१, ४०; ६-२१, ३३; ७-२५; ८-१९; ११-१; १३-३१; १५-९; १७-३ यह
अयुक्तस्य—२-६६, जिसे समत्व न हो उसे
अयुक्तः—५-१२ अयोगी, अस्थिर-चित्त; १८-२८, चंचल असावधान, अव्यवस्थित
अयोगतः—५-६ कर्मयोग के बिना
अरतिः—१३-१० अप्रीति, (सम्मिलित होने की) अरुचि

अवतिष्ठति—१४-२३ स्थिर रहता है
अवतिष्ठते—६-१८ स्थिर होता है
अवध्यः—२-३० अवध्य, जो न मारा जा सके
अवनिपालसंघैः—११-२६ राजाओं-के समुदाय सहित
अवरम्—२-४९ नीचे का, तुच्छ
अवशम्—९-८ पराधीन, असहाय
अवशः—३-५; ६-४४; ८-१९; १८-६०; पराधीन, परवश, असहाय
अवशिष्यते—७-२ बाकी रहता है
अवष्टभ्य—९-८ आश्रय लेकर; १६-९ पकड़े रखकर
अवसादयेत्—६-५ नाश करे, अधःपात करे
अवस्थातुम्—१-३० खड़ा—स्थिर—रहना
अवस्थितम्—१५-११ रहे हुए को
अवस्थितः—९-४; १३-३२; प्रतिष्ठित, के आश्रित रहा हुआ
अवस्थितान्—१-२२, २७ खड़े हुओं को
अवस्थिताः—१-११, ३३; २-६; ११-३२; रहे हुए, खड़े हुए, खड़ा किये हुए
अवहासार्थम्—११-४२ मस्खरी के लिए, विनोद के लिए
अवाच्यवादान्—२-३६ न बोलने योग्य बोल
अवाप्तव्यम्—३-२२ प्राप्त करने-को, प्राप्त करने योग्य
अवाप्तुम्—६-३६ प्राप्त होना, साधना
अवाप्नोति—१५-८; १६-२३; १८-५६ प्राप्त करता है
अवाप्य—२-८ प्राप्त करके
अवाप्यते—१२-५ प्राप्त की जाती है
अवाप्स्यथ—३-११ प्राप्त होओगे
अवाप्स्यसि—२-३८, ५३; १२-१०; प्राप्त करेगा; २-३३ प्राप्त होगा
अविकम्पेन—१०-७ अचल, अवि-चल
अविकार्यः—२-२५ जो विकार को न प्राप्त हो
अविज्ञेयम्—१३-१५ जो न जाना जाय ऐसा
अविद्वांसः—३-२३ अज्ञानी
अविधिपूर्वकम्—९-२३; १६-१७; विधिरहित, अज्ञानपूर्वक, बिना विधि के
अविनश्यन्तम्—१३-२७ अवि-नाशी को
अविनाशि—२-१७ नाशरहित; अविनाशी

अशक्तः—१२-११ अशक्त, असमर्थ
अशमः—१४-१२ अशांति
अशस्त्रम्—१-४६ शस्त्रहीन को
अशान्तस्य—२-६६ अशांत का, जिसे शांति न हो उसे
अशाश्वतम्—८-१५ अनित्य, अशाश्वत
अशास्त्रविहितम्—१७-५ शास्त्र-निषिद्ध, शास्त्रीय विधिरहित
अशुचिव्रताः—१६-१० अमंगल आचारवाले, अशुभ निश्चयों-वाले
अशुचिः—१८-२७ अपवित्र, मैला
अशुचौ—१६-१६ अपवित्र—अशुभ—में
अशुभात्—४-१६; ९-१ अशुभ—पाप—में से, अकल्याण में से
अशुभान्—१६-१९ पापों को, अमंगल को
अशुश्रूषवे—१८-६७ जो सुनने की इच्छा नहीं करता उसे
अशेषतः—६-२४, ३९; ७-२ पूर्ण रूप से, पूरी तरह से; १८-११ सर्वथा
अशेषेण—४-३५; १०-१६; १८-२९, ६३ निःशेष, पूर्ण रीति से
अशोच्यान्—२-११ न शोक करने योग्य को
अशोष्यः—२-२४ जो न सूख सके
अश्नन्—५-८ खाता हुआ
अश्नन्ति—९-२० (वे) भोगते हैं, सेवन करते हैं
अश्नामि—९-२६ (मैं) सेवन करता हूं
अश्नासि—९-२७ (तू) खाता है
अश्नुते—३-४; ५-२१; ९-२८; (वह) अनुभव करता है १३-१२; १४-२० प्राप्त होता है
अश्रद्दधानः—४-४० श्रद्धारहित
अश्रद्धधानाः—९-३ श्रद्धाहीन
अश्रद्धया—१७-२८ श्रद्धा के बिना
अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्—२-१ आंसू से जिसकी आंख भरकर व्याकुल हो गई है उसे, अश्रुपूर्ण व्याकुल नेत्रवाले को
अश्रौषम्—१८-७४ (मैंने) सुना
अश्वत्थम्—१५-१, ३ अश्वत्थ को, अश्वत्थ वृक्ष को, आनेवाले क्षण तक न टिक सके ऐसे (क्षण-भंगुर) को
अश्वत्थः—१०-२६ पीपल, अश्वत्थ वृक्ष
अश्वत्थामा—१-८ द्रोणाचार्य का पुत्र
अश्वानाम्—१०-२७ घोड़ों में
अश्विनौ—११-६, २२ (दो) अश्विनीकुमार

अस्तु--२-४७; ३-१०; ११-३१, ३६, ४० होवे
अस्थिरम्—६-२६ अस्थिर
अस्मदीयैः—११-२६ हमारे (संबंधियों) के साथ
अस्माकम्—१-७, १० हमारा
अस्मात्—१-३६ इस (पाप) से
अस्मान्—१-३६ हमें
अस्माभिः—१-३६ हमसे
अस्मि—७-८, ९, १०, ११, ११; १०-२१, २२, २३, २४, २५, २८, २९, ३०, ३१, ३३, ३६, ३७, ३८; ११-३२, ४५, ५१; १५-१८; १६-१५; १८-५५, ७३ (मैं) हूं
अस्मिन्—१-२२; २-१३; ३-३; ८-२; १३-२२; १४-११; १६-६ इसमें
अस्य—२-१७, ४०, ५९, ६५, ६७; ३-१८, ३४, ४०; ६-३९; ९-३; १७, ११-१८, ३८, ४३, ५२; १३-२१; १५-३ इसका
अस्याम्—२-७२ इसमें
अस्वर्ग्यम्—२-२ स्वर्ग से विमुख रखनेवाला
अहत्वा—२-५ न मारकर
अहरागमे—८-१८, १९ (ब्रह्माका) दिवस शुरू होते हुए निकलते हुए
अहम्—१-२२, २३; २-४, ७, १२; ३-२, २३, २४, २७; ४-१, ५, ७, ११; ६-३० ३३, ३४; ७-२, ६, ८, १०, ११, १२, १७, २१, २५, २६; ८-४, १४; ९-४, ७, १६, १७, १९, २२, २४, २६, २९; १०-१, २, ८, ११, १७; २०, २०, २१, २३, २४, २५, २८, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३९, ४२; ११-२३, ४२, ४४, ४६, ४८, ५३, ५४; १२-७; १४-३, ४, २७; १५-१३, १४, १५, १८; १६-१४, १९; १८-६६, ७०, ७४, ७५ मैं
अहंकारविमूढात्मा—३-२७ अहंकार से मूढ हुआ मनुष्य
अहंकारम्—१६-१८; १८-५३, ५९ अहंकार को
अहंकारः—७-४; १३-५ शरीर में रही हुई अहंता, अहंपना, जो गुण न हो उसका आरोपण, प्रकृति के मूल-तत्त्वों में से एक
अहंकारात्—१८-५८ अहंकार से,

अहंकार के वश होकर
अहंकृतः—१८-१७ मैं कर्त्ता हूं ऐसे अहंकार का (भाव)
अहः—८-१७, २४ दिवस
अहिताः—२-३६; १६-९ शत्रु
अहिंसा—१०-५; १३-७; १६-२; १७-१४ मन, वचन, काया से किसी को पीड़ा न देना, अहिंसा
अहैतुकम्—१८-२२ हेतुरहित, रहस्य से परे
अहो—१-४५ अहो, अरे
अहोरात्रविदः—८-१७ रात और दिवस जाननेवाले
अंशः—१५-७ भाग, अवयव, अंश
अंशुमान्—१०-२१ किरणोंवाला, चमचमाता

आ

आकाशस्थितः—९-६ आकाश में रहा हुआ
आकाशम्—१३-३२ आकाश
आख्यातम्—१८-६३ कहा गया है, कहा है
आख्याहि—११-३१ (तू) कह
आगच्छेत्—३-३४ आवे, होवे
आगताः—४-१०; १४-२ आए हुए, प्राप्त हुए
आगमापायिनः—२-१४ आनेजानेवाले, जो आते हैं और जाते हैं
आचरतः—४-२३ (कर्म) करनेवाले का
आचरति—३-२१; १६-२२ आचरण में लाता है, आचरण करता है
आचरन्—३-१९ आचरण करता हुआ, (कर्म) करता हुआ
आचारः—१६-७ आचरण, सदाचार, आचार
आचार्य—१-३ हे आचार्य
आचार्यम्—१-२ आचार्यको, आचार्य के पास
आचार्यान्—१-२६ आचार्यों को
आचार्याः—१-३४ आचार्य
आचार्योपासनम्—१३-७ गुरुसेवा
आज्यम्—९-१६ घी, आहुति
आढ्यः—१६-१५ धनवान, श्रीमंत
आततायिनः—१-३६ आततायियों को (शास्त्रकार उनके छः प्रकार गिनाते हैं : जलानेवाला, **विष** देनेवाला, खूनी तथा स्त्री, क्षेत्र और धन हरण करनेवाला)
आतिष्ठ—४-४२ आचरण कर, धारण कर

आत्थ—११-३ (तू) कहता है
आत्मकारणात्—३-१३ अपने लिए
आत्मतृप्तः—३-१७ आत्मा में तृप्त, संतुष्ट
आत्मनः—४-४२; ५-१६; ६-५, ६, ११, १६; ८-१२; १०-१८; १६-२१, २२; १७-१६; १८-३६ आत्मा का, अपना
आत्मना—२-२५; ३-४३; ६-५, ६, २०; १०-१५; १३-२४, २८ आत्मा से—द्वारा; अपने से—द्वारा
आत्मनि—२-५५; ३-१७; ६-१८, २० आत्मा में, ४-३५, ३८; ६-२६ २६; १३-२४; १५-११ अपने बारे में, अपने अंदर; ५-२१ अंतर में
आत्मपरदेहेषु—१६-१८ अपने और पराये शरीर में
आत्मबुद्धिप्रसादजम्— १८-३७ आत्मविषयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न, आत्मज्ञान-जनित प्रसन्नता से उत्पन्न हुआ
आत्मभावस्थः—१०-११ (उनके) हृदय में स्थित, अंतःकरण में रहकर

आत्ममायया—४-६ अपनी माया से, मेरी माया के बल से
आत्मयोगात्—११-४७ अपने योगबल से, मेरी शक्ति से
आत्मरतिः—३-१७ आत्ममग्न, आत्मा में रमनेवाला
आत्मवन्तम्—४-४१ आत्मवान को, आत्मनिष्ठ को, आत्मदर्शी को
आत्मवश्यैः—२-६४ आत्मा के वश में रही हुई (इन्द्रियों) से, आत्मा के अधीन रखकर
आत्मवान्—२-४५ आत्म-स्वरूप में स्थित, आत्मपरायण
आत्मविनिग्रहः—१३-७; १७-१६ मनोनिग्रह, आत्मसंयम
आत्मविभूतयः—१०-१६, १६ अपनी विभूतियां
आत्मविशुद्धये—६-१२ आत्म-शुद्धि के लिए
आत्मशुद्धये—५-११ आत्म-शुद्धि के लिए
आत्मसंभाविताः—१६-१७ आत्म-श्लाघा करनेवाले, अपने को बड़ा माननेवाले
आत्मसंयमयोगाग्नौ—४-२७ आत्मसंयमरूप योगाग्नि में
आत्मसंस्थम्—६-२५ आत्मा में स्थिर

आत्मा—६-५, ६; ७-१८; ९-५; १०-२०; १३-२२ आत्मा

आत्मानम्—३-४३; ४-७; ६-५, १०, १५, २०, २८, २९; ९-३४; १०-१५; ११-३, ४; १३-२४, २८, २९; १८-१६, ५१ आत्मा को, अपने को

आत्मौपम्येन—६-३२ अपने साथ तुलना करके, अपने-जैसा मानकर

आत्यन्तिकम्—६-२१ अनन्त, परम

आदत्ते—५-१५ ग्रहण करता है, ओढ़ता है

आदर्शः—३-३८ दर्पण

आदिकर्त्रे—११-३७ आदिकर्त्ता को, सिरजनहार को

आदित्यगतम्—१५-१२ आदित्य में (सूर्य में) स्थित

आदित्यवत्—५-१६ सूर्य के-जैसा, सूर्य की तरह

आदित्यवर्णम्—८-९ सूर्य के समान तेजवाले को

आदित्यानाम्—१०-२१आदित्यों-में

आदित्यान्—११-६ आदित्यों को

आदिदेवम्—१०-१२ आदिदेव को, देवों में प्रथम को

आदिदेवः—११-३८ देवों में प्रथम

आदिम्—११-१६ आदि को

आदिः—१०-२ उत्पत्तिकारण आदिकारण; १०-२०, ३२; १५-३ आदि आरम्भ

आदौ—३-४१ प्रथम; ४-४ पहले

आद्यन्तवन्तः—५-२२ आदि और अंतवाले

आद्यम्—८-२८; ११-३१, ४७; १५-४ प्रथम, आदिकारणरूप आदि में विद्यमान

आधत्स्व—१२-८ लगा, चिपका, पिरो

आधाय—५-१० अर्पण करके; ८-१२ धारण करके, स्थापित करके

आधिपत्यम्—२-८ मुखियापन, प्रभुत्व

आपन्नम्—७-२४ प्राप्त हुए को

आपन्नाः—१६-२० प्राप्त हुए, प्राप्त होकर

आपः—२-२३, ७० पानी; ७-४ पानी, रस, जलतन्मात्रा

आपूर्य—११-३० पूरा करके, भर करके

आपूर्यमाणम्—२-७० चारों ओर से पूर्ण होते हुए—भरते हुए (को)

आप्तुम्—५-६; १२-९ पाने—प्राप्त करने (की)

आप्नुयाम्—३-२ (मैं) प्राप्त करूं, पाऊं
आप्नुवन्ति—८-१५ (वे) प्राप्त करते हैं
आप्नोति—२-७०; ३-१९; ४-२१; ५-१२; १८-४७, ५० प्राप्त करता है
आब्रह्मभुवनात्—८-१६ ब्रह्मलोक तक (के)
आयुधानाम्—१०-२८ शस्त्रों में, हथियारों में
आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः—१७-८ आयुष्य, उत्साह (सत्त्व), बल, आरोग्य, आनन्द (सुख) और रुचि बढ़ानेवाले
आरभते—३-७ आरंभ करता है
आरभ्यते—१८-२५ आरंभ किया जाता है, शुरू किया जाता है
आरम्भः—१४-१२ (कर्मों का) आरम्भ
आरुरुक्षोः—६-३ ऊपर चढ़ने की, प्राप्त करने की—इच्छावाले को, साधन करने वाले को, उत्थान चाहनेवाले को
आर्जवम्—१३-७; १६-१; १७-१४; १८-४२ सरलता
आर्त्तः—७-१६ (रोगादि के भय से) दुखी
आवयोः—१८-७० हम दोनों का
आवर्तते—८-२६ पीछे फिरता है
आवर्तिनः—८-१६ पीछे लौटनेवाले
आविश्य—१५-१३, १७ प्रवेश करके
आविष्टम्—२-१ घिरे हुए को, दीन बने हुए को
आविष्टः—१-२८ घिरा हुआ, दीन बना हुआ
आवृत्तम्—३-३८, ३९; ५-१५ ढका हुआ
आवृत्तः—३-३८ ढका हुआ
आवृता—१८-३२ ढकी हुई, घिरी हुई
आवृताः—१८-४८ ढके हुए, घिरे हुए
आवृत्तिम्—८-२३ पीछे लौटना, पुनर्जन्म
आवृत्य—३-४०; १३-१३; १४-९ ढांककर, व्याप्त (आवृत) कर
आवेशितचेतसाम्—१२-७ जिनका चित्त पिरोया हुआ है उनका करके, लगाकर, एकाग्र करके
आव्रियते—३-३८ ढका जाता है, घिरा रहता है
आशयात्—१५-८ स्थान में से, आसपास के मंडल में से
आशापाशशतैः—१६-१२ आशा-

रूपी सैकड़ों बंधनों से, आशा के सैकड़ों फंदों से

आशु—२-६५ तुरत

आश्चर्यवत्—२-२९ आश्चर्यपूर्वक, आश्चर्य-जैसा

आश्चर्याणि—११-६ आश्चर्यमय रूपों को

आश्रयेत्—१-३६ आश्रय लेगा, लगेगा

आश्रितम्—६-११ धारण किये हुए को, आश्रय लेनेवाले को

आश्रितः—१२-११; १५-१४ का आश्रय लेनेवाला (लेकर)

आश्रिताः—७-१५; ९-१३ का आश्रय लेनेवाले, के आश्रय में रहे हुए

आश्रित्य—७-२९; १६-१०; १८-५९ आश्रय लेकर

आश्वासयामास—११-५० आश्वासन दिया, शांत किया

आवेश्य—८-१०; १२-२ स्थापित

आसक्तमनाः—७-१ जिसका मन पिरोया हुआ है वह

आसनम्—६-११ आसन

आसने—६-१२ आसनपर

आसम्—२-१२ (मैं) था

आसाद्य—९-२० प्राप्त करके

आसीत—२-५४, ६१; ६-१४ बैठता है, स्थिर होता है

आसीनम्—९-९ बैठे हुए को, (स्थिर) रहे हुए को

आसीनः—१४-२३ (स्थिर) रहा हुआ, बैठा हुआ

आसुरनिश्चयान्—१७-६ आसुरी निश्चय—निष्ठावालों को

आसुरम्—७-१५; १६-६ आसुरी

आसुरः—१६-६ आसुरी

आसुराः—१६-७ असुर (लोग)

आसुरी—१६-५ आसुरी

आसुरीषु—आसुरी (योनियों) में

आसुरीम्—९-१२; १६-४ २० आसुरी (को)

आस्तिक्यम्—१८-४२ आस्तिकता, ईश्वर है ऐसी श्रद्धा

आस्ते—३-६; ५-१३ रहता है, बरतता है

आस्थाय—७-२० आश्रय लेकर

आस्थितः—५-४; ६-३१; ८-१२ आश्रय लिये हुए, स्थित हुआ, ७-१८ आश्रय लेता है

आस्थिताः—३-२० प्राप्त हुए

आह—१-२१; ११-३५ कहा

आहवे—१-३१ युद्ध में

आहारः—१७-७ खुराक, आहार

आहाराः—१७-८, ९ आहार (भोजन के पदार्थ)

आहुः—३-४२; ४-१९; ८-२१; १०-१३; १४-१६; १६-८;

ई

ईदृक्— ११-४९ ऐसा

ईदृशम्—२-३२; ६-४२ ऐसा इस प्रकार का

ईशम्—११-१५, ४४ नियंता को, ईश को, ईश्वर को

ईश्वरभावः—१८-४३ प्रभुता, राज्यकर्त्तापन

ईश्वरम्—१३-२८ ईश्वर को

ईश्वरः—४-६ स्वामी; १५-८ जीवरूप बना हुआ यह मेरा अंशरूपी ईश्वर; १५-१७; १८-६१ ईश्वर, परमात्मा; १६-१४ ईश्वर, सर्वसम्पन्न

ईहते—(वे) इच्छा करते हैं

ईहन्ते—१६-१२ (वे) इच्छा करते हैं

उ

उक्तम्—११-१, ४१; १२-२०; १३-१८; १५-२० कहा हुआ उक्त, कहा गया

उक्तः—१-२४; ८-२१; १३-२२ कहा गया, कहा हुआ

उक्ताः—२-१८ कहे गये हैं, कहा है

उक्त्वा—१-४७; २-९; ११-९, २१, ५० कहकर, बोलकर

उग्रकर्माणः—१६-९ घोर कर्म करनेवाले, भयानक काम करनेवाले

उग्ररूपः—११-३१ भयंकर रूपवाला, उग्ररूप

उग्रम्—११-२० उग्र

उग्राः—११-३० उग्र

उग्रैः—११-४८ उग्र (तपों) से

उच्चैः—१-१२ ऊंचे स्वर से

उच्चैःश्रवसम्—१०-२७ उच्चैःश्रवा नाम का जो इन्द्र का घोड़ा है, उसे

उच्छिष्टम्—१७-१० जूठन

उच्छोषणम्—२-८ चूस लेनेवाले

उच्यते—२-२५, ४८, ५५, ५६; ३-६, ४०; ६-३, ४, ८, १८; ८-१, ३; १३-१२, १७, २०; १४-२५; १५-१६; १७-१४, १५, १६, २७, २८; १८-२३, २५, २६, २८ कहाता है, कहा जाता है

उत—१-४०; १४-६, ११ सचमुच भी

उत्क्रामति—१५-८ छोड़ता है, त्यागता है

उत्क्रामन्तम्—१५-१० (देह) छोड़ते हुए को, (शरीर का) त्याग करते हुए को

उत्तमविदाम्—१४-१४ ज्ञानियों का

उत्तमम्—४-३; ६-२७; ९-२; १४-१, १८-६ उत्तम

उत्तमः—१५-१७, १८ उत्तम
उत्तमाङ्गैः—११-१७ मस्तकों से, मस्तकों-सहित
उत्तमौजाः—१-६ एक राजा का नाम
उत्तरायणम्—८-२४ उत्तरायण
उत्तिष्ठ—२-३, ३७; ४-४२; ११-३३ खड़ा हो, उठ
उत्थिता—११-१२ प्रकट हुई, प्रकाशित हुई
उत्सन्नकुलधर्माणाम्— १-४४ जिनके कुलधर्म का नाश हुआ है उनका
उत्सादनार्थम्—१७-१९ विनाश के लिए, नाश के हेतु
उत्साद्यन्ते—१-४३ नाश को प्राप्त होते हैं, नष्ट हो जाते हैं
उत्सीदेयुः—३-२४ नष्ट हो जायं, भ्रष्ट हो जायं
उत्सृजामि—९-१९ बरसाता हूं, गिरने देता हूं
उत्सृज्य—१६-२३; १७-१ त्यागकर, छोड़कर
उदपाने—२-४६ कुएं में, तालाब में
उदाराः—७-१८ उदार, सुन्दर, अच्छे
उदासीनवत्—९-९; १४-२३ उदासीन-जैसा
उदासीनः—१२-१६ तटस्थ, उदासीन

उदाहृतम्—१३-६; १७-१९, २२ कहा है, कहा हुआ है; १८-२२, २४, ३९ कहलाया है, कहाता है
उदाहृतः—१५-१७ कहा हुआ, कहाता है
उदाहृत्य—१७-२४ उच्चारण करके
उद्दिश्य—१७-२१ उद्देश्य करके—रखकर
उद्देशतः—१०-४० दृष्टान्तरूप, सारांश में
उद्धरेत्—६-५ उद्धार करे
उद्भवः—१०-३४ उत्पत्ति, उत्पत्तिकारण
उद्यताः—१-४५ तैयार
उद्यम्य—१-२० चढ़ाकर, उठाकर
उद्विजते—१२-१५, उद्वेग—संताप—क्षोभ पाता है
उद्विजेत्—५-२० संताप पाये, दुःख माने, दुखी हो
उन्मिषन्—५-९ आंख खोलते
उपजायते—२-६२, ६५; १४-११ उत्पन्न होता है, का उद्भव होता है
उपजायन्ते—१४-२ उत्पन्न होते हैं
उपजुह्वति—४-२५ होम करते

हैं, यज्ञ करते हैं

उपदेक्ष्यन्ति—४-३४ उपदेश देंगे, समझावेंगे

उपद्रष्टा—१३-२२ पास में रहकर देखने वाला, साक्षी, सर्वसाक्षी

उपधारय—७-६; ९-६ जान

उपपद्यते—२-३; १८-७ उचित है, शोभा देता है, योग्य है; ६-३९ मिल सकता है; १३-१८ योग्य बनता है

उपपन्नम्—२-३२ आया हुआ, प्राप्त हुआ

उपमा—६-१९ उपमा, तुलना

उपयान्ति—१०-१० पाते हैं

उपरतम्—२-३५ रुका हुआ, पीछे हटा हुआ

उपरमते—६-२० स्थिर होता है, शांत हो जाता है

उपरमेत्—६-२५ स्थिर हो, शांत हो जाय

उपलभ्यते—१५-३ उपलब्ध होता है, जाना जा सकता है, देखने में आता है

उपलिप्यते—१३-३२, लिप्त होता है, लिपटता है

उपविश्य—६-१२ बैठकर

उपसंगम्य—१-२ पास जाकर

उपसेवते—१५-९ भोगता है, सेवन करता है

उपहन्याम्—३-२४ नाश करूं

उपायतः—६-३६ उपाय के द्वारा

उपाविशत्—१-४७ बैठ गया

उपाश्रिताः—४-१०; १६-११ आश्रय लेनेवाले

उपाश्रित्य—१४-२; १८-५७ आश्रय लेकर

उपासते—९-१४, १५; १२-२, ६; १३-२५ पूजते हैं, उपासना करते हैं

उपेताः—१२-२ से युक्त, युक्त हुए

उपेतः—६-३७ से युक्त, युक्त हुआ

उपेत्य—८-१५, १६ पहुंचकर, पाकर

उपैति—६-२७; ८-१०, २८ पास जाता है, प्राप्त होता है

उपैष्यसि—९-२८ (तू) प्राप्त होगा

उभयविभ्रष्टः—६-३८ दोनों (कर्म और योग-मार्ग) से गया हुआ (गिरा हुआ)

उभयोः—१-२१, २४; २-१० १६; ५-४ दो की, दोनों की; १-२७ दोनों में

उभे—२-५० दोनों

उभौ—२-१९; ५-२; १३-१९ दोनों

उरगान्—११-१५ सर्पों को
उल्बेन—३-३८ जेर से
उवाच—१-१, २५; २-१, १०; ३-१० बोला
उशना—१०-३७ इस नाम के प्राचीन कवि शुक्राचार्य
उषित्वा—६-४१ रहकर

ऊ

ऊष्मपाः—११-२२ गरम ही पीने वाले पितर
ऊर्जितम्—१०-४१ प्रभावशाली
ऊर्ध्वमूलम्—१५-५ ऊंचे मूलवाला
ऊर्ध्वम्—१४-१८; १५-२ ऊंचे, ऊपर; १२-८ पीछे, उपरान्त

ऋ

ऋक्—९-१७ ऋग्वेद, ऋग्वेद का मंत्र (ऋचा)
ऋच्छति—२-७२; ५-२९ जाता है, पाता है
ऋतम्—१०-१४ सत्य
ऋतूनाम्—१०-३५ ऋतुओं में
ऋते—११-३२ बिना
ऋद्धम्—२-८ समृद्ध, धन-धान्यसंपन्न
ऋषयः—५-२५; १०-१३ ऋषि-गण
ऋषिभिः—१३-४ ऋषियों ने, ऋषियों के द्वारा
ऋषीन्—११-१५ ऋषियों को

ए

एकत्वम्—६-३१ एकत्व (को)
एकत्वेन—९-१५ एकरूप से, ब्रह्म के सिवा दूसरा कुछ नहीं है, ऐसा जानकर
एकभक्तिः—७-१७ एक की (मेरी) ही भक्ति करनेवाला, एकनिष्ठ भक्त
एकम्—३-२; १०-२५; १३-५ एक; ५-१, ४, ५; १८-२०, ६६ एक को
एकया—८-२६ एक से (ज्ञान-मार्ग से)
एकस्थम्—११-७, १३; १३-३० एक ठिकाने स्थित, एक रूप में स्थित
एकस्मिन्—१८-२२ एक में
एकः—११-४२; १३-३३ एक, अकेला
एका—२-४१ एक, एकरूप
एकाकी—६-१० एकाकी अकेला
एकाक्षरम्—८-१३ एकाक्षरी
एकाग्रम्—६-१२ एकाग्र
एकाग्रेण—१८-७२ एकाग्र (चित्त) से

एकान्तम्—६-१६ केवल, बिल्कुल
एकांशेन—१०-४२ एक अंश—भाग—से
एकेन—११-२० अकेले के द्वारा
एके—१८-३ कई एक, कितने ही
एतत्—२-३ ६; ३-३२; ४-३, ४; ६-२६, ३९, ४२; १०-१४; ११-३ ३५; १२-११; १३-१, ६, ११, १८; १५-२०; १६-२१; १७-१६, २६; १८-६३, ७२, ७५ यह
एतद्योनीनि—७-६ ये (दोनों प्रकृतियां) जिनकी उत्पत्ति का कारण हैं वे भूत
एतयोः—५-१ इन (दो) में से
एतस्य—६-३३ इसकी, उसकी
एतानि—१४-१२, १३; १५-८; १८-६, १३ ये
एतान्—१-२२, २५, ३५, ३६; १४-२०, २१, २६, इनको
एताम्—१-३; ७-१४; १०-७; १६-९ इसको
एतावत—१६-११ इतना मात्र, 'भोग ही सर्वस्व है' ऐसा (निश्चय करनेवाले)
एति—४-९; ८-६; ११-५५ जाता है, प्राप्त होता है
एते—१-२३, ३८; २-१५; ४-३०; ७-१८; ११-३३ १८-१५ ये, ८-२६, २७ ये दो
एतेन—३-३९; १०-४२ इससे, इसके द्वारा
एतेषाम्—१-१० इन (लोगों) का
एतैः—१-४३; ३-४०; १६-२२ इनके द्वारा
एधांसि—४-३७ ईंधन, लकड़ियां
एनम्—२-१९, २१, २३, २५, ४-४२; ६-२७; ११-५०; १५-३, ११ इसको, इनको
एनाम्—२-७२ इसको
एभिः—७-१३; १८-४० इनके द्वारा, इनसे
एभ्यः—३-१२ इनको ७-१३ इनसे
एव—१-१, ६, ८ इत्यादि, और, वैसे ही, भी, ही
एवम्—१-२४ इत्यादि, ऐसे, इस प्रकार; २-२५, २६ ऐसा; २-३८ ऐसा करने से
एवंरूपः—११-४८ ऐसे रूपवाला
एवंविधः—११-५३, ५४ इस भांति का, इस प्रकार का
एषः—३-१०, ३७, ४०; १०-४०; १८-५९ यह, ये
एषा—२-३९, ७२; ७-१४ यह
एषाम्—१-४२ इनके
एष्यति—१८-६८ आयेगा, प्राप्त होगा

एष्यसि—८-७; ६-३४; १८-६५ (तू) आयेगा, पायेगा

ऐ

ऐकान्तिकस्य—१४-२७ उत्तम २६, २६; ३-३७, ४१; —परम—अखंड, एकरस-(का)

ऐश्वरम्—६-५; ११-३, ८, ६ ईश्वरीय

ऐरावतम्—१०-२७ ऐरावत हाथी (को)

ओ

ओजसा—१५-१३ तेज से, बल से; शक्ति से

ओषधीः—१५-१३ अनाज को, वनस्पतियों को

ओम्—८-१३ प्रणव, ओंकार; १७-२३, २४ ओम्

ओंकारः—६-१७ प्रणव

औ

औषधम्—६-१६ (यज्ञ की) वनस्पति

क

कच्चित्—६-३८; १८-७२ क्या यह सच है ? कुछ भी, क्या

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्ष-विदाहिनः—१७-६ कड़वे, खट्टे, खारे, बहुत उष्ण, तीखे, रूखे, जलन पैदा करनेवाले

कतरत्—२-६ (दो में से) कौन-सा, क्या

कथम्—१-३७, ३६; २-४, २१; ४-४; ८-२; १०-१७; १४-२१ क्यों, कैसे

कथय—१०-१८ (तू) कह

कथयतः—१८-७५ कहनेवाले (से)

कथयन्तः—१०-६ कथन करते हुए, कीर्तन करते हुए

कथयिष्यन्ति—२-३४ (वे) कहेंगे

कथयिष्यमि—१०-१६ (मैं) कहूंगा

कदाचन—२-४७; १८-६७ कभी भी

कदाचित्—२-२० कभी-कभी

कन्दर्पः—१०-२८ कामदेव

कपिध्वजः—१-२० जिसकी ध्वजा पर वानर (हनुमान) है वह, अर्जुन

कपिलः—१०-२६ कपिल मुनि

कम्—२-२१ किसको

कमलपत्राक्ष—११-२ कमल-पत्र-जैसी आंखवाले हे कृष्ण

कमलासनस्थम्—११-१५ कमल के आसन पर बैठे हुए (ब्रह्मा) को, कमलासन पर विराजनेवाले को

करणम्—१८-१४, १८ साधन, इन्द्रिय (५ कर्मेन्द्रियां, ५ ज्ञानेन्द्रियां, मन तथा बुद्धि)

करिष्यति—३-३३ करेगा, करे

करिष्यसि—२-३३; १८-६० (तू) करेगा

करिष्ये—१८-७३ (मैं) करूंगा

करुण:—१२-१३ दयावान

करोति—४-२०; ५-१०; ६-१; १३-३१ (वह) करता है

करोमि—५-८ (मैं) करता हूं

करोपि—९-२७ (तू) करता है करे

कर्णम्—११-३४ कर्ण को

कर्ण:—१-८ कुन्ती का पुत्र कर्ण

कर्त्तव्यम्—३-२२ करने योग्य, करने का

कर्तव्यानि—१८-६ करनेयोग्य, करने चाहिए

कर्त्ता—३-२४, २७; १८-१४, १८, १९, २६, २७, २८ करनेवाला, कर्त्ता

कर्तारम्—४-१३; १४-१९; १८-१६ कर्त्ता को, करनेवाले को

कर्तुम्—१-४५; २-१७; ३-२०; ९-२; १२-११; १६-२४; १८-६० करने को

कर्तृत्वम्—५-१४ कर्त्तापन

कर्म—२-४९; ३-५, ८, ९, १५, १९, २४; ४-९, १५, १६, १८, २१, २३, ३३; ५-११; ६-१, ३; ७-२९; ८-१; १६-२४; १७-२७; १८-३, ५, ८, ९, १०, १५, १८, १९, २३, २४, २५, ४३, ४४, ४७, ४८ कर्म

कर्मचोदना—१८-१८ कर्म की प्रेरणा

कर्मजम् २-११ कर्म से उत्पन्न हुए (को)

कर्मजा—४-१२ कर्मजन्य, कर्म से उत्पन्न हुई

कर्मजान्—४-३२ (उनको) कर्म से उत्पन्न हुए (जात)

कर्मण:—३-१ कर्म से कर्म की अपेक्षा १३-९ कर्म से, कर्म के सिवा; ४-१७; १४-१६; १८-७, १२ कर्म का—की

कर्मणा—३-२०; १८-६० कर्म-से, कर्म द्वारा

कर्मणाम्—३-४; ४-१२; ५-१; १४,१२; १८-२ कर्मो का

कर्मानुबन्धीनि—१५-२ कर्मों के बन्धन उत्पन्न करनेवाले

कर्मिभ्यः—६-४६ कर्मठों की अपेक्षा, कर्मकांडियों की अपेक्षा

कर्मेन्द्रियाणि—३-६ कर्म करनेवाली इन्द्रियों को, कर्मेन्द्रियों को

कर्मेन्द्रियैः—३-७ कर्म करनेवाली इन्द्रियों द्वारा

कर्षति—१५-७ खींचता है, आकर्षित करता है

कर्षयन्तः—१७-६ क्षीण करते हुए, कष्ट देते हुए

कलयताम्—१०-३० गिनती करनेवालों में, गिननेवालो में

कलेवरम्—८-५, ६ शरीर को, देह को

कल्पक्षये—९-७ प्रलयकाल में, कल्प के अंत में

कल्पते—२-१५; १४-२६; १८-५३ के योग्य होता है

कल्पादौ—९-७ उत्पत्तिकाल में: कल्प के आरम्भ में

कल्याणकृत्—६-४० पुण्यवान, कल्याणमार्गपर चलनेवाला

कवयः—४-१६; १८-२ विद्वान पुरुष, ज्ञानी लोग

कविम्—८-९ सर्वज्ञ को

कविः—१०-३७ कवि

कवीनाम्—१०-३७ कवियों में

कश्चन—३-१८; ६-२; ७-२६; ८-२७ कोई भी

कश्चित्—२-१७, २९; ३-५, १८; ६-४०; ७-३; १८-६९ कोई, कोई एक

कश्मलम्—२-२ मोह, मलिनता

कस्मात्—११-३७ किससे, कैसे, क्यों

कस्यचित्—५-१५ किसी का (भी)

कः—८-२; ११-३१; १६-१५ कौन

का—१-३६; २-२८, ५४; १७-१ क्या, कैसी

काङ्क्षति—५-३; १४-२२; १८-५४ इच्छा करता है १२-१७ आशाएं बांधता है

काङ्क्षन्तः—४-१२ चाहते हुए

काङ्क्षितम्—१-३३ इच्छित

काङ्क्षे—१-३२ (मैं) इच्छा करता हूं, चाहता हूं

कामकामाः—९-२१ कामों, फल की इच्छा करनेवाले

कामकामी—२-७० विषयेच्छु, कामवाला, फल चाहनेवाला

कामकारतः—१६-२३ स्वेच्छा से अपनी इच्छा से

कामकारेण—५-१२ कामनाद्वारा, कामनावाला होकर

कामक्रोधपरायणाः—१६-१२ काम-

क्रोध में फंसे हुए
कामक्रोधवियुक्तानाम्—५-२६ जिन्होंने काम और क्रोध त्याग दिये हैं उनका
कामक्रोधोद्भवम्—५-२३ काम और क्रोध से उत्पन्न
कामधुक्—१०-२८ मनचाही वस्तु देनेवाली गाय, कामधेनु
कामभोगार्थम्—१६-१२ विषय-भोग के लिए
कामभोगेषु—१६-१६ विषय भोगों में
कामम्—१६-१०, १८; १८-५३ विषयभोगेच्छा को, काम को
कामरागबलान्विता:—१७-५ विषयेच्छा और भोगाभिलाषा के बल से युक्त काम और राग के बल से प्रेरित
कामरागविवर्जितम्—७-११ काम और राग से रहित
कामरूपम्—३-४३ कामरूप को
कामरूपेण—३-३९ कामरूप से
कामसंकल्पवर्जिता: — ४-१९ कामना और संकल्परहित
कामहतुकम्—१६-८ विषय-भोग जिसका हेतु है ऐसा
काम्—६-३७ कैसी, कौनसी
कामः—२-६२; १६-२१ कामना; ३-३७; ७-११ काम
कामात्—२-६२ कामना से
कामात्मान:—२-४३ कामनावाले पुरुष
कामान्—२-५५, ७१; ६-२४; ७-२२ कामनाओं को
कामा:—२-७० कामनाएँ, संसार के भोग
कामेप्सुना—१८-२४ फलभोगार्थी से, भोग की इच्छा रखनेवाले से
कामै:—७-२० विषयों से, कामनाओं से
कामोपभोगपरमा:— १६-११ विषयभोगों को उत्तम वस्तु माननेवाले, विषगभोग में मस्त हुए, कर्मों के परम भोगी
काम्यानाम्—१८-२ कामनावाले, कामना से उत्पन्न
कायक्लेशभयात्—१८-८ काया-के कष्ट के भय से
कायशिरोग्रीवम्—६-१३ शरीर, सिर और गर्दन
कायम्—११-४४ शरीर को
कायेन ५-११ शरीर से—के द्वारा
कारणम् ६-३; १३-२१ साधना, हेतु, कारण
कारणानि—१८-१३ कारण
कारयन्—५-१३ करवाता हुआ
कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव:— २-७ मोहसे जिसका स्वभाव दूषित

हो गया है, कायरता से जिस-
की वृति मारी गई है

कार्यकारणकर्तृत्वे-१३-२० कार्य-
कारण के कर्त्तापन में, कार्य
और कारण को उत्पन्न करने में

कार्यते—३-५ कराया जाता है

कार्यम्—३-१७, १६; ६-१, १८-
३१ करने का, कर्तव्य, विहित;
१८-५, ६ करना चाहिए

कार्याकार्यव्यवस्थितौ— १६-२४
कर्तव्य-अकर्तव्य की व्यवस्था में
कार्य और अकार्य के निर्णय
करने में

कार्याकार्ये—१८-३० कार्य और
अकार्य को

कार्ये—१८-२२ कार्य में, कार्य के
सम्बन्ध में

कालम्—८-२३ काल को

कालः—१०-३०, ३३; ११-३२
काल

कालानलसंनिभानि— ११-२५
प्रलयकाल की अग्नि-जैसे

काले—८-२३ काल में, १७-२०
(योग्य) काल में

कालेन—४-२, ३८ काल से, काल
के बल से

कालेषु—८-७, २७ सदा, काल में

काशिराजः—१-५ राजा का नाम

काश्यः—१-१७ काशिराज

किञ्चन—३-२२ कुछ भी

किञ्चित्—४-२०; ५-८;
६-२५; ७-७; १६-२६
कुछ भी, कहीं भी

किम्—१-१, ३२, ३५; २-३६,
५४; ३-३३; ४-१६;
८-१; ६-३३; १०-४२;
१६-८ क्या; १-३५; ३-१
कैसा, किसलिए

किमाचारः—१४-२१ कैसे
आचारवाला

किरीटी—११-३५ मुकुटधारी
(अर्जुन)

किरीटिनम्—११-१७, ४६
मुकुटधारी (कृष्ण) को

किल्बिषम्—४-२१; १८-४७
पाप

कीर्तयन्तः—६-१४ कीर्तन
करनेवाले

कीर्तिम्—२-३३ यश, कीर्ति
(को)

कीर्तिः—१०-३४ कीर्ति, यश

कुतः—२-२, ६६; ४-३१;
११-४३ कहां से

कुन्तिभोजः—१-५ राजा का नाम

कुन्तीपुत्रः—१-१६ कुन्ती का पुत्र

कुरु—२-४८; ३-८; ४-१५;
६-३४; १२-११; १८-६३,
६५ कर

कृतेन—३-१८ करने से, कर्म से, कर्म करने से

कृत्वा—२-३८; ४-२२; ५-२७; ६-१२,२५; ११-३५; १८-८, ६८ करके

कृत्स्नकर्मकृत्—४-१८ सब कर्म करनेवाला, संपूर्ण कर्म करनेवाला

कृत्स्नवत्—१८-२२ पूर्ण-जैसा

कृत्स्नवित्—३-२९ सर्वज्ञ, ज्ञानी

कृत्स्नस्य—७-६ संपूर्ण (जगत) का

कृत्स्नम्—१-४०; ७-२९; ९-८; १०-४२; ११-७; १३; १३-३३ समस्त

कृपणाः—२-४९ दान, पामर, अज्ञानी, दया के पात्र

कृपया—१-२७ २-१ करुणा से व्याकुलता से, खेद से

कृपः—१-८ कृपाचार्य

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यम्—१८-४४ खेती, गोरक्षा और व्यापार

कृष्ण—१-२८, ३२, ४१; ५-१; ६-३४, ३७, ३९; ११-४१; १७-१ हे कृष्ण

कृष्णम्—११-३५ कृष्ण को

कृष्णः—८-२५ कृष्ण पक्ष; १८-७८ कृष्ण

कृष्णात्—१८-७५ कृष्ण के पास से

के—१२-१ कौन, कौन-से

केचित्—११-२१, २७; १३-२४ कई एक, कुछ

केन—३-३६ किससे

केनचित्—१२-१९ जिस किसी से

केवलम्—४-२१; १८-१६ केवल, मात्र

केवलैः—५-११ मात्र, केवल (से)

केशव—१-३१; २-५४; ३-१; १०-१४ हे केशव

केशवस्य—११-३५ केशव का

केशवार्जुनयोः—१८-७६ केशव और अर्जुन का, केशव और अर्जुन के बीच का

केशिनिषूदन—१८-१ केशीदैत्य का नाश करनेवाले हे कृष्ण

केषु—१०-१७ किन में,

कैः—१-२२ किनके साथ; ४-२१ किन (चिह्नों) द्वारा, कैसे, किन-किनके द्वारा

कौन्तेय—२-१४, ३७, ६०; ३-९ ३९; ५-२२; ६-३५; ७-८; ८-६, १६; ९-७, १०, २३, २७, ३१; १३-१, ३१; १४-४, ७; १६-२०, २२; १८-४८, ५०, ६०, हे कुन्तीपुत्र, अर्जुन

कौन्तेयः—१-२७ कुन्तीपुत्र, अर्जुन

कौमारम्—२-१३ कुमारावस्था

कौशलम्—२-५० कुशलता

क्रतुः—९-१६ यज्ञ का संकल्प

क्षेमतरम्—१-४६ बहुत कल्याण-कारक

ख

खम्—७-४ आकाश (तन्मात्रा)

खे—७-८ आकाश में

ग

गच्छ—१८-६२ जा

गच्छति—६-३७, ४० जाता है, प्राप्त करता है

गच्छन्—५-८ चलते हुए

गच्छन्ति—२-५१; ५-१७; ८-२४; १४-१८; १५-५ जाते हैं, प्राप्त करते हैं

गजेन्द्राणाम्—१०-२७ गजेन्द्रों में उत्तम हाथियों में

गतरसम्—१७-१० जिसमें से रस बह गया हो वह, बहुत पका हुआ, रसहीन

गतव्यथः—१२-१६ भयरहित चितारहित

गतसंगस्य—४-२३ संगरहित का, आसक्तिरहित का

गतसंदेहः—१८-७३ संशयरहित हुआ

गतः—११-५१ गया हुआ; पाया हुआ

गतागतम्—९-२१ गमन-आगमन को, जन्म-मरण के फेर को, आवागमन को

गतासून्—२-११ मरे हुओं को

गताः—८-१५ प्राप्त हुए; १४-१ प्राप्त हो गये हैं; १५-४ गये हुए

गतिम्—६-३७, ४५; ७-१८; ८-१३, २१; ९-३२; १३-२८; १६-२०, २२, २३ गति को

गतिः—४-१७; ९-१८; १२-५ गति

गती—८-२६ (दो) गति, मार्ग

गत्वा—१४-१५; १५-६ जाकर, प्राप्त होकर

गदिनम्—११-१७, ४६ गदाधारी को

गन्तव्यम्—४-२४ प्राप्त करने योग्य

गन्तासि—२-५२ (तू) जायगा, प्राप्त करेगा

गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा—११-२२ गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों के समुदाय—संघ

गन्धर्वाणाम्—१०-२६ गंधर्वों में

गन्धः—७-९ गंध, वास

गन्धान्—१५-८ गंधों को

गम्यते—५-५ प्राप्त किया जाता है

गरीयसे—११-३७ महान को, बहुत बड़े को

गरीयः—२-६ अधिक श्रेष्ठ (बहुत बड़ा)

गरीयान्—११-४३ श्रेष्ठ, बहुत बड़े

अधिक गुह्य, गुह्यसे गुह्य
गुह्यतरम्—१८-६३ बहुत गुह्य
गुह्यम्—११-१; १८-६८, ७५ गुप्त वस्तु, रहस्य, गुह्य
गुह्यात्—१८-६३ गुह्य से
गुह्यानाम्—१०-३८ गुह्य (रखने की) बातों में
गृणन्ति—११-२१ उच्चारण करते हैं
गृह्णन्—५-९ पकड़ता हुआ, लेता हुआ
गृह्णाति—२-२२ ग्रहण करता है, धारण करता है
गृहीत्वा—१५-८; १६-१० लेकर, ग्रहण करके
गृह्यते—६-२५ निरुद्ध होता है, वश में किया जा सकता है
गेहे—६-४१ घर में
गोविन्द—१-३२ (हे) गोविन्द
गोविन्दम्—२-९ गोविन्द को
ग्रसमानः—११-३० ग्रास करते हुए, खा डालते हुए
ग्रसिष्णु—१३-१६ संहार करनेवाला, भक्षण करनेवाला
ग्लानिः—४-७ ग्लानि, मंदता

घ

घातयति—२-२१ मरवाता है, हनन करवाता है
घोरम्—११-४९; १७-५ भयंकर, घोर, विकराल
घोरे—३-१ क्रूर (कर्म) में, घोर (कर्म) करने के संबंध में
घोषः—१-१९ आवाज, नाद
घ्नतः—१-३५, मारनेवालों को मारने पर
घ्राणम्—१५-९ नाक

च

च—१-१ इत्यादि; और, भी, वैसे ही, (कितनी ही वार पाद-पूरणार्थ भी प्रयुक्त होता है)
चक्रहस्तम्—११-४६ जिसके हाथ-में चक्र है उसे
चक्रम्—३-१६ प्रवृत्ति, चक्र
चक्रिणम्—११-१७ चक्रधारी (कृष्ण) को
चक्षुः—५-२७ दृष्टि को; ११-८; १५-९ दृष्टि, आँख;
चंचलत्वात्—६-३३ चंचलता के कारण
चंचलम्—६-२६, ३४ चंचल, अस्थिर
चतुर्भुजेन—११-४६ चार हाथ-वाले से
चतुर्विधम्—१५-१४ चार प्रकार-का (खाद्य, पेय, चोष्य, लेह्य)
चतुर्विधाः—७-१६ चार प्रकार के

चैलाजिनकुशोत्तरम्—६-११ जिसकी सतहपर दर्भ, मृगचर्म और वस्त्र बिछा हुआ है, दर्भ, मृगचर्म और वस्त्र एक के ऊपर एक बिछा हुआ (आसन)

च्यवन्ति—९-२४ चूते हैं, गिरते हैं

छ

छन्दसाम्—१०-३५ छंदों में

छन्दांसि—१५-१ वेद

छन्दोभिः—१३-४ मंत्रों से, छंदों से—में

छलयताम्—१०-३६ छलनेवालों का, जुआरियों का, छल (कपट)करनेवालों का

छित्त्वा—४-४२; १५-३ छेदकर, नाश करके

छिन्दन्ति—२-२३ छेद करते हैं, नष्ट करते हैं

छिन्नद्वैधा—५-२५ जिनकी द्विधा वृत्ति नष्ट हो गई है, संशय रहित हुए, जिनकी शंकाएं मिट गई हैं वे

छिन्नसंशयः—१८-१० जिसका संशय नष्ट हो गया है वह, संशयरहित हुआ

छिन्नाभ्रम्—६-३८ बिखरे हुए बादल

छेत्ता—६-३९ छेद डालनेवाला, दूर करनेवाला

छेत्तुम्—६-३९ दूर करने के लिए

ज

जगतः—७-६; ८-२६; ९-१७; १६-९ जगत का

जगत्—७-५, १३; ९-४, १०; १०-४२; ११-७, १३, ३०; १५-१२; १६-८ जगत

जगत्पते—१०-१५ हे जगत के स्वामी

जगन्निवास—११-२५, ३७, ४५ जगत के आश्रयरूप, हे जगन्निवास

जघन्यगुणवृत्तिस्थाः—१४-१८नीच गुणावलंबी, ओछे गुण-वाले (तामसी)

जनकादयः—३-२० जनक इत्यादि

जनयेत्—३-२६ उत्पन्न करना चाहिए, उत्पन्न करे

जनसंसदि—१३-१० (प्राकृत) लोगों में, जनसमूह में

जनः—३-२१ लोग

जनाधिपाः—२-१२ राजा लोग

जनानाम्—७-२८ लोगों का

जनार्दन—१-३६, ३९ ४४; ३-१; १०-१८; ११-५१ हे कृष्ण (सर्ववृत्तियों के नाशकर्त्ता)

जनाः—७-१६; ८-१७ २४; ६-२२; १६-७; १७-४, ५ लोग

जन्तवः—५-१५ प्राणी, लोग

जन्म—२-२७; ४-४, ६; ६-४२; ८-१५, १६ जन्म

जन्मकर्मफलप्रदाम्—२-४३ जन्म-मरणरूपी कर्म के फल देने-वाली

जन्मनाम्—७-१९ जन्मों का

जन्मनि—१६-२०, २० जन्म में

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः—२-५१ जन्म-बंधन से मुक्त हुए

जन्ममृत्युजरादुःखैः—१४-२० जन्म, मृत्यु और बुढ़ापे के दुःखों से

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्—१३-१८ जन्म, मरण, जरा, व्याधि और दुःख-जैसे दोषों का निरंतर भान

जन्मानि—४-५ जन्म

जपयज्ञः—१०-२५ जपनामक यज्ञ

जयद्रथम्—११-३४ जयद्रथ राजा को

जय —१०-३६ जीत, जय

जयाजयौ—२-३८ हार-जीत, जय और पराजय

जयेम—२-६ (हम) जीतें

जयेयुः—२-६ (वे) जीतें

जरा—२-१३ बुढ़ापा

जरामरणमोक्षाय—७-२९ वृद्धावस्था और मृत्यु से मुक्त होने के लिए

जहाति—२-५० त्यागता है, तजता है

जहि—३-४३; ११-३४ त्याग, हनन कर, संहार कर, मार

जागर्ति—२-६९ (वह) जागता है

जाग्रतः—६-१६ जागनेवाले का (को)

जाग्रति—२-६९ (वे) जागते हैं

जातस्य—२-२७ जन्म लिये हुए की

जाताः—१०-६ जन्मे हुए, उत्पन्न

जातिधर्माः—१-४३ जातिधर्म

जातु—२-१२; ३-५, २३ कभी भी, किसी भी समय

जानन्—८-२७ जानता हुआ, जाननेवाला

जानाति—१५-१९ (जो) जानता है

जाने—११-२५ (मैं) जानता हूं

जायते—१-२९, ४१; २-२०; १४-१५ (वह) होता है, उत्पन्न होता है, जन्म लेता है

जायन्ते—१४-१२, १३ (वे) उत्पन्न होते हैं,—उनका उदय होता है

जाह्नवी—१०-३१ गंगा नदी
जिगीषताम्—१०-३८ जय चाहनेवालों की
जिघ्रन—५-८ सूंघता हुआ
जिजीविषामः—२-६ (हम) जीने की इच्छा रखते हैं
जिज्ञासुः—६-४४; ७-१६ जानने-की इच्छावाला आत्म-ज्ञान की इच्छावाला
जितसङ्गदोषाः—१५-५ जिन्होंने संगदोष जीत लिया है, जिन्होंने आसक्ति से होने-वाले दोषों को दूर कर दिया है वे
जितः—५-१९- ६-६ जीता हुआ
जितात्मनः—७-६ जितेन्द्रिय का, जिसने अपना मन जीता है उसका (को)
जितात्मा—१८-४९ जितेन्द्रिय, जिसने मन को जीता है वह
जित्वा—२-३७; ११-३३ जीतकर
जितेन्द्रियः—५-७ जिसने इन्द्रियों को जीता है वह
जीर्णानि—२-२२,२२ जीर्ण, पुराने
जीवति—३-१६ (वह) जीता है, जीवित है
जीवनम्—७-९ आयुष्य, जीवन
जीवभूतः—१५-७ जीवरूप में, जीवात्मा
जीवभूताम्—७—५ जीवरूप को या जीवात्मा को
जीवलोके—१५-७ संसार में, जीव-लोक में
जीवितेन—१-३२ जीवन से
जुहोषि—९-२७ (तू हवन में) होम करता है
जुह्वति—४-२६, २७, २९, ३० (वे) हवन करते हैं
जेतासि—११-३४ (तू) जीतेगा
जोषयेत्—३-२६ लगावे, प्रेरित करे, (कर्मों का) सेवन करावे
ज्ञातव्यम्—७-२ जानने का, जानने-योग्य
ज्ञातुम्—११-५४ जानने के लिए
ज्ञातेन—१०-४२ जानने से, जानकर
ज्ञात्वा—४-१५, १६, ३२, ३५; ५-२९; ७-२; ९-१; १३-१२; १४-१; १६-२४; १८-५५ जानकर
ज्ञानगम्यम्—१३-१७ जो ज्ञान से जाना जाय, ज्ञान से प्राप्त किया जाय
ज्ञानचक्षुषः—१५-१० ज्ञानचक्षु-वाले, दिव्य चक्षु, ज्ञानी
ज्ञानचक्षुषा—१३-३४ ज्ञानरूपी आंखों से, ज्ञानचक्षु से
ज्ञानतपसा—४-१० ज्ञानरूपी तप से

ज्ञानिभ्यः—६-४६ (सांख्य) ज्ञानियों की अपेक्षा

ज्ञानी—७-१६, १७, १८ ज्ञानी

ज्ञाने—४-३३ ज्ञान में

ज्ञानेन—४-३८; ५-१६ ज्ञान से

ज्ञास्यसि—७-१ (तू) जानेगा, पहचानेगा

ज्ञेयम्—१-३९; १३-१२, १६, १७, १८; १८-१८ जानना चाहिए, जानने योग्य विषय, ज्ञेय (विषय)

ज्ञेयः—५-३; ८-२ जानने योग्य,

ज्यायसी—३-१ अधिक अच्छी, श्रेष्ठ

ज्यायः—३-८ अधिक अच्छा

ज्योतिषाम्—१०-२१; १३-१७ प्रकाश करनेवालों में, ज्योतियों में

ज्योतिः—८-२४; १३-१७; ज्योति, ज्वाला, प्रकाश; ८-, २५ ज्योति को (चन्द्रलोक को)

ज्वलद्भिः—११-३० जलते हुए धधकते हुए (से)

ज्वलनम्—११-२९ अग्नि को, ज्वाला को

झ

झषाणाम्—१०-३१ मत्स्यों में, मछलियों में

त

तत्—१-१०, ४६ इत्यादि वह, उसे; ३-१ तो ३-२; ४-१६ लिए, इसलिए; १७-२५ वह (ब्रह्म का नाम); १८-२० से २५ तक, ३७ से ४० तक, ६० वह

ततम्—२-१७; ८-२२; ९-४ व्याप्त; ११-३८; १८-४६ प्रसृत (फैला हुआ)

ततः—१-१३ उसके उपरान्त; २-३३; ११-४; १२-९, ११ तो; २-३६; ६-२२; १६-२०; उससे, उसकी अपेक्षा; १-१४; २-३८; ११-९, १४; १३-२८; १५-४; १६-२२; १८-५५ पीछे, तब; ६-२६, ४३, ४५; १३-३० वहां से, ७-२२ उसके द्वारा; ११-४०, १८-६४ इससे, इसलिए, १४-३ उससे, उसमें से

तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्—१३-११ तत्त्वज्ञान के प्रयोजन का दर्शन, आत्मदर्शन

तत्त्वतः—४-९; ७-३; १०-७; १८-५५ यथार्थ स्वरूप से, यथार्थ रूप में; ६-२१

क्षेत्रज्ञ को) जाननेवाले, तत्त्व-ज्ञानी

तनुम्—७-२१; ९-११ देह को, मूर्ति को, स्वरूप को

तन्निष्ठाः—५-१७ उसी में जिनकी निष्ठा है ऐसे, उसमें स्थिर रहनेवाले

तपन्तम्—११-१९ तपाते हुए को, तपानेवाले को

तपसा—११-५३ तप से, तप द्वारा

तपसि—१७-२७ तप में, तप के विषय में

तपस्यसि—९-२७ (तू) तप करता है (—करे)

तपस्विभ्यः—६-४६ कृच्छ्र-चांद्रायणादि विविध प्रकार के तप करनेवालों की अपेक्षा, तपस्वियों की अपेक्षा

तपस्विषु—७-९ तपस्वियों में

तपः—७-९; १०-५; १६-१; १७-५, ७, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २८; १८-५, ४२ तप

तपःसु—८-२८ तपों में

तपामि—९-१९ तपता हूं, धूप देता हूं

तपोभिः—११-४८ तपों से

तपोयज्ञाः—४-२८ तपरूपी यज्ञ करनेवाले

तप्तम्—१७-१७, २८ तपा हुआ, किया हुआ

तप्यन्ते—१७-५ तपते हैं

तम्—२-१, १०; ४-१९; ६-२, २३, ४३; ७-२०; ८-६, १०, २१, २३; ९-२१; १०-१०; १३-१; १५-१, ४; १७-१२; १८-४६, ६२ उसे

तमसः—८-९; १३-१७ अंधकार से, अज्ञान से, अज्ञानरूपी अंधकार से १४-१६ तमो-गुण का; १४-१७ तमो-गुण से

तमसा—१८-३२ तमोगुण द्वारा, अंधकार से

तमसि—१४-१३, १५ अंधेरे में, तमोगुण में

तमः—१०-११; १४-५, ८, ९, १०; १७-१ अज्ञान-रूपी अंधकार, तमोगुण

तमोद्वारैः—१६-२२ नरक के द्वारों से (मुक्त)

तथा—२-४४; ७-२२ उसके द्वारा

तयोः—३-३४ उन दो का ५-२ उन दो में

तरन्ति—७-१४ (वे) तर जाते हैं

तुमुलः—१-१३, १९ घोर, भयंकर

तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः— १४-२४ अपनी निन्दा या स्तुति जिसे समान है वह

तुल्यनिन्दास्तुतिः—१२-१९ निन्दा और स्तुति जिसे समान है वह

तुल्यप्रियाप्रियः—१४-२४ जिसे प्रिय और अप्रिय समान है वह

तुल्यः—१४-२५ समवृत्ति, एक-जैसा

तुष्टः—२-५५ संतुष्ट

तुष्टिः—१०-५ संतोष

तुष्यति—६-२० (वह) संतोष प्राप्त करता है, संतोष में रहता है

तुष्यन्ति—१०-९ (वे) संतोष में रहते हैं

तूष्णीम्—२-९ शांति से, शांत

तृप्तिः—१०-१८ संतोष, तृप्ति

तृष्णासङ्गसमुद्भवम्—१४-७ तृष्णा (अप्राप्त की इच्छा) और आसंग (प्राप्त वस्तु में आसक्ति) उत्पन्न करनेवाला, तृष्णा और आसक्ति का मूल

ते—१-७; २-३६; ४-३, १६, ३४; ७-२; ८-११; ९-१; १०-१, १९; ११-८, ३१, ३६, ४०; १८-६३, ६४, ६५ तुझे; १-३३; २-६; ३-११, १३; ५-१९, २२; ७-१२, १४, २८, २९, ३०; ८-१७; ९-२०, २१, २३, २४, २६, ३२; १०-१०; ११-३७, ४९; १२-२; ४, २०; १३-२५, ३४; १६-८, १७ वे; २-७, ३४, ४७, ५२, ५३; ३-१, ८; १०-१४; ११-३, २३, २५, २७, ४९; १६-२४; १८-५९, ६७, ७२, तेरा, तुझे

तेजस्विनाम्—७-१०, १०-३६ तेजस्वियों का, बलवानों का, प्रतापवानों का

तेजः—७-९, १०; १०-३६; १५-१२; १६-३; १८-४३ चकाचौंध करनेवाली शक्ति, तेज, प्रभाव

तेजोभिः—११-३० तेजों से

तेजोमयम्—११-४७ तेजवाला, तेजोमय

तेजोराशिम्—११-१७ तेज के पुंज को—राशि को

तेजोंऽशसंभवम्—१०-४१ तेज के अंश से (एक भाग से) उत्पन्न

त्रिविधा—१७-२; १८-१८ तीन प्रकार की
त्रिषु—३-२२ तीन में
त्रीन्—१४-२०, २१ तीन को
त्रैगुण्यविषयाः—२-४५ तीन गुण जिनके विषय हैं ऐसे
त्रैलोक्यराज्यस्य—१-३५ तीनों लोक के राज्य का
त्रैविद्याः—९-२० तीनों वेद जानने वाले, तीनों वेदों के कर्म करनेवाले
त्वक्—१-३० चमड़ी
त्वत्तः—११-२ तेरे पास से
त्वत्प्रसादात्—१८-७३ तेरी कृपा से
त्वत्समः—११-४३ तेरे जैसा
त्वदन्यः—६-३९ तेरे सिवा दूसरा
त्वदन्येन—११-४७, ४८ तेरे सिवा दूसरे से
त्वम्—२-११, १२, २६, २७, ३०, ३३, ३५; ३-८, ४१; ४-४, ५, १५; १०-१५, १६, ४१; १८-३, ४, १८, ३३, ३४, ३७, ३८, ३९, ४०, ४३, ४९, ५८ तू
त्वया—६-३३; ११-१, २०, ३८; १८-७२ तेरे द्वारा, तुझसे
त्वयि—२-३ तुझमें
त्वरमाणाः—११-२७ उतावली करते हुए, उतावले होकर, वेगपूर्वक
त्वा—२-२, ११, २१, २२, ३२; १८-६६ तुझे
त्वाम्—२-७; २७, ३५; १०-१३, १७; ११-१६, १७, १९, २१, २२, २४, २६, ३२, ४२, ४४, ४६; १२-१; १८-५९ तुझे

द

दक्षः—१२-१६ कार्यकुशल, सावधान
दक्षिणायनम्—८-२५ दक्षिण मार्ग, दक्षिणायन
दण्डः—१०-३८ दंड, राजदंड
दत्तम्—१७-२८ दिया हुआ, दान
दत्तान्—३-१२ दिये हुए (को)
ददामि—१०-१०; ११-८ (मैं) देता हूं
ददासि—९-२७ (तू) दान करता है
दधामि—१४-३ मैं धरता हूं, मैं रखता हूं
दध्मुः—१-१८ उन्होंने बजाये, फूंके
दध्मौ—१-१२, १५ उसने बजाया, फूंका
दमयताम्—१०-३८ दण्ड देनेवालों का, राज्य करनेवालों का
दमः—१०-४; १६-१; १८-४२ बाह्यनिग्रह, इन्द्रियनिग्रह, दम

दिव्य पुष्प और वस्त्र धारण करनेवालों को
दिव्यान्—९-२०; ११-१५ दिव्य
दिव्यानाम्—१०-४० दिव्य (विभूतियों) का
दिव्यानि—११-५ दिव्य (रूप)
दिव्यानेकोद्यतायुधम्—११-१० अनेक उठाये हुए दिव्य शस्त्रों-वाला
दिव्याः—१०-१६, १९ दिव्य
दिव्यौ—१-१४ (दो) दिव्य
दिशः—६-१३; ११-२०, २५, ३६ दिशाएं, दिशाओं को; ११-३६ (सब) दिशाओं में, इधर-उधर
दीपः—६-१९ दीया
दीप्तम्—११-२४ प्रदीप्त हुए को, जगमगाते हुए को
दीप्तविशालनेत्रम्—११-२४ बड़ी तेजस्वी आंखवाले को
दीप्तहुताशवक्त्रम्—११-१९ जिसका मुख सुलगती (धधकती) अग्निरूप है उसे, प्रज्वलित अग्नि के समान मुखवाले को
दीप्तानलार्कद्युतिम्—११-१७ सुलगती अग्नि और सूर्य के समान प्रकाशवाले को
दीप्तिमन्तम्—११-१७ प्रकाशवाले को जगमगाती ज्योतिवाले को
दीयते—१७-२०, २१, २२ दिया जाता है, देने में आता है
दीर्घसूत्री—१८-२८ काम को लंबा करनेवाला, दीर्घसूत्री
दुरत्यया—७-१४ कठिनाई से तरी जानेवाली, पार होने में कठिन
दुरासदम्—३-४३ जो कठिनाई से जीता जा सके उसको, दुर्जय को
दुर्गतिम्—६-४० खराब गति को
दुर्निग्रहम्—६-३५ कठिनाई से निरोध किया जा सकनेवाला
दुर्निरीक्ष्यम्—११-१७ न देखे जा सकनेवालों को, कठिनाई से देखे जा सकनेवाले को
दुर्बुद्धेः—१-२३ दुर्बुद्धि (का) (खोटी बुद्धिवाले दुर्योधन का)
दुर्मतिः—१८-१६ मूर्ख, दुर्मति
दुर्मेधाः—१८-३५ दुर्मति, दुर्बुद्धि
दुर्योधनः—१-२ दुर्योधन राजा
दुर्लभतरम्—६-४२ अधिक दुर्लभ, बहुत दुर्लभ
दुष्कृताम्—४-८ पापकारियों का, दुष्टों का
दुष्कृतिनः—७-१५ पापी, दुराचारी
दुष्टासु—१-४१ दूषित हुई (स्त्रियों) में, दूषित होने पर
दुष्पूरम्—१६-१० तृप्त न होनेवाली, किसी प्रकार भी पूर्ण न होनेवाली

दुष्पूरेण—३-३९ तृप्त न किये जा सकनेवाले—संतुष्ट न किये जा सकनेवाले (कामरूपी अनल द्वारा)

दुष्प्रापः—६-३६ प्राप्त करने में कठिन, अशक्य (जैसा)

दुःखतरम्—२-३६ अधिक दुःख-कारक

दुःखम्—५-६; १२-५; कठिनाई से, कष्ट से ६-३२; १०-४; १३-६; १४-१६ दुःख, दुःख को; १८-८ दुःखकारक

दुःखयोनयः—५-२२ दुःख के मूल

दुःखशोकामयप्रदाः—१७-९ दुःख शोक और रोग (आमय) उत्पन्न करनेवाले

दुःखसंयोगवियोगम्—६-२३ दुःख के समागम का वियोग, दुःख के प्रसंग से रहित (स्थिति) को

दुःखहा—६-१७ दुःख का नाश करनेवाला, दुःखभंजन

दुःखान्तम्—१८-३६ दुःख के अंत को

दुःखालयम्—८-१५दुःख का घर

दुःखेन—६-२२ दुःख से

दुःखेषु—२-५६ दुःखों में

दूरस्थम्—१३-१५ दूर रहा हुआ

दूरेण—२-४९ बहुत, अधिक

दृढ़निश्चयः—१२-१४ दृढ़निश्चय-वाला

दृढ़म्—६-३४; १८-६४ अति-शय, बहुत

दृढ़व्रताः—७-२८ अडिग व्रतवाले, ९-१४ दृढ़ निश्चयवाले

दृढ़ेन—१५-३ बलवान, मजबूत (द्वारा)

दृष्टपूर्वम्—११-४७ पहले देखा हुआ

दृष्टवान्—११-५२, ५३ (तूने) देखा है

दृष्टः—२-१६ देखा हुआ, जाना हुआ

दृष्टिम्—१६-९ दृष्टि को अभि-प्राय को

दृष्ट्वा—१-२, २०, २८; २-५९; ११-२०, २३, २४, २५, ४५, ४९, ५१ देखकर

देव—११-१५, ४४, ४५ हे देव

देवताः—४-१२ देवों को, देव-ताओं को

देवदत्तम्—१-१५ अर्जुन के देवदत्त नामक शंख (को)

देवदेव—१०-१५ हे देवों के देव

देवदेवस्य—११-१३ देवों के देव का

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्—१७-१४ देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी की पूजा

देवभोगान्—९-२० देव-योग्य भोगों को

देवम्—११-११, १४ ईश्वर को,

देव को
देवयजः—७-२३ देवों की पूजा करनेवाले
देवर्षि—१०-१३ देवर्षि (नारद)
देवर्षीणाम्—१०-२६ देवर्षियों में
देवलः—१०-१३ देवल नामक ऋषि
देववर—११-३१ हे देवों में श्रेष्ठ
देवव्रताः—९-२५ (इंद्रादि) देवताओं का पूजन करनेवाले
देवान् ३-११; ७-२३; ११-१५; १७-४ देवों को; ९-२५ देवों को, देवलोक को
देवानाम्—१०-२, २२ देवों का, देवों में
देवाः—३-११, १२; १०-१४; ११-५२ देव
देवेश—११-२५, ३७, ४५ हे देवों के ईश्वर
देवेषु—१८-४० देवों में
देशे—६-११ स्थान में; १७-२० (योग्य) देश में
देहभृत्—१४-१४ देहधारी
देहभृता—१८-११ देहधारी से
देहभृताम्—८-४ देहधारियों का
देहम्—४-९; ८-१३; १५-१४ देह को, शरीर को
देहवद्भिः—१२-५ देहधारियों द्वारा
देहसमुद्भवान्—१४-२० देह से उत्पन्न हुए (गुणों) को, देह के संग से उत्पन्न होनेवाले (गुणों) को
देहान्तरप्राप्तिः—२-१३ अन्य देह की प्राप्ति
देहाः—२-१८ देह
देहिनम्—३-४० देही को; १४-५, ७ देहधारी—जीव (जीवात्मा) को
देहिनः—२-१३, ५९ देहधारी का—को
देहिनाम्—१७-२ मनुष्यों की, देहधारियों की
देही—२-२२, ३०; ५-१३ आत्मा; १४-२० देहधारी
देहे—२-१३ ३०; ८-२, ४; ११-७, १५; १३-२२, ३२; १४-५, ११ देह में, देह के संबंध में
दैत्यानाम्—१०-३० दिति के वंशजों में, दैत्यों में
दैवम्—४-२५ देवताओं के निमित्त किया हुआ, देवताओं के पूजनरूप (यज्ञ); १८-१४ दैव, अदृष्ट
दैवः—१६-६ दैवी
दैवी—७-१४; १६-५ ईश्वरीय, दैवी
दैवीम्—९-१३; १६-३, ५ दैवी को

ध

धनानि—१-३३ धन, संपत्ति
धनुर्धरः—१८-७८ धनुर्धारी
धनुः—१-२० धनुष (को)
धर्मकामार्थान्—१८-३४ धर्म, काम और अर्थ को
धर्मक्षेत्रे—१-१ धर्मक्षेत्र में, धर्म-क्षेत्ररूप (कुरुक्षेत्र) में
धर्मम्—१८-३१, ३२ धर्म को
धर्मसंमूढचेताः—२-७ धर्म (कर्तव्य) के विषय में जिसका मन मूढ़ हुआ है ऐसा
धर्मसंस्थापनार्थाय—४-८ धर्म की सुस्थापना के लिए, धर्म का पुनरुद्धार करने के लिए
धर्मस्य—२-४०; ४-७, ९-३; १४-२७ धर्म का
धर्मात्मा—९-३१ धर्मवान् धर्मात्मा
धर्माविरुद्धः—७-११ धर्म से अविरुद्ध, धर्म का अविरोधी
धर्मे—१-४० धर्म में
धर्म्यम्—२-३३ धर्मप्राप्त, धर्म्य; ९-२; १८-७० धर्मवाला, धार्मिक, पवित्र, धर्म्य, धर्मानुकूल
धर्म्यात्—२-३१ धार्मिक (युद्ध) से
धर्म्यामृतम्—१२-२० धर्मरूपी अमृत को, पवित्र अमृतरूप ज्ञान को

धाता—९-१७ धारण करनेवाला; १०-३३ रक्षण करनेवाला
धातारम्—८-९ विधाता को, पालनहार को
धाम—८-२१; १०-१२; ११-३८; १५-६ स्थान, धाम
धारयते—१८-३३, ३४ (वह) धारण करता है चलाता है
धारयन्—५-९ मानता हुआ, भावना रखकर ६-१३, रखता हुआ, रखकर
धारयामि—१५-१३ (मैं) धारण करता हूं
धार्तराष्ट्रस्य—१-२३ धृतराष्ट्र-पुत्र—दुर्योधन—का
धार्तराष्ट्राणाम्—१-१९ धृतराष्ट्र के पुत्रों के, कौरवों के
धार्तराष्ट्रान्—१-२०, ३६, ३७ धृतराष्ट्र के पुत्रों को कौरवों को
धार्तराष्ट्राः—१-४६; २-६ धृतराष्ट्र के पुत्र, कौरव
धार्यते—७-५ धारण किया जाता है
धिष्ठितम्—१३-१७ अधिष्ठित, रहा हुआ
धीमता—१-३ बुद्धिमान (द्वारा)
धीमताम्—६-४२ बुद्धिमानों का, ज्ञानवानों का
धीरम्—२-१५ स्थिरबुद्धि को, ज्ञानी को

न

नयेत्—६-२६ (वह) लावे, ले जाय
नरकस्य—१६-२१ नरक का
नरकाय—१-४२ नरक के लिए, नरक की तरफ (ले जाता है)
नरके—१-४४; १६-१६ नरक में
नरपुङ्गवः—१-५ पुरुषों में श्रेष्ठ
नरलोकवीराः—११-२८ राजा, मनुष्यलोक में श्रेष्ठ-वीर, लोकनायक
नरः—२-२२; ५-२३; १२-१९; १६-२२; १८-१५, ४५, ७१ पुरुष, मनुष्य
नराणाम्—१०-२७ मनुष्यों में
नराधमान्—१६-१९ अधम लोगों को, नीचों को
नराधमाः—७-१५ अधम मनुष्य
नराधिपम्—१०-२७ राजा को
नरैः—१७-१७ पुरुषों से मनुष्यों द्वारा
नवद्वारे—५-१३ नवद्वारवाले (नगररूपी शरीर) में, (दो कान, दो नाक, दो आंख, मुंह, गुदा और उपस्थ इन नौ द्वारोंवाले)
नवानि—२-२२ नए
नश्यति—६-३८ (वह) नष्ट होता है
नश्यत्सु—८-२० नाश होते हुए, नाश होने पर भी
नष्टः—४-२; १८-७३ नाश को पहुंचा हुआ, नाश को प्राप्त
नष्टात्मानः—१६-९ नष्ट बुद्धिवाले लोग, दुष्ट
नष्टान्—३-३२ नाश पाये हुओं को
नष्टे—१-४० नष्ट होने पर—से
नः—१-३२, ३३, ३६; २-६ हमारा, हमारे लिए, हमें, हमको
नातिमानिता—१६-३ निरभिमानपन
नागानाम्—१०-२९ नागों में
नानाभावान्—१८-२१ जुदे-जुदे (विभक्त) भावों को
नानावर्णाकृतीनि—११-५ जुदे-जुदे रंग और आकार के—वाले
नानाविधानि—११-५ जुदे-जुदे प्रकार के
नानाशस्त्रप्रहरणाः—१-९ नाना प्रकार के शस्त्र धारण करनेवाले नाना प्रकार के शस्त्रास्त्रवाले
नान्यगामिना—८-८ अन्य कहीं न दौड़ते हुए, और कहीं न दौड़ने देकर
नामयज्ञैः—१६-१७ केवल नाम मात्र के यज्ञ द्वारा
नायकाः—१-७ नायक लोग

निद्रालस्यप्रमादोत्थम्—१८-३९ निद्रा, आलस्य, और प्रमाद में से उत्पन्न हुआ

निधनम्—३-३५ अंत, मौत

निधानम्—९-१८ भंडार; ११-१८, ३८ आधार, आश्रय-स्थान

निन्दन्तः—२-३६ निंदा करते हुए

निबद्धः—१८-६० बंधा हुआ

निबध्नन्ति—४-४१; ९-९; १४-५ (वे) बांधते हैं

निबध्नाति—१४-७, ८ (वह) बांधता है

निबन्धाय—१६-५ बंधन के लिए

निबध्यते—४-२२; ५-१२; १८-१७ (वह) बंधता है, बंधन में पड़ता है

निबोध—१-७; १८-१३, ५० सुन, पहचान, समझ ले

निमित्तमात्रम्—११-३३ केवल निमित्तरूप

निमित्तानि—१-३१ शकुन, चिह्न, लक्षणों को

निमिषन्—५-९ आंख बंद करते हुए—मीचते हुए

नियतम्—१-४४ ठीक, अवश्य; ३-८; १८-९, २३ नियत, जो स्वधर्मानुसार प्राप्त होने के कारण अवश्य करने योग्य है ऐसा, इन्द्रियों को नियम में रखकर किया हुआ (कर्म)

नियतमानसः—६-१५ जिसने अपना मन नियम में रखा है वह

नियतस्य—१८-७ नियत (कर्म) का

नियतात्मभिः—८-२ व्यवस्थित चित्तवालों से, संयमियों द्वारा

नियताहाराः—४-३० आहार को नियम में रखनेवाले

नियताः—७-२० प्रेरित हुए, दौड़ाए हुए

नियमम्—७-२० नियम को, विधि को

नियम्य—३-७, ४१; ६-२६; १८-५१ नियम में, वंश में रखकर

नियोक्ष्यति—१८-५९ जोड़ेगा, प्रेरित करेगा, बलात् घसीट ले जायगा

नियोजयसि—३-१ (तू) प्रेरित करता है, (में) लगाता है

नियोजितः—३-३६ नियुक्त, प्रेरित

निरग्निः—६-१ यज्ञादि के लिए अग्नि न रखनेवाला, अग्नि का त्याग करनेवाला

निरहंकारः—२-७१; १२-१३ अहंकाररहित

निराशी:—३-३०; ४-२१; ६-१० आशारहित, आसक्ति-रहित, वासनारहित (होकर)
निराश्रय:—४-२० आश्रयरहित, जिसे किसी भी प्रकार के आश्रय की लालसा नहीं
निराहारस्य—२-५९ निराहारी का
निरीक्षे—१-२२ (मैं) देखूं, निरखूं
निरुद्धम्—६-२० वृत्तिशून्य हुआ, अंकुश में आया हुआ
निरुध्य—८-१२ रोककर, स्थिर करके
निर्गुणत्वात्—१३-३१ निर्गुण होने से
निर्गुणम्—१३-१४ गुण से रहित
निर्देश:—१७-२३ नाम, वर्णन, अभिधान
निर्दोषम्—५-१९ दोषरहित, निष्कलंक
निर्द्वन्द्व:—२-४५; ५-३ सुख-दु:ख, रागद्वेषादिक द्वन्द्वों से रहित; सुखदु:खादि द्वन्द्वों से मुक्त
निर्मम:—२-७१; ३-३०; १२-१३; १८-५३ ममता रहित, ममत्वरहित
निर्मलत्वात्—१४-६ निर्मलता के कारण
निर्मलम्—१४-१६ निर्मल
निर्मानमोहा:—१५-५ मान और मोहरहित
निर्योगक्षेम:—२-४५ अप्राप्त की प्राप्ति (योग) और प्राप्त की रक्षा (क्षेम) की इच्छा से रहित, किसी भी वस्तु को पाने और संभालने की झंझट से मुक्त
निर्वाणपरमाम्—६-१५ मोक्ष देनेवाली, मोक्षरूप परम (शांति) को
निर्विकार:—१८-२६ विकार-रहित, हर्षशोकरहित
निर्वेदम्—२-५२ वैराग्य, उदासीनता (को)
निर्वैर:—११-५५ वैररहित, द्वेषरहित
निवर्तते—२-५९ (वह) निवृत्त होता है, मंद पड़ता है; ८-२५ पीछे फिरता है, पुनर्जन्म पाता है
निवर्तन्ति—१५-४ (वे) वापिस आते हैं
निवर्तन्ते—८-२१; ९-३; १५-६ (वे) पीछे लौटते हैं, फिर जन्म लेते हैं
निवर्तितुम्—१-३९ हटने के लिए बचने के लिए

निवसिष्यसि—१२-८ निवास करेगा
निवातस्थः—६-१९ वायुरहित स्थान में रहा हुआ
निवासः—९-१८ (प्राणियों का) वासस्थान, निवास
निवृत्तानि—१४-२२ नष्ट होने पर, प्राप्त न होने पर निवृत्त होने पर
निवृत्तिम्—१६-७; १८-३० अकर्तव्य, निवृत्ति को
निवेशय—१२-८ प्रवेश करा, धारण कर, लगा
निशा—२-६९ रात्रि
निश्चयम्—१८-४ निश्चय, निर्णय
निश्चयेन—६-२३ दृढ़तापूर्वक, निश्चय से
निश्चरति—६-२६ चलायमान होता, भागता है
निश्चला—२-५३ निश्चल, स्थिर
निश्चितम्—२-७; १८-६ निश्चयपूर्वक, निश्चित, तय
निश्चिताः—१६-११ निश्चयवान निश्चय करनेवाले
निश्चित्य—३-२ तय करके, निश्चयपूर्वक
निष्ठा—३-३; १७-१; १८-५० स्थिति, मार्ग, अवस्था, निष्ठा, गति
निस्त्रैगुण्यः—२-४५ तीनों गुणों से रहित, तीनों गुणों से अलिप्त
निहताः—११-३३ हनन किये हुए, मारे हुए
निहत्य—१-३६ मारकर, हनन करके
निःश्रेयसकरौ—५-२ मोक्षदायक, परमकल्याणकारक
निःस्पृह—२-७१; ६-१८ इच्छाः-रहित
नीतिः—१०-३८ राजनीति, नीति; १८-७८ न्याय, न्यायसंगत बर्ताव, नीति
नु—१-३५; २-३६ मात्र, के द्वारा
नृलोके—११-४८ नरलोक में, मृत्यु-लोक में
नृषु—७-८ लोगों में, पुरुषों में
नैष्कर्म्यसिद्धिम्—१८-४९ निष्कर्म-भाव की प्राप्ति को, नैष्कर्म्य-रूप (परम) सिद्धि को
नैष्कर्म्यम्—३-४ निष्कर्मभाव, कर्मशून्यता
नैष्कृतिकः—१८-२८ परद्रोही, नीच
नैष्ठिकीम्—५-१२ परमनिष्ठा-वाली मोक्षदायिनी (को)
नो—१७-२८ नहीं
न्याय्यम्—१८-१५ नीतियुक्त न्यायी
न्यासम्—१८-२ त्याग को

प

पक्षिणाम्—१०-३० पक्षियों में
पचन्ति—३-१३ (वे) रांधते हैं, पकाते हैं
पचामि—१५-१४ (मैं) पचाता हूं
पञ्च—१३-५; १८-१३, १५ पांच
पञ्चमम्—१८-१४ पांचवां
पणवानकगोमुखाः—१-१३ ढोल, नगारे और नरसिंहे आदि
पण्डितम्—४-१९ विद्वान, पंडित
पण्डिताः—२-११; ५-४, १८ विद्वान, पंडित
पतङ्गाः—११-२९ पतंग, फतिंगे
पतन्ति—१-४२; १६-१६ (वे) गिरते हैं, (उनकी) अधोगति होती है
पत्रम्—९-२६ पत्ता
पथि—६-३८ मार्ग में
पदम्—२-५१; ८-११; १५-४, ५; १८-५६ स्वरूप, गति, पद, स्थान
पद्मपत्रम्—५-१० कमलपत्र
परतरम्—७-७ उस पार, अधिक ऊंचा, सिवाय
परतः—३-४२ उस पार, अधिक सूक्ष्म
परधर्मः—३-३५ दूसरे का धर्म, पराया धर्म
परधर्मात्—३-३५; १८-४७ दूसरे के धर्म की अपेक्षा, पर—पराये धर्म की अपेक्षा
परम्—२-१२ बाद में, २-५९; १३-३४ परमात्मा को, परब्रह्म को; ३-११; ७-२४; ८-१०, २८; ९-११; १०-१२; ११-१८, ३८, ४७; १३-१२; १८-७५ परम, परम (को); ३-१९ मोक्ष को; ३-४२ सूक्ष्म; ३-४३; १३-१७; १४-१९ पर, उस पार का; ४-४ प्राचीन; ७-१३ ऊंचा श्रेष्ठ; ११-१८ अंतिम, परम; १४-१ भी, अब
परंतप—२-३; ४२, ५, ३३; ७-२७; ९-३; १०-४०; ११-५४; १८-४१ हे शत्रु को जीतनेवाले, अर्जुन शत्रु का नाश करनेवाले अर्जुन
परंतपः—२-९ शत्रु का नाश करने वाले अर्जुन
परमम्—८-३, ८, २१; १०-१, १२; ११-१, ९, १८; १५-६; १८-६४, ६८ उत्तम, परम
परमः—६-३२ उत्तम श्रेष्ठ
परमात्मा—६-७; १३-२२, ३१; १५-१७ ईश्वररूप हुआ आत्मा, ईश्वर, परमात्मा

परमाम्—८-१३, १५, २१; १८-४६ परम (को)
परमेश्वर—११-३ हे परमेश्वर
परमेश्वरम्—१३-२७ परमेश्वर को
परमेष्वासः—१-१-१७ बड़े धनुष-वाला
परम्पराप्राप्तम्—४-२ परंपरा से प्राप्त को
परया—१-२७; १२-२; १७-१७ अतिशय, परम (के द्वारा)
परस्तात्—८-९ उस पार
परस्परम्—३-११; १०-९ अन्योन्य को, एक-दूसरे को
परस्य—१७-१९ दूसरे के, पराये के
परः—४-४० दूसरा; ८-२० पर, उस पार का; ८-२२; १३-२२ परम, उत्तम
परा—३-४२ सूक्ष्म; १८-५० परम (निष्ठा)
पराणि—३-४२ सूक्ष्म
पराम्—४-३९; ६-४५; ७-५; ९-३२; १३-२८; १४-१; १६-२२, २३; १८-५४, ६२, ६८ परम, श्रेष्ठ, ऊंची
परिकीर्तितः—१८-७, २७ कहा गया है
परिक्लिष्टम्—१७-२१ दुःखपूर्वक, दुःख से
परिग्रहम्—१८-५३ बंधनकारक संचय को, परिग्रह को
परिचक्षते—१७-१३, १७ (वे) कहते हैं
परिचर्यात्मकम्—१८-४४ सेवारूप, नौकरी का
परिचिन्तयन्—चिंतन करते हुए
परिज्ञाता—१८-१८ ज्ञाता
परिणामे—१८-३७, ३८ परिणाम में, परिणामस्वरूप
परित्यज्य—१८-६६ त्याग कर
परित्यागः—१८-७ त्याग
परित्राणाय—४-८ परिपालन के लिए रक्षा के लिए
परिदह्यते—१-३० जलता है
परिदेवना—२-२८ दुःख, चिंता
परिपन्थिनौ—३-३४ (दो) चोर, शत्रु, बटमार
परिप्रश्नेन—४-३४ बार-बार प्रश्न करके
परिमार्गितव्यम्—१५-४ अत्यन्त शोधने योग्य, शोध करना चाहिए
परिशुष्यति—१-२९ सूखता है
परिसमाप्यते—४-३३ लय—अंतर्भाव—पाता है, पराकाष्ठा को पहुंचता है
पर्जन्यः ३-१४ वर्षा
पर्जन्यात्—३-१४ वर्षा से

पापा:—३-१३ पापी लोग
पापेन—५-१० पाप से
पापेभ्यः—४-३६ पापियों से, पापियों की अपेक्षा
पापेषु—६-९ पापियों में, पापियों के बारे में
पाप्मानम्—३-४१ पापरूप को, पापी को
पारुष्यम्—१६-४ कठोर वचन कहना, कठोरता
पार्थ—१-२५ इत्यादि; हे पार्थ, अर्जुन
पार्थ:—१-२६; १८-७८ पृथा—कुन्ती का पुत्र, अर्जुन
पार्थस्य—१८-७४ पार्थ का
पार्थाय—११-९ पार्थ के लिए
पावक:—२-२३; १०-२३; १५-६ अग्नि
पावनानि—१८-५ पवित्र करनेवाले
पितर:—१-३४; बड़े लोग इत्यादि; १-४२ पितर लोग
पिता—९-१७; ११-४३, ४४; १४-४ बाप, पिता
पितामह:—१-१२ भीष्म; ९-१७ पितामह
पितामहान्—१-२६ पितामहों को
पितामहा:—१-३४ पितामह लोग, दादा
पितृव्रता:—९-२५ (श्राद्धादि द्वारा) पितरों का पूजन करनेवाले
पितॄणाम्—१०-२९ पितरों में
पितॄन्—१-२६ बुजुर्गों को; ९-२५ पितरों को, पितृलोक को
पीडया—१७-१९ दुख—से—देकर, पीड़ा देकर
पुण्यकर्मणाम्—७-२८; १८-७१ पुण्यवानों का, सदाचारी (लोगों) का
पुण्यकृताम्—६-४१ पुण्यवानों के
पुण्यफलम्—८-२८ पुण्य का फल
पुण्यम्—९-२०; १८-७६ पवित्र
पुण्य:—७-९ पवित्र (गंध)
पुण्या:—९-३३ पुण्यवान
पुण्ये—९-२१ पुण्य में ('क्षीणे पुण्ये'—पुण्य क्षीण होने पर)
पुत्रदारगृहादिषु—१३-९ पुत्र, स्त्री और घर आदि में
पुत्रस्य—११-४४ पुत्र का
पुत्रान्—१-२६ पुत्रों को
पुत्रा:—१-३४; ११-२६ पुत्र
पुनरावर्तिन:—८-१६ फिर पीछे आनेवाले—पुनः जन्म लेनेवाले
पुनर्जन्म—४-९; ८-१५, १६ पुनर्जन्म
पुन:—४-३५; ८-२६; ९-७, ८, ३३; ११-१६, ३९, ४९, ५०; १६-१३; १८-७७ फिर;

१७-२१; १८-२४, ४० और
पुमान्—२-७१ पुरुष
पुरस्तात्—११-४० आगे से
पुरा—३-३, १०; १७-२३ पूर्वकाल में; सृष्टि के आरंभ में
पुराणम्—८-९ पुरातन (को)
पुराणः—२-२०; ११-३८ अनादि, पुरातन
पुराणी—१५-४ सनातन
पुरातनः—४-३ प्राचीन, पुरातन
पुरुजित्—१-५ एक राजा का नाम
पुरुषर्षभ—२-१५ हे पुरुषश्रेष्ठ
पुरुषव्याघ्र—१८-४ हे पुरुषों में व्याघ्र—अर्जुन, पुरुषश्रेष्ठ
पुरुषस्य—२-६० पुरुष का
पुरुषम्—२-१५; ८-८, १०; १०-१२; १३-१९; १५-४; १३-२३ पुरुष को
पुरुषः—२-२१; ३-४, १९; १७-३ मनुष्य; ८-४, २२; ११-१८, ३८; १३-२०, २१, २२; १५-१७ पुरुष
पुरुषाः—९-३ पुरुष
पुरुषोत्तम—८-१; १०-१५; ११-३ हे पुरुषों में उत्तम, कृष्ण
पुरुषोत्तम्—१५-१९ पुरुषोत्तम को
पुरुषोत्तमः—१५-१८ पुरुषोत्तम
पुरुषौ—१५-१६ (दो) पुरुष
पुरे—५-१३ शरीर में, देह में
पुरोधसाम्—१०-२४ पुरोहितों में
पुष्कलाभिः—११-२१ बहुत, अनेक प्रकार—की—के द्वारा
पुष्णामि—१५-१३ (मैं) पोषण करता हूं, पुष्ट करता हूं
पुष्पम्—९-२६ फूल
पुष्पिताम्—२-४२ पुष्पित, मधुर, दिखाऊ
पुंसः—२-६२ पुरुष का
पूजार्हौ—२-४ पूजने लायक, (दो) पूजनीयों को
पूज्यः—११-४३ पूजने योग्य
पूतपापाः—९-२० पाप से मुक्त हुए
पूताः—४-१० पवित्र हुए
पूति—१७-१० बासवाला दुर्गन्धयुक्त
पूरुषः—३-१९, ३६ मनुष्य, पुरुष
पूर्वतरम्—४-१५ पूर्वकाल में (किया हुआ)
पूर्वम्—११-३३ पहले से
पूर्वाभ्यासेन—६-४४ पूर्व के अभ्यास से
पूर्वे—१०-६ पूर्व (के), पूर्व में (होनेवाले)
पूर्वैः—४-१५, १५ पूर्वजों से, पूर्वजों द्वारा
पृच्छामि—२-७ (मैं) पूछता हूं
पृथक्—१-१८; ५-४; १८-१, १४ जुदा-जुदा, अलग, स्वतंत्र;

द्वारा
प्रजनः—१०-२८ प्रजोत्पत्ति करनेवाला
प्रजहाति—२-५५ (वह) तजता है, त्यागता है
प्रजहीहि—३-४१ छोड़ ('मार' इस अर्थ का 'प्रजहि' पाठ भी है)
प्रजानाति—१८-३१ (वह) जानता है, समझता है
प्रजानामि—११-३१ (मैं) जानता हूं
प्रजापतिः—३-१०; ११-३९ ब्रह्मा, प्रजापति
प्रजाः—३-१०, २४ लोगों को, प्रजा को; १०-६ प्रजा, संतति
प्रज्ञा—२-५७, ५८, ६१, ६८ बुद्धि
प्रज्ञाम्—२-६७ बुद्धि को
प्रज्ञावादान्—२-११ पंडिताई के वचन—बोल
प्रणम्य—११-१४, ३५, ४४ प्रणाम करके
प्रणयेन—११-४१ स्नेह से, प्रेम से
प्रणवः—७-८ ओंकार, ॐ
प्रणश्यति—२-६३; ६-३०; ९-३१ (वह) नष्ट होता है
प्रणश्यन्ति—१-४० (वे) नाश को प्राप्त होते हैं
प्रणश्यामि—६-३० (मैं) नाश को प्राप्त होता हूं (परोक्ष—दूर—होता हूं)
प्रणष्टः—१८-७२ नष्ट
प्रणिधाय—११-४४ नीचा करके, नवाकर
प्रणिपातेन—४-३४ नमस्कार द्वारा, विनयपूर्वक, नम्रतापूर्वक
प्रतपन्ति—११-३० तपता है, तपा रहा है
प्रतापवान्—१-१२ प्रतापी
प्रति—२-४३ तरफ, लिए, के वास्ते
प्रतिजानीहि—९-३१ (तू) निश्चयपूर्वक जान
प्रतिजाने—१८-६५ (मैं) प्रतिज्ञा करता हूं
प्रतिपद्यते—१४-१४ (वह) पाता है, प्राप्त होता है
प्रतियोत्स्यामि—२-४ (मैं) सामने आऊं, लड़ूं (सामना करूंगा, लड़ूंगा)
प्रतिष्ठा—१४-२७ स्थान, स्थिति
प्रतिष्ठाप्य—६-११ स्थापना करके
प्रतिष्ठितम्—३-१५ प्रतिष्ठित, रहा हुआ
प्रतिष्ठिता—२-५७, ५८, ६१, ६८ स्थिर, प्रतिष्ठित हुई
प्रत्यक्षावगमम्—९-२ प्रत्यक्ष बोध हो ऐसी (—ऐसा), प्रत्यक्ष

अनुभव में आने योग्य
प्रत्यनीकेषु—११-३२ शत्रु की सेना में, प्रतिपक्षियों में
प्रत्यवायः—२-४० अड़चन, विघ्न, विपरीत परिणाम
प्रत्युपकारार्थम्—१७-२१ बदले के लिए, बदले की आशा से
प्रथितः—१५-१८ प्रसिद्ध, प्रख्यात
प्रदध्मतुः—१-१४ बजाए, फूंके
प्रदिष्टम्—८-२८ कहा हुआ
प्रदीप्तम्—११-२९ प्रदीप्त—जलते हुए (अनल में)
प्रदुष्यन्ति—१-४१ दूषित होती हैं
प्रद्विषन्तः—१६-१८ अत्यंत द्वेष करनेवाले
प्रपद्यते—७-१९ (वह) आश्रय लेता है, पहुंचता है, पाता है
प्रपद्ये—१५-४ (मैं) शरण में जाता हूं, शरण पाता हूं
प्रपद्यन्ते—४-११; ७-१४, १५, २० (वे) आश्रय लेते हैं, भजते हैं, शरण में जाते-आते हैं
प्रपन्नम्—२-७ शरण में आए हुए को
प्रपश्य—११-४९ देख
प्रपश्यद्भिः—१-३९ देखनेवालों (के द्वारा) समझनेवालों (से)
प्रपश्यामि—२-८ (मैं) देखता हूं
प्रपितामहः—११-३९ परदादा, पितामह, ब्रह्मदेव का पिता
प्रभवति—८-१९ (वह) उत्पन्न होता है
प्रभवन्ति—८-१८; १६-९ (वे) उत्पन्न होते हैं
प्रभवम्—१०-२ उत्पत्ति को
प्रभवः—७-६; ९-१८; १०-८ उत्पत्ति का कारण
प्रभविष्णु—१३-१६ उत्पन्न करनेवाला, कर्त्ता
प्रभा—७-८ तेज
प्रभाषेत—२-५४ बोलना चाहिए, बोले
प्रभुः—५-१४; ९-१८, २४ स्वामी, प्रभु
प्रभो—११-४; १४-२१ हे प्रभो
प्रमाणम्—३-२१; १६-२४ प्रमाण
प्रमाथि—६-३४ मथनेवाली, क्षोभकारक
प्रमाथीनि—२-६० मंथन करनेवाली
प्रमादमोहौ—१४-१७ प्रमाद (असावधानी) और मोह
प्रमादः—१४-१३ प्रमाद, असावधानी
प्रमादात्—११-४१ गफलत से, भूल से

प्रमादालस्यनिद्राभिः—१४-८ प्रमाद (कर्तव्य न करना, अकर्तव्य करना); आलस (उत्साह-प्रतिबंध)और निद्रा द्वारा; असावधानी, आलस और निद्रा से (—के पाश से)
प्रमादे—१४-६ कर्तव्यशून्यता में
प्रमुखे—२-६ सामने
प्रमुच्यते—५-३; १०-३ (वह) छूटता है, मुक्त होता है
प्रयच्छति—९-२६ (वह) देता है, अर्पण करता है
प्रयतात्मनः—९-२६ नित्य शुद्ध चित्तवाले पुरुष की प्रयत्न-शील मनुष्य की
प्रयत्नात्—६-४५ विशेष प्रयत्न से
प्रयाणकाले—७-३०; ८-२, १० मृत्युसमय में
प्रयाताः—८-२३, २४ गये हुए, मृत
प्रयाति—८-५, १३ (वह) जाता है मरता है
प्रयुक्तः—३-३६ प्रेरा हुआ, प्रेरित किया हुआ
प्रयुज्यते—१७-२६ (वह) प्रयुक्त होता है, का प्रयोग होता है
प्रलपन्—५-९ बोलता हुआ
प्रलयम्—१४-१४, १५ प्रलय मृत्यु; मौत (को)
प्रलयः—७-६; ९-१८ नाश मरण, नाश का कारण
प्रलयान्ताम्—१६-११ मौत के साथ अंत पानेवाली, प्रलय तक जिसका अंत ही नहीं ऐसी
प्रलये—१४-२ प्रलयकाल में
प्रलीनः—१४-१५ मृत्यु-प्राप्त, मृत, मरा हुआ
प्रलीयते—८-१९ (वह) लय होता है, नाश को प्राप्त होता है
प्रलीयन्ते—८-१८ (उनका) प्रलय होता है, (वे) लय होते हैं
प्रवक्ष्यामि—४-१६; ९-१; १३-१२; १४-१ (मैं) कहूंगा, ठीक कहूंगा—
प्रवक्ष्ये—८-११ (मैं) कहूंगा, वर्णन करूंगा
प्रवदताम्—१०-३२ वाद (विवाद) करनेवालों का
प्रवदन्ति—२-४२; ५-४ (वे) कहते हैं, बोलते हैं
प्रवर्तते—५-१४; १०-८ (वह) चलता है, बरतता है, करता हैं
प्रवर्तन्ते—१६-१०; १७-२४ (वे) चलते हैं, बरतते हैं
प्रवर्तितम्—३-१६ चलाये हुए

प्रविभक्तम्—११-१३ जुदा-जुदा विभागों में पड़े हुए, विभक्त हुए

प्रविभक्तानि—१८-४१ भिन्न-भिन्न—जुदा किये हुए

प्रविलीयते—४-२३ (वह) लय—नाश को—प्राप्त होता है

प्रविशन्ति—२-७० (वे) प्रवेश करते हैं

प्रवृत्तः—११-३२ प्रवृत्त हुआ

प्रवृत्तिम्—११-३१; १४-२२; १६-७; १८-३० चेष्टा, व्यापार, राजसी कार्य, प्रवृत्ति को

प्रवृत्तिः—१४-१२ प्रवृत्ति; १५-४ संसार, माया, प्रवृत्ति; १८-४६ उत्पत्ति, व्यापार, प्रवृत्ति

प्रवृत्ते—१-२० प्रवृत्त होने पर, चालू होने पर

प्रवृद्धः—११-३२ वृद्धि पाया हुआ

प्रवृद्धे—१४-१४ वृद्धि पाये हुए में, वृद्धि पाने पर

प्रवेष्टुम्—११-५४ प्रवेश करने के लिए, सायुज्य मुक्ति पाने के लिए

प्रव्यथितम्—११-२०, ४५ भय-भीत हुआ, त्रस्त, व्याकुल

प्रव्यथितान्तरात्मा—११-२४ जिसका आत्मा व्याकुल हुआ है ऐसा

प्रव्यथिताः—११-२३ भयभीत, त्रस्त (हो गये हैं)

प्रशस्ते—१७-२६ श्रेष्ठ, अच्छे

प्रशान्तमनसम्—६-२७ जिसका मन अच्छी प्रकार शांत हुआ है उसे, शांतिचित्त को

प्रशान्तस्य—६-७ शांतचित्त का, संपूर्ण रीति से शांत हुए को

प्रशान्तात्मा—६-१४ जिनका अंत:करण पूर्ण शांत है ऐसा (पूर्ण शांति से युक्त)

प्रसक्ताः—१६-१६ आसक्त, मस्त हुए

प्रसङ्गेन—१८-३४ प्रसंग के आने पर, असक्ति से (—पूर्वक)

प्रसन्नचेतसः—२-६५ प्रसन्नचित्त-वाले की, प्रसन्नता प्राप्त किये हुए की

प्रसन्नात्मा—१८-५४ प्रसन्नचित्त

प्रसन्नेन—११-४७ प्रसन्न होने-वाले के द्वारा प्रसन्न होकर

प्रसभम्—२-६० बलात्कार से; ११-४१ अनुचित रीति से

प्रसविष्यध्वम्—३-१० (तुम) वृद्धि को प्राप्त होओ

प्रसादये—११-४४ (मैं) प्रसन्न करता हूं, प्रसन्न होने की प्रार्थना

करता हूं
प्रसादम्—२-६४ शांति, प्रसन्नता (को)
प्रसादे—२-६५ प्रसाद में, चित्त, प्रसन्नता से, चित्त प्रसन्न होने पर
प्रसिद्ध्येत्— ३-८ (वह) सिद्ध हो, चले
प्रसीद—११-२५, ३१, ४५ (तू) प्रसन्न हो
प्रसृता—१५-४ प्रसृत, प्रसार की हुई
प्रसृताः—१५-२ प्रसृत हैं
प्रहसन् —२-१० हँसते-हँसते
प्रहास्यसि—२-३९ (तू)—से छूटेगा, छोड़ेगा, तोड़ेगा
प्रहृष्यति—११-३६ (वह) हर्ष पाता है
प्रहृष्येत्—५-२० (वह) हर्षित हो, सुख माने
प्रह्लादः—१०-३० भक्त प्रह्लाद
प्राकृतः—१८-२८ पामर, असंस्कारी
प्राक्—५-२३ पहले
प्राञ्जलयः—११-२१ जिनके हाथ जुड़े हैं ऐसे, हाथ जोड़कर, हाथ जोड़े हुए
प्राणकर्माणि—४-२७ प्राणकर्मों को
प्राणम्—४-२९; ८-१०, १२ प्राणवायु को, प्राण को
प्राणान्—१-३३; ४-३० प्राणों को,
प्राणापानगती—४-२९ प्राण और अपान वायु की (दो) गतियों को
प्राणापानसमायुक्तः — १५ - १४ प्राण और अपान वायु से युक्त (होकर)
प्रणापानौ—५-२७ प्राण और अपान वायु को
प्राणायामपरायणः—४-२९ प्राणायाम में तत्पर रहनेवाले
प्राणिनाम्—१५-१४ प्राणियों के
प्राणे—४-२९ प्राणवायु में
प्राणेषु—४-३० प्राणों में
प्राधान्यतः—१०-१९ मुख्य रूप से, मुख्य-मुख्य
प्राप्तः—१८-५० प्राप्त
प्राप्नुयात्—१८-७१ (वह) प्राप्त करे
प्राप्नुवन्ति—१२-४ (वे) प्राप्त करते हैं
प्राप्य—२-५७ ७२; ५-२०; ६-४१; ८-२१, २५; ९-३३ प्राप्त करके, पाकर
प्राप्यते—५-५ प्राप्त किया जाता है
प्राप्स्यसि—२-३७; १८-६२ (तू) पायेगा, प्राप्त करेगा
प्राप्स्ये—१६-१३ (मैं) पाऊंगा,

पूरा करूंगा

प्रारभते—१८·१५ (वह) आरंभ करता है

प्रार्थयन्ते—९-२० (वे) प्रार्थना करते हैं, मांगते हैं

प्राह—४-१ कहा

प्राहुः—६-२ ; १३-१ ; १५-१ ; १८-२, ३ (वे) कहते हैं

प्रियकृत्तमः—१८-६९ अधिक प्रिय करनेवाला (भक्त—सेवक)

प्रियचिकीर्षवः—१-२३ प्रिय करने की इच्छावाले

प्रियतरः—१८-६९ अधिक प्रिय

प्रियम्—५-२० प्रिय, इष्ट वस्तु

प्रियहितम्—१७-१५ (कर्ण को) प्रिय और (परिणाम में) हितकर

प्रियः—७-१७ ; ९-२९ ; ११-४४ ; १२-१४, १५, १६, १७, १९ ; १७-७ ; १८-६५ प्रिय, इष्ट

प्रियाः—११-२० प्रिय

प्रियाय—११-४४ प्रियजन के लिए

प्रीतमनाः—११-४९ प्रसन्न मनवाला, शांतचित्त

प्रीतिपूर्वकम्—१०-१० प्रेमसहित, प्रेमपूर्वक

प्रीतिः—१-३६ सुख, आनंद

प्रीयमाणाय—१०-१ संतोषी के लिए, प्रियजन के लिए

प्रेतान्—१७-४ प्रेतों को

प्रेत्य—१७-२८ ; १८-१२ परलोक में, मृत्यु को प्राप्त होकर

प्रोक्तम्—८-१ ; १३-११ ; १७-१८ ; १८-३७ कहा हुआ, कहाता है

प्रोक्तवान्—४-१, ४ (वह) कहाता था ; (उसने) कहा

प्रोक्तः—४-३ ; ६-३३ ; १०-४० ; १६-६ कहा हुआ है

प्रोक्ता—३-३ कही गयी है

प्रोक्तानि—१८-१३ कहे गये, कहे हुए

प्रोच्यते—१८-१९ कहे जाते हैं

प्रोच्यमानम्—१८-२९ कहे हुए को, कहे गये को

प्रोतम्—७-७ पिरोया हुआ, गूंथा हुआ

फ

फलम्—२-५१ ; ५-४ ; ७-२३ ; ९-२६ ; १४-१६ ; १७-१२, २१, २५ ; १८-९ १२ फल, फल को

फलहेतवः—२-४७ फल के हेतु, फल के उद्देश्य से कर्म करनेवाले

फलाकाङ्क्षी—१८-३४ फल की आकांक्षा—इच्छा—रखनेवाला ; फलेच्छावाला

फलानि—१८-६ फलों को

फले—५-१२ फल में
फलेषु—२-४७ फलों में

ब

बत—१-४५ खेददर्शक उद्गार, (कैसी दुःख की बात है !)
बद्धाः—१६-१२, बंधे हुए, फंसे हुए
बध्नाति—१४-६ (वह) बांधता है
बध्यते—४-१४ (वह) बंधता है
बन्धम्—१८-३० बंधन को
बन्धात्—५-३ बंधन से
बन्धु—६-५, ६ भाई, बंधु, सगा, मित्र
बन्धून्—१-२७ भाइयों को बांधवों को
बभूव—२-९ (वह) हुआ
बलम्—१-१० सैन्य; ७-११; १६-१८; १८-५३ बल, पराभव करने की शक्ति
बलवताम्—७-११ बलवानों का
बलवत्—६-३४ पराक्रमी, बलवान
बलवान्—१६-१४ बलवान
बलात्—३-३६ बल से, बलात्कार से
बहवः—१-९; ४-१०; ११-२८ बहु, घने, बहुत
बहिः—५-२७; १३-१५ बाहर
बहुदंष्ट्राकरालम्—११-२३ बहुत-सी विकराल दाढ़ोंवाले, बहुत-सी दाढ़ों के कारण भयंकर
बहुधा—९-१५; १३-४ बहुत प्रकार से, अनेक प्रकार से
बहुना—१०-४२ बहुत अधिक (जानने) से
बहुबाहूरुपादम्—११-२३ बहुत-से हाथ, जांघ और पैरवाला
बहुमतः—२-३५ मान को प्राप्त
बहुलायासम्—१८-२४ बहुत क्लेश उत्पन्न करनेवाला, धांधली-पूर्वक
बहुवक्त्रनेत्रम्—११-२३ बहुत-से मुख और आंखोंवाला
बहुविधाः—४-३२ बहुत प्रकार के
बहुशाखाः—२-४१ बहुत शाखा-वाली
बहूदरम्—११-२३ बड़े पेट वाला
बहूनाम्—७-१९ बहुत
बहूनि—४-५; ११-६ बहुत
बहून—२-२६ बहुत-सों (को); अनेक (को)
बालाः—५-४ अविचारी, विवेक-हीन लोग, अज्ञानी लोग
बाह्यस्पर्शेषु—२-२१ बाहर के पदार्थों के साथ इन्द्रियों के संयोगों में, बाह्य, विषयों में
बाह्यान्—५-२७ बाहर के
बिभर्ति—१५-१७ (वह) धारण करता है, पुष्ट करता है

बीजप्रदः—१४-४ बीज रोपनेवाला, बीजारोपण करनेवाला

बीजम्—७-१०; ६-१८; १०-३६ बीज

बुद्धयः—२-४१ बुद्धि

बुद्धिग्राह्यम्—६-२१ बुद्धि से अनुभव करनेयोग्य, बुद्धि से ग्रहण करनेयोग्य

बुद्धिनाशः—२-६३ बुद्धि—ज्ञान का नाश

बुद्धिनाशात्—२-६३ बुद्धि-ज्ञान का नाश होने से

बुद्धिभेदम्—३-२६ बुद्धिभेद, बुद्धि की डावांडोल स्थिति

बुद्धिम्—३-२; १२-८ बुद्धि को

बुद्धिमताम्—७-१० ज्ञानियों की, बुद्धिमानों की

बुद्धिमान्—४-१८; १५-२० बुद्धिमान

बुद्धियुक्तः—२-५० समत्व बुद्धिवाला, समतावाला

बुद्धियुक्ताः—२-५१ समत्व बुद्धिवाले

बुद्धियोगम्—१०-१०; १८-५७ साम्यबुद्धि, सम्यग्दर्शनप्राप्ति, ज्ञान, विवेकबुद्धि

बुद्धियोगात्—२-४६ समत्वबुद्धि से, बुद्धियोग से

बुद्धिसंयोगम्—६-४३ बुद्धिसंयोग बुद्धिसंस्कार को

बुद्धिः—२-३६ समझ; ३-१ बुद्धि (योग); २-४१, ४४, ५२, ५३, ६५, ६६; ३-४०, ४२; ७-४, १०; १०-४; १३-५; १८-१७, ३०, ३१, ३२ बुद्धि

बुद्धेः—३-४२, ४३ बुद्धि से; १८-२६ बुद्धि का

बुद्धौ—२-४६ (समत्व) बुद्धि में

बुद्धया—२-३६; ५-११; ६-२५; १८-५१ बुद्धि से—के द्वारा

बुद्ध्वा—३-४३; १५-२० जानकर, पहचानकर

बुधः—५-२२ ज्ञानवान मनुष्य, समझदार मनुष्य

बुधाः—४-१६; १०-८ ज्ञानी लोग, चतुर मनुष्य

बृहत्साम—१०-३५ इस नाम का इन्द्र की स्तुति का साममंत्र, बृहत्साम

बृहस्पतिम्—१०-२४ इन्द्र के पुरोहित बृहस्पति को

बोद्धव्यम्—४-१७ समझने योग्य; जानना चाहिए

बोधयन्तः—१०-६ जानते हुए

ब्रवीमि—१-७ (मैं) कहता हूं

ब्रवीषि—१०-१३ (तू) कहता है

ब्रह्म—३-१५; १४-३, ४ प्रकृति;

४-२४, ३१; ५६, १९; ७-२९; ८-१, ३, १३, २४; १०-१२; १३-१२, ३०; १८-५० ब्रह्म, परब्रह्म

ब्रह्मकर्म—१८-४२ ब्राह्मण का कर्म

ब्रह्मकर्मसमाधिना—४-२४ कर्म-मात्र ब्रह्म है जिसे ऐसा निश्चय हो गया है उस पुरुष से, कर्म के साथ जिसने ब्रह्म का मेल बैठा लिया है उसके द्वारा

ब्रह्मचर्यम्—८-११; १७-१४ ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचारिव्रते—६-१४ ब्रह्मचर्य के व्रत में, ब्रह्मचर्य के बारे में

ब्रह्मणः—४-३२ ब्रह्मा के वेद के; ६-३८; ८-१७; ११-३७ ब्रह्मा के; १४-२७; १७-२३ ब्रह्म का

ब्रह्मणा—४-२४ ब्रह्म के द्वारा

ब्रह्मणि—५-१०; १९, २० ब्रह्म में

ब्रह्मनिर्वाणम्—२-७२; ५-२४, २५, २६ ब्रह्मरूप निर्वाण को

ब्रह्मभूतम्—६-२७ ब्रह्ममय होने-वाले को

ब्रह्मभूतः—५-२४; १८-५४ ब्रह्म-रूप हुआ, ब्रह्मभाव को प्राप्त हुआ

ब्रह्मभूयाय—१४-२६; १८-५३ ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए, ब्रह्म-भाव के (प्राप्त करने के) लिए, ब्रह्मरूप बनने के लिए

ब्रह्मयोगयुक्तात्मा—५-२१ ब्रह्म में समाधि के द्वारा ब्रह्म से व्याप्त, ब्रह्मपरायण पुरुष

ब्रह्मवादिनाम्—१७-२४ वेद-वेत्ताओं की, ब्रह्मवादियों की

ब्रह्मवित्—५-२० ब्रह्म को जानने-वाला पुरुष

ब्रह्मविदः—८-२४ ब्रह्मवेत्ता

ब्रह्मसंस्पर्शम्—६-२८ ब्रह्म की प्राप्ति से होनेवाले आत्मानुभव के (सुख को) ब्रह्मप्राप्तिरूप (आनंद को)

ब्रह्मसूत्रपदैः—१३-४ ब्रह्मसूत्रों के पदों द्वारा, ब्रह्मसूचक वाक्यों द्वारा

ब्रह्माग्नौ—४-२४, २५ ब्रह्मरूपी अग्नि में

ब्रह्माणम्—११-१५ ब्रह्मा को, ब्रह्मदेव को

ब्रह्मोद्भवम्—३-१५ प्रकृति से अथवा वेद से उत्पन्न

ब्राह्मणक्षत्रियविशाम्—१८-४१ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के

ब्राह्मणस्य—२-४६ ब्रह्म के ज्ञाता का, ब्रह्मपरायण का

ब्राह्मणाः—९-३३; १७-२३ ब्राह्मण

ब्राह्मणे—५-१८ ब्राह्मण में,

ब्राह्मण के संबंध में
ब्राह्मी—२-७२ ब्रह्मनिष्ठारूप, ईश्वर को पहचानने वाली
ब्रूहि—२-७, ५-१ (तू) कह

भ

भक्तः—४-३; ७-२१; ९-३१; १२-१४ भक्त
भक्ताः—९-३३; १२-१, २० भक्तजन
भक्तिमान्—१२-१७, १९ भक्ति-वाला भक्त
भक्तियोगेन—१४-२६ भक्तियोग द्वारा
भक्तिम्—१८-६८ भक्ति को
भक्तिः—१३-१० भक्ति
भक्त्या—८-१०, २२; ९-१४, २६, २९; ११-५४; १८-५५ भक्ति से—के द्वारा, भक्तिपूर्वक
भक्त्युपहृतम्—९-२६ भक्तिपूर्वक अर्पण किया हुआ
भगवन्—१०-१४, १७ हे भग-वान—जगत के स्वामी
भजताम्—१०-१० भजनेवालों का—को
भजति—६-३१; १५-१९ (वह) भजता है, पूजता है
भजते—६-४७; ९-३० (वह) भजता है
भजन्ति—९-१३, २९ (वे) भजते हैं
भजन्ते—७-१६, २८; १०-८ (वे) भजते हैं
भजस्व—९-३३ (तू) भज, पूजा कर
भजामि—४-११ (मैं) भजता हूं
भयम्—१०-४; १८-३५ भय
भयात्—२-३५, भय से, भय के मारे; २-४० संकट से, भय से
भयानकानि—११-२७ विकराल, भयंकर
भयाभये—१८-३० भय और अभय को
भयावहः—३-३५ भयानक
भयेन—११-४५ भय से
भरतर्षभ—३-४१; ७-११, १६; ८-२३; १३-२६; १४-१२; १८-३६ हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन
भरतश्रेष्ठ—१७-१२ हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन
भरतसत्तम—१८-४ हे भरतों में श्रेष्ठ अर्जुन
भर्ता—९-१८; १३-२२ पोषण करनेवाला, भर्ता
भव—२-४५; ६-४६; ८-२७; ९-३४; ११-३३, ४६; १२-१०; १८-५७, ६५ (तू) हो

करता है

भासः—११-१२ तेज का, कांति का; ११-३० तेज, प्रकाश

भास्वता—१०-११ प्रकाशमय, उज्ज्वल (ज्ञानद्वीप) से

भाः—११-१२ तेज

भिन्ना—७-४ भेदवाली, भिन्न

भीतभीतः—११-३५ भयभीत हुआ

भीतम्—११-५० भयभीत (अर्जुन) को

भीतानि—११-३६ भयभीत ए

भीताः—११-२१ भयभीत होकर

भीमकर्मा—१-१५ पराक्रमी, भयानक कर्मवाला

भीमाभिरक्षितम्—१-१० भीम द्वारा रक्षित

भीमार्जुनसमाः—१-४ भीम और अर्जुन के समान

भीष्मद्रोणप्रमुखतः—१-२५ भीष्म और द्रोण के सामने

भीष्मम्—१-११; २-४; ११-३४ भीष्म को

भीष्मः—१-८; ११-२६ भीष्म-पितामह

भीष्माभिरक्षितम्—१-१० भीष्म द्वारा रक्षित (सेना)

भुक्त्वा—९-२१ भोगकर

भुङ्क्ते—३-१२; १३-२१ (वह) भोगता है

भुङ्क्ष्व—११-३३ (तू) भोग

भुञ्जते—३-१३ (वे) भोगते हैं, खाते हैं

भुञ्जानम्—१५-१० भोगनेवाले को

भुञ्जीय—२-५ मैं भोगूं

भुवि—१८-६९ पृथ्वी में

भूतगणान्—१७-४ भूतगणों को

भूतग्रामम्—९-८ प्राणियों के समुदाय मात्र को—सारे समुदाय को; १७-६ (पंच) महाभूतों को

भूतग्रामः—८-१९ भूतसमुदाय, प्राणियों का समुदाय

भूतपृथग्भावम्—१३-३० प्राणियों का नानात्व—अनेकत्व जीवों के भिन्न-भिन्न अस्तित्व

भूतप्रकृतिमोक्षम्—१३-३४ प्रकृति के बंधन से प्राणियों की मुक्ति

भूतभर्तृ—१३-१६ प्राणियों का पोषण करनेवाला

भूतभावन—१०-१५ हे प्राणियों को उत्पन्न करनेवाले, जीवों के पिता

भूतभावनः—९-५ भूतों को उत्पन्न करनेवाला

भूतभावोद्भवकरः—८-३ सृष्टि उत्पन्न करनेवाला, प्राणीमात्र को उत्पन्न करनेवाला

भूतभृत्—९-५ भूतों को धारण करनेवाला, जीवों का भरण करनेवाला

भूतमहेश्वरम्—९-११ भूतों के महेश्वर—स्वामी को, प्राणीमात्र के महेश्वर (रूप) को

भूतविशेषसंघान्—११-१५ भूत विशेष के समुदाय को, जुदे-जुदे प्रकार के प्राणियों के समुदायों को

भूतसर्गौ—१६-६ प्राणियों की दो सृष्टियां (संपत्)

भूतस्थः—९-५ जीवों में रहा हुआ

भूतम्—१०-३९ भूत, अस्तित्व वाला कोई भी, भूतमात्र

भूतादिम्—९-१३ भूतों के कारणरूप को, प्राणियों के आदि-कारण को

भूतानाम्—४-६ १०-५, २०, २२; ११-२; १३-१५; १८-४६ भूतमात्र का, भूतों का, प्राणियों का

भूतानि—२-२८, ३०, ६९; ३-१४; ३३; ४-३५; ७-६, २६; ८-२२; ९-५, ६; १५-१३, १६ भूत, प्राणी, भूतमात्र; २-३४ लोग; ९-२५ भूतों को भूतप्रेतादि लोक को

भूतिः—१८-७८ उत्तरोत्तर ऐश्वर्य की वृद्धि, वैभव

भूतेज्याः—९-२५ विनायकादि भूतगण की पूजा करनेवाले, भूतप्रेतादि को पूजनेवाले

भूतेश—१०-१५ हे भूतों के पति, जीवों के ईश्वर

भूतेषु—७-११; ८-२०; १३-१६, १७; १६-२; १८-२१, ५४ प्राणियों में, प्राणियों के विषय में

भूत्वा—२-२०, ३५, ४८; ३-३०; ८-१९; ११-५०; १५-१३, १४ होकर, उत्पन्न हो-होकर

भूमिः—७-४ पृथ्वी (तन्मात्रा)

भूमौ—२-८ भूमि में, इस लोक में

भूयः—२-२०; ६-४३; १०-१, १८; ११-३५, ३९, ५०; १३-२३; १४-१; १५-४; १८-६४ फिर से, अब फिर; ७-२ अधिक

भूः—२-४७ देखो, 'मा भूः' (न होओ)

भृगुः—१०-२५ भृगु ऋषि

भेदम्—१७-७; १८-२९ भेद को

भेर्यः—१-१३ भेरियां, नगाड़े

भैक्ष्यम्—२-५ भिक्षा, भिक्षान्न

भोक्ता—९-२४; १३-२२ भोगनेवाला, भोक्ता

भोक्तारम्—५-२९ भोक्ता को

भोक्तुम्—२-५ खाने को, खाना

भोक्तृत्वे—१३-२० भोग में
भोक्ष्यसे—२-३७ (तू) भोगेगा
भोगान्—२-५; ३-१२ भोगों को
भोगाः—१-३३; ५-२२ भोग
भोगी—१६-१४ विषयभोग जिसे प्राप्त हुए हों ऐसा व्यक्ति, भोगी
भोगैश्वर्यगतिम्—२-४३ भोग और ऐश्वर्य प्राप्त करने के (लिए)
भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्—२-४४ भोग और ऐश्वर्य में आसक्त हुओं की
भोगैः—१-३२ भोगों से
भोजनम्—१७-१० आहार, भोजन
भ्रमति—१-३० (वह) फिरता है, घूमता है
भ्रातॄन्—१-२६ भाइयों को
भ्रामयन्—१८-६१ भ्रमण कराता हुआ, घुमाता हुआ
भ्रुवोः—५-२७; ८-१० (दो) भ्रूकुटियों के (बीच)

म

मकरः—१०-३१ मगर, मगरमच्छ
मच्चित्तः—६-१४; १८-५७, ५८ जिसका चित्त मुझमें लगा हुआ है, मुझमें परायण
मच्चित्ताः—१०-९ जिनके चित्त मुझमें लगे हुए हैं वे, मुझमें चित्त पिरोनेवाले
मणिगणाः—७-७ मणियों का समूह, मन के
मतम्—३-३१, ३२; ७-१८; १३-२; १८-६ माना हुआ, मानना, अभिप्राय, मत
मतः—६-३२, ४६, ४७; ११-१८; १८-९ माना हुआ, माना जाता है
मता—३-१; १६-५ मानी हुई, मानी गई है
मताः—१२-२ माने गये हैं, माने जाते हैं
मतिः—६-३६; १८-७०, ७८ बुद्धि, मत, अभिप्राय
मते—८-२६ (दो गतियां) मानी गई हैं
मत्कर्मकृत्—११-५५ मेरे ही लिए कर्म करनेवाला
मत्कर्मपरमः—१२-१० मेरे ही लिए किये जानेवाले कामों में परायण, कर्ममात्र अर्पण करनेवाला
मत्तः—७-७ मुझसे, मेरी अपेक्षा; ७-१२; १०-५, ८; १५-१५ मुझसे, मुझमें से
मत्परमः—११-५५ मुझमें परायण
मत्परमाः—१२-२० मुझमें परायण
मत्परः—२-६१; ६-१४; १८-५७

मुझमें तन्मय, मेरा ध्यान धरता हुआ, मुझमें परायण
मत्परायण:—६-३४ मुझे योग की परा गति माननेवाला, मुझमें परायण
मत्परा:—१२-६ मुझमें परायण
मत्प्रसादात्—१८-५६, ५८ मेरी दया से, मेरी कृपा से
मत्वा—३-२८; १०-८; ११-४१ मानकर, जानकर, विचारकर
मत्संस्थाम्—६-१५ मेरी प्राप्ति में मिलनेवाली
मत्स्थानि—९-४, ५, ६ मेरे आधार पर रहनेवाले
मदनुग्रहाय—११-१ मुझपर दया करके, मुझपर अनुग्रह करने के लिए
मदर्थम्—१२-१० मेरे लिए, मेरे निमित्त
मदर्थे—१-९ मेरे लिए
मदर्पणम्—९-२७ मुझे अर्पण (कर)
मदम्—१८-३५ मद (को)
मदाश्रय:—७-१ मेरे आश्रय में स्थित हुआ, मेरा आश्रय लेकर स्थित
मद्गतप्राणा:—१०-९ मुझ में जिनकी इन्द्रियां स्थिर हो गई हैं, मुझे प्राण अर्पण करनेवाले
मद्गतेन—६-४७ मुझमें पिरोये हुए (मन के) द्वारा
मद्भक्त:—९-३४; ११-५५; १२-१४, १६; १३-१८; १८-६५ मेरा भक्त
मद्भक्ता:—७-२३ मेरे भक्त, मेरा भजन करनेवाले
मद्भक्तिम्—१८-५४ मेरी भक्ति को
मद्भक्तेषु—१८-६८ मेरे भक्तों में
मद्भावम्—४-१०; ८-५; १४-१९ मेरे भाव को, मेरे स्वरूप को
मद्भावाय—१३-१८ मेरे भाव को
मद्भावा:—१०-६ मुझमें भाववाले
मद्याजिन:—९-२५ मेरी पूजा करनेवाले, मुझे पूजनेवाले, भजनेवाले
मद्याजी—९-३४; १८-६५ मेरी पूजा करनेवाला, मेरे निमित्त यज्ञ करनेवाला
मद्योगम्—१२-११ मेरे निमित्त कर्म करने भर की, मेरे साथ योग साधने की
मद्व्यपाश्रय:—१८-५६ मेरा शरणागत, मेरा आश्रय लेने-वाला
मधुसूदन—१-३५; २-४; ६-३३;

८-२ हे मधुसूदन कृष्ण
मधुसूदनः—२-१ मधुसूदन कृष्ण
मध्यम्—१०-२०; ३२; ११-१६ मध्य स्थिति, मध्य
मध्ये—१-२१, २४; २-१०; ८-१०; १४-१८ बीच में, मध्य में
मनवः—१०-६ ममु
मनवे—४-१ (अपने—विवस्वान के पुत्र) मनु को
मनसः—३-४२ मन से, मन की अपेक्षा
मनसा—३-६, ७, ४२; ५-११, १३; ६-२४; ८-१० मन से, मन द्वारा
मनः—१-३० मगज, चित्त; २-६०, ६७; ३-४०, ४२; ५-१९; ६-१२, १४, २५, २६, ३४, ३५; ७-४; ८-१२; १०-२२; ११-४५; १२-२, ८; १५-९; १७-११ मन, मन को
मनःप्रसादः—१७-१६ मन की प्रसन्नता, चित्तप्रसन्नता
मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः—१८-३३ मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को
मनःषष्ठानि—१५-७ जिनके साथ मन छठा है, उन पांच इंद्रियों को
मनीषिणः—२-५१; १८-३ बुद्धिमान लोग, विचारवान पुरुष
मनीषिणाम्—१८-५ विवेकियों का
मनुष्यलोके—१५-२ मनुष्यलोक में
मनुष्याणाम्—१-१४ मनुष्यों का; ७-३ मनुष्यों में
मनुष्याः—३-२३; ४-११ लोग
मनुष्येषु—४-१८; १५-६९ मनुष्यों में, लोगों में
मनुः—४-१ (वैवस्वत) मनु
मनोगतान्—२-५५ मन में स्थित (कामनाओं) को, मन में आये हुए को
मनोरथम्—१६-१३ मनोरथ को, इच्छा को
मन्तव्यः—९-३० मानने योग्य, मानना चाहिए
मन्त्रहीनम्—१७-१३ मंत्ररहित
मन्त्रः—९-१६ यज्ञ में बोला जानेवाला मंत्र
मन्दान्—३-२९ मंदबुद्धियों को
मन्मनाः—९-३४; १८-६५ मुझमें मन लगानेवाला, मुझमें लगनवाला
मन्मयाः—४-१० मुझमें परायण, मेरा ही ध्यान धरनेवाले
मन्यते—२-१९; ३-२७; ६, २२; १८-३२ (वह) मानता है
मन्यन्ते—७-२४ (वे) मानते हैं

यों का, महर्षियों में

महात्मनः—११-१२; १८-७४; महात्मा का

महात्मन्—११-२०, ३७ हे महात्मन्

महात्मा—७-१६; ११-५० महात्मा

महात्मानः—८-१५; ९-१३ महात्मा

महानुभावान्—२-५ प्रभावशाली आर्यों को, महानुभावों को

महान्—९-६; १८-७७ बड़ा, महान्

महापाप्मा—३-३७ महापापी

महाबाहुः—१-१८ महाबाहु, लंबी बाहुवाला

महाबाहो—२-२६, ६८; ३-२८, ४३; ५-३, ६; ६-३५, ३८; ७-५; १०-१; ११-२३; १४-५; १८-१, १३ हे लंबी बाहुवाले

महाभूतानि—१३-५ (पंच) महाभूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश

महायोगेश्वरः—११-९ महायोगेश्वर

महारथः—१-४, १७ महारथी

महारथाः—१-६; २-३५ महारथी (अनेक)

महाशंखम्—१-१५ बड़े शंख को

महाशनः—३-३७ बहुत खानेवाला, पेटू

महिमानम्—११-४१ महिमा को

महीकृते—१-३५ पृथ्वी के लिए, जमीन (के टुकड़े) के लिए

महीक्षिताम्—१-२५ राजाओं का

महीपते—१-२१ हे महीपति, हे राजन्

महीम्—२-३७ पृथ्वी को

महेश्वरः—१३-२२ महेश्वर, स्वामी

महेष्वासाः—१-४ बड़े धनुर्धारी

मंस्यन्ते—२-३५ (वे) मानेंगे

मा—२-३, ४७, नहीं—मा (निषेधवाचक); ११-४९ न होओ; माभूः२-४७ न होओ; मा व्यथिष्ठाः ११-३४ डरो मतः त्रास मत पाओ; मा शुचः—१६-५; ११-६६ शोक न कर, विषाद न कर; मा स्म गमः २-३ न जा—न प्राप्त हो

माता—९-१७ माता

मातुलान्—१-२६ मामाओं को

मातुलाः—१-३४ मामा

मात्रास्पर्शाः—२-१४ बाह्य पदार्थों के संयोग, इंद्रियों के स्पर्श

माधव—१-३७ हे माधव-कृष्ण

माधवः—१-१४ कृष्ण

मुहुः—१८-७६ फिर से
मुमुक्षुभिः—४-१५ मोक्ष की इच्छा करनेवालों द्वारा
मुह्यति—२-१३; ८-१७ (वह) मोहग्रस्त होता है, मूर्च्छित होता है
मुह्यन्ति—५-२५ (वे) मोहग्रस्त होते हैं, मोह में फंसते हैं
मूढ़ग्राहेण—१७-१९ दुराग्रह से
मूढ़योनिषु—१४-१५ पश्वादि योनियों में, मूढ़ योनियों में
मूढ़ः—७-२५ अज्ञान, मूढ़
मूढ़ाः—७-१५; ९-११; १६-२० मूर्ख लोग, मूढ़ लोग
मूर्तयः—१४-४ मूर्ति, प्राणी
मूर्ध्नि—८-१२ मस्तक—ब्रह्म-रंध्र—में
मूलानि—१५-२ जड़, मूल
मृगाणाम्—१०-३० मृगों का—पशुओं का (—में)
मृगेन्द्रः—१०-३० सिंह
मृतम्—२-२६ मरे हुए, मरनेवाले को
मृतस्य—२-२७ मरे हुए का
मृत्युम्—१३-२५ मृत्यु को
मृत्युसंसारवर्त्मनि—९-३ मृत्युमय संसारमार्ग में
मृत्युसंसारसागरात्—१२-७ मृत्युमय संसार से, मृत्युरूपी संसार-सागर से
मृत्युः—२-२७; ९-१९; १०-३४ मृत्यु, मरण
मे—१-२१, २९, ३०, ४६; ३-२, २२, ३१, ३२; ४-३, ५, ९, १४; ६-३०, ३६, ३९, ४७; ७-४, ५, १८; ९-५, २९, ३१; १०-१, २, १८, १९; ११-५, ८, १८, ४५, ४७, ४९; १२-२, १४, १५, १६, १७, १९, २०; १३-३; १६-६, १३; १८-४, ६, ६४, ६५, ६९, ७०, ७७ मेरा; २-७; ५-१; ९-२६; १०-१३; ११-४, ३१, ४५ मुझे; १८-१३, ३६, ५० मेरे पास से
मेधा—१०-३४ बुद्धि
मेधावी—१८-१० आत्मज्ञानी, बुद्धिमान
मेरुः—१०-२३ मेरु पर्वत
मैत्रः—१२-१३ मित्र भाववाला
मोक्षकांड्क्षिभिः—१७-२५ मुमुक्षुओं से, मोक्षेच्छुओं द्वारा
मोक्षपरायणः—५-२८ मोक्ष के विषय में परायण
मोक्षयिष्यामि—१८-६६ (मैं) मुक्त करूंगा
मोक्षम्—१८-३० मोक्ष को
मोक्ष्यसे—४-१६; ९-१, २८

य

दान और तपरुपी क्रियाएं
यज्ञभावितः—३-१२ यज्ञ द्वारा संतुष्ट देवगण
यज्ञम्—४-२५; १७-१२, १३ यज्ञ को
यज्ञविदः—४-३० यज्ञ जाननेवाले
यज्ञशिष्टामृतभुजः—४-३१ यज्ञ में से बचे हुए अमृत का पान करनेवाले
यज्ञशिष्टाशिनः—३-१३ यज्ञ में से बाकी रहा हुआ खानेवाले
यज्ञः—३-१४; ९-१६; १६-१; १७-७, ११; १८-५ वैश्वदेवादि स्मार्त कर्म, यज्ञ
यज्ञात्—३-१४ यज्ञ से, यज्ञ में से; ४-३३ यज्ञ की अपेक्षा
यज्ञानाम्—१०-२५ यज्ञों में
यज्ञाय—४-२३ यज्ञ के लिए, यज्ञार्थ
यज्ञार्थात्—३-९ यज्ञार्थ—ईश्वर-प्रीत्यर्थ—किये हुए (कर्म) के सिवा, निष्काम रहकर किये हुए विहित कर्म के सिवा
यज्ञाः—४-३२; १७-२३ यज्ञ
यज्ञे—३-१५; १७-२७ यज्ञ में
यज्ञेन—४-२५ यज्ञ द्वारा
यज्ञेषु—८-२८ यज्ञों में
यज्ञैः—९-२० यज्ञों द्वारा
यत्—१-४५ जिससे कि, २-६ कि; २-७, ८ इत्यादि जो, जिसे; १५-८, ८ जो, जब
यतचित्तस्य—६-१९ नियत चित्तवाले का, स्थिरचित्त का
यतचित्तात्मा—४-२१; ६-१० जिसका अंतःकरण और देह नियम में—काबू में—है, जिसका मन अपने वश में है वह, चित्त स्थिर करके
यतचित्तेन्द्रियक्रिया—६-१२ जिसने चित्त की और इंद्रियों की क्रियाएं नियम में रखी हैं, वह चित्त और इंद्रियों को वश करके
यतचेतसाम्—५-२६ जिन्होंने अपने मन को वश में किया है (उन यतियों का)
यततः—२-६० प्रयत्न से करनेवाले की
यतता—६-३६ यत्नवान से, यत्न करनेवालों के द्वारा
यतताम्—७-३ प्रयत्न करनेवालों में
यतति—७-३ (वह) यत्न करता है
यतते—६-४३ (वह) प्रयत्न करता है
यतन्तः—९-१४; १५-११ प्रयत्न करनेवाले
यतन्ति—७-२९ (वे) प्रयत्न

यशः—१०-५; ११-३३ कीर्ति, यश
यष्टव्यम्—१७-११ यज्ञ करने योग्य, यज्ञ करना चाहिए
यस्मात्—१२-१५ जिससे, जिसके द्वारा; १५-१८ जिस कारण से, जिससे
यस्मिन्—६-२२; १५-४ जिसमें, जिसके विषय में
यस्य—२-६१, ६८; ४-१९; ८-२२; १५-१; १८-१७ जिसका
यस्याम्—२-६९ जिसमें
यः—२-१९ इत्यादि, जो
या—२-६९; १८-३०, ३२, ५० जो
यातयामम्—१७-१० प्रहर तक पड़ा हुआ
याति—६-४५; ८-५, ८, १३, २६; १३-२८; १४-१४; १६-२२ (वह) जाता है, प्राप्त होता है
यादव—११-४१ हे यादव—कृष्ण
यादसाम्—१०-२९ जलचरों में
यादृक्—१३-३ जैसा
यान्—२-६ जिन्हें
यान्ति—३-३३; ४-३१; ७-२३, २७; ८-२३; ९-७, २५, ३२; १३-३४; १६-२० (वे) जाते हैं, अनुसरण करते हैं, प्राप्त करते हैं
याभिः—१०-१६ जिनके द्वारा
याम्—२-४२; ७-२१ जिसे
यावत्—१-२२ जिससे, जबतक; १३-२६ जो कुछ
यावान्—२-४६; १८-५५ जितना, जैसा
यास्यसि—२-३५; ४-३५ (तू) जायगा; प्राप्त होगा
याः—१४-४ जो
युक्तचेतसः—७-३० वे जिनका अंतःकरण युक्त हुआ है, समत्व को प्राप्त हुए
युक्तचेष्टस्य—६-१७ यथायोग्य नियमित चेष्टावाले
युक्ततमः—६-४७ उत्तम योगी
युक्ततमाः—१२-२ उत्तम योगी
युक्तस्वप्नावबोधस्य—६-१७ जिसका सोना-जागना नियमित है, सोने और जागने में प्रमाण रखनेवाले
मुक्तः—२-३९; ७-२२; ८-११; १८-५१—से मुक्त, वाला; २-६१; ४-१८; ५-८; ६-१४, १८ युक्त, योगी; ३-२६; ५-१२, २३ समतावान मनुष्य,

ये—१-७ इत्यादि; जो

ये—१-७, २३; ३-१३, ३१, ३२; ४-११; ५-२२; ७-१२, १४, २६, ३०; ६-२२, २३, २६, ३२; ११-२२, ३२; १२-१, २, ३, ६, २०; १३-१४; १७-१, ५ जो

येन—२-१७; ३-२; ४-३५; ६-६; ८-२२; १०-१०; जिससे, जिसके द्वारा, जिसके कारण

येन केनचित्—१२-१६ चाहे जिससे

येषाम्—१-३३; २-३५; ५-१६; १६; ७-२८; १०-६ जिनके

योक्तव्यः—६-२३ साधने योग्य, साधन करना चाहिए

योगक्षेमम्—६-२२ योगक्षेम, योग—न मिलनेवाले का मिलना, क्षेम—मिले हुए की रक्षा

योगधारणाम्—८-१२ योगावस्था को, समाधियोग को

योगबलेन—८-१० योगबल से

योगभ्रष्टः—६-४१ योग से विचलित, योगभ्रष्ट

योगमायासमावृतः—७-२५ योगमाया से समावृत, (योगमाया —गुणों का संघटन और प्रकाशन)

योगयज्ञाः—४-२८ योगरूपी यज्ञ करनेवाले, अष्टांगयोग साधनेवाले

योगयुक्तः—५-६, ७; ८-२७ कर्मयोग का आचरण करनेवाला, समत्ववाला, वह जिसने योग साधा है, योग से युक्त

योगयुक्तात्मा—६-२६ जिसने योग साधा है ऐसा पुरुष, योगी

योगवित्तमाः—१२-१ योगवेत्ताओं में उत्तम, श्रेष्ठ योगी

योगसञ्ज्ञितम्—६-२३ योग नामवाले को

योगसंन्यस्तकर्माणम्—४-४१ जिसने समत्वरूपी योग द्वारा कर्म (फल) का त्याग किया है उसे

योगसंसिद्धः—४-३८ कर्मयोग में जिसने सिद्धि—यश प्राप्त किया है ऐसा पुरुष, योग में—समत्व में पूर्ण मनुष्य

योगसंसिद्धिम्—६-३७ योग के फल—मोक्ष को, योग की सफलता को

योगसेवया—६-२० योग के अनुष्ठान से—सेवन से

योगस्थः—२-४८ योग में स्थिर,

योधवीरान्—११-३४ वीर लड़ाकों को
योधाः—११-३२ लड़ाके, योद्धा
योनिम्—१६-२० योनि को, भव को
योनिषु—१६-१९ योनियों में
योनिः—१४-३, ४ गर्भस्थान, उत्पत्तिस्थान
यौवनम्—२-१३ युवावस्था, यौवन

र

रक्षांसि—११-३६ राक्षस
रजसः—१४-१६ रजोगुण का, १४-१७ रजोगुण से
रजसि—१४-१२, १५ रजोगुणम
रजः—१४-५, ७, ९, १०; १७-१ रजोगुण, रजस्
रजोगुणसमुद्भवः—३-३७ रजोगुण से उत्पन्न
रणसमुद्यमे—१-२२ रणसमारंभ में, रणसंग्राम में
रणात्—२-३५ रण से
रणे—१-४६; ११-३४ रण में
रताः—५-२५; १२-४ रत, लगे रहनेवाले
रथम्—१-२१ रथ को
रथोत्तमम्—१-२४ उत्तम रथ को
रथोपस्थे—१-४७ रथ में, रथ के पिछले भाग में
रमते—५-२२; १८-३६ (तू वह) रमता है
रमन्ति—१०-९ (वे) आनंद में रहते हैं
रविः—१०-२१; १३-३३ सूर्य
रसनम्—१५-९ जीभ, स्वादेन्द्रिय
रसवर्जम्—२-५९ रस को छोड़कर—रस नहीं जाता
रसः—२-५९; ७-८ रस
रसात्मकः—१५-१३ रसवाला, रसरूपी
रस्याः—१७-८ रसदार
रहसि—६-१० एकांत में
रहस्यम्—४-३ गुप्त बात, सार, मर्म की बात
राक्षसीम्—९-१२ राक्षसी (को)
रागद्वेषवियुक्तैः—२-६४ रागद्वेषरहित (द्वारा)
रागद्वेषौ—३-३४ रागद्वेष; १८-५१ रागद्वेष को
रागात्मकम्—१४-७ इच्छा उत्पन्न करनेवाला, रागरूपी
रागी—१८-२७ रागों से भरा हुआ, रागी
राजगुह्यम्—९-२ गूढ़ वस्तुओं में—गुह्यों में राजा—श्रेष्ठ
राजन्—११-९; १८-७६, ७७ हे राजा

राजर्षयः—४-२; ९-३३ राजर्षि
राजविद्या—९-२ विद्याओं में राजा—श्रेष्ठ विद्या
राजसम्—१७-१२ १८, २१; १८-८, २१, २४, ३८ राजस, राजसी
राजसस्य—१७-९ रजोगुणी मनुष्य का (को), राजस प्रकृतिवाले का
राजसः—१८-२७ राजसी, रजोगुणी
राजसाः—७-१२; १४-१८ राजसी, रजोगुणात्मक; १७-४ राजसी लोग
राजसी—१७-२; १८-३१, ३४ राजसी, रजोगुणात्मक
राजा—१-२, १६ राजा
राज्यम्—१-३२, ३३; २-८; ११-३३ राज्य, राज्य को
राज्यसुखलोभेन—१-४५ राज्यसुख के लोभ से
राज्येन—१-३२ राज्य से
रात्रिम्—८-१७ रात्रि का
रात्रिः—८-२५ रात्रि
रात्र्यागमे—८-१८, १९ (ब्रह्मा की) रात्रि शुरू होने पर
राधनम्—७-२२ पूजा, आराधना, सेवा
रामः—१०-३१ परशुराम
रिपुः—६-५ दुश्मन, शत्रु
रुद्राणाम्—१०-२३ रुद्रों में
रुद्रादित्याः—११-१२ रुद्र और आदित्य
रुद्रान्—११-६ रुद्रों को
रुद्ध्वा—४-२९ रूंधकर, रोककर
रुधिरप्रदिग्धान्—२-५ खून से सने हुए (भोगों को)
रूपस्य—११-५२ रूप का
रूपम्—११-३, ९, २०, २३, ४५, ४९, ५०, ५१; १८-७७ रूप को, स्वरूप को; ११-४७, ५२; १५-३ रूप, स्वरूप
रूपाणि—११-५ रूप
रूपेण—११-४६ रूप से, रूप के साथ, रूप से युक्त
रोमहर्षणम्—१८-७४ रोंगटे खड़े करनेवाला
रोमहर्षः—१-२९ रोंगटे खड़े होना

ल

लघ्वाशी—१८-५२ अल्पाहारी, थोड़ा खानेवाला
लब्धम्—१६-१३ प्राप्त किया है, पा लिया है
लब्धा—१८-७३ मिली, (मैंने) प्राप्त की, (मुझे) प्राप्त हुई

लब्ध्वा—४-३९; ६-२२ पाकर, प्राप्त करके
लभते—४-३९; ६-४३; ७-२२; १८-४५, ५५ (वह) प्राप्त करता है, पाता है
लभन्ते—२-३२; ५-२५; ९-२१ (वे) पाते हैं, प्राप्त करते हैं
लभस्व—११-३३ (तू) प्राप्त कर
लभे—११-२५ (मैं) पाता हूं
लभेत्—१८-८ (वह) प्राप्त करे
लभ्यः—८-२२ प्राप्त किया जा सके ऐसा
लाघवम्—२-३५ तुच्छता, लघुता (को)
लाभम्—६-२२ लाभ को
लाभालाभौ—२-३८ लाभ और हानि
लिङ्गैः—१४-२१ चिह्नों से
लिप्यते—५-७, १०; १३-३१ (वह) लिप्त होता है,—के ऊपर असर होता है; १८-१७ मलिन होता है
लिम्पन्ति—४-१४ (वे) असर करते हैं, स्पर्श करते हैं
लुप्तपिण्डोदकक्रियाः—१-४२ पिंड-दान की श्राद्ध-क्रिया से वंचित
लुब्धः—१८-२७ लोभी
लेलिह्यसे—११-३० (तू) चाटता है
लोकक्षयकृत्—११-३२ लोकों का नाश करनेवाला
लोकत्रयम्—११-२० तीनों लोक; १५-१७ तीनों लोकों को
लोकत्रये—११-४३ तीनों लोकों में
लोकम्—९-३३; १३-१३ लोक को, जगत को
लोकमहेश्वरम्—१०-३ लोकों के महेश्व को
लोकसंग्रहम्—३-२०, २५ लोकोन्नति, लोककल्याण, लोकसंग्रह
लोकस्य—५-१४; ११-४३ जगत का, लोक का
लोकः—३-९, २१; ४-३१, ४०; ७-२५ लोक, दुनिया; ३-२१; १२-५ लोक
लोकात्—१२-१५ लोकों से
लोकान्—६-४१; १०-१६; ११-३०, ३२; १४-१४; १८-१७, ७१ लोकों में
लोकाः—३-२४; ८-१६; ११-२३, २९ लोक
लोके—२-५; ३-३; ४-१२; ६-४२; १०-६; १३-१३; १५-१६, १८; १६-६ लोक में, जगत में
लोकेषु—३-२२ लोकों में
लोभः—१४-१२, १७; १६-२१

परद्रव्य की इच्छा, लोभ
लोभोपहतचेतसः—१-३८ लोभ से जिनके चित्त मलिन हो गये हैं वे

व

वक्तुम्—१०-१६ कहने के लिए
वक्त्राणि—११-२७, २८, २९ मुख
वक्ष्यामि—७-२; ८-२३; १०-१; १८-६४ (मैं) कहूंगा
वचनम्—१-२; ११-३५; १८-७३ वचन
वचः—२-१०; १०-१; ११-१; १८-६४ वचन
वज्रम्—१०-२८ दधीचि मुनि की हड्डियों से बना हुआ हथियार—वज्र
वद—३-२ (तू) कह
वदति—२-२९ (वह) कहता है, वर्णन करता है
वदनैः—११-३० मुखों द्वारा
वदन्ति—८-११ वे कहते हैं वर्णन करते हैं
वदसि—१०-१४ (तू) कहता है
वदिष्यन्ति—२-३६ (वे) कहेंगे, बोलेंगे
वयम्—१-३७, ४५; हम; २-१२ हम लोग
वर—८-४ श्रेष्ठ
वरुणः—१०-२९; ११-३९ वरुण (जल-देवता)
वर्णसंकरकारकैः—१-४३ वर्णों का संकर करनेवाले (के द्वारा)
वर्णसंकरः—१-४१ वर्णसंकर
वर्तते—५-२६; ६-३१; १६-२३ (वह) बरतता है
वर्तन्ते—३-२८; ५-९; १४-२३ (वे) बरतते हैं, अपना भाव व्यक्त करते हैं
वर्तमानः—६-३१; १३-२३ बरतता हुआ, व्यवहार करता हुआ
वर्तमानानि—७-२६ वर्तमान
वर्ते—३-२२ (मैं) प्रवृत्त रहता हूं
वर्तेत—६-६ (वह) वरते
वर्तेयम्—३-२ (मैं) बरतूं, प्रवृत्त रहूं
वर्त्म—३-२३; ४-११ मार्ग, आचरण का
वर्षम्—९-१९ वर्षा को
वशम्—३-३४; ६-२६ वश, काबू
वशात्—९-८ बल से, सामर्थ्य से, जोर से, प्रभाव से
वशी—५-१३ जितेन्द्रिय, संयमी
वशे—२-६१ वश में
वश्यात्मना—६-३६ संयमी से, जिसका मन अपने वश में है

उसके द्वारा
वसवः—११-२२ वसु
वसूनाम्—१०-२३ वसुओं में
वसून्—११-६ वसुओं को
वहामि—९-२२ (मैं) वहन करता हूं, भार उठाता हूं
वह्निः—३-३८ अग्नि
वः—३-१० तुम्हारी; ३-११, १२ तुम्हें
वा—१-३२, इत्यादि, अथवा
वाक—१०-३४ वाणी
वाक्यम्—१-२१; २-१; १७-१५ वचन, वाक्य
वाक्येन—३-२ वचन से
वाङ्मयम्—१७-१५ वाणी का, वाचिक
वाचम्—२-४२ वाणी को
वाच्यम्—१८-६७ कहने योग्य, कहना
वादः—१०-३२ (जल्प, वितंडा आदि का) वाद, जिज्ञासुओं के बीच की चर्चा
वादिनः —२-४२ बोलनेवाले
वायुः—२-६७; ७-४; ९-६; ११-३९; १५-८ वायु
वायो —६-३४ वायु का
वार्ष्णेय—१-४१; ३-३६ हे वृष्णि-कुलोत्पन्न कृष्ण
वासवः—१०-२२ इन्द्र
वासः—१-४४ निवास
वासांसि—२-२२ कपड़े, वस्त्र
वासुकिः—१०-२८ वासुकि सर्प
वासुदेवस्य—१८-७४ वासुदेव का
वासुदेवः—७-१९; १०-३७; ११-५० सर्व प्राणियों में बसने-वाले ईश्वर-कृष्ण, वासुदेव
विकम्पितुम्—२-३१ भय करने को
विकर्णः—१-८ विकर्ण राजा, दुर्योधन का भाई
विकर्मणः—४-१७ निषिद्ध कर्म का
विकारान्—१३-१९ बुद्धि इन्द्रियादि के विकारों को
विक्रान्तः—१-६ पराक्रमी
विगतकल्मष—६-२८ पापरहित हुआ
विगतज्वरः—३-३० शोकसंताप-रहित, रागरहित
विगतभीः—६-१४ भयरहित
विगतस्पृहः—२-५६; १८-४९ स्पृहा, (इच्छा) रहित, जिसने कामनाएं छोड़ दी हैं वह
विगतः—११-१ चला गया, दूर हो गया है
विगतेच्छाभयक्रोधः—५-२८ इच्छा, भय और क्रोध से रहित
विगुणः—३-३५; १८-४७ गुण-रहित
विचक्षणाः—१८-२ विचारशील

लोग, बुद्धिमान लोग

विचालयेत्—३-२६ (वह) विचलित करे, बुद्धिभेद उत्पन्न करे

विचाल्यते—६-२२; १४-२३ चलायमान होता है, डिगता है, आलोडित होता है

विचेतसः—६-१२ विवेकदृष्टि रहित—मूढ़ लोग

विजयम्—१-३२ विजय को

विजयः—१८-७८ विजय

विजानतः—२-४६ जाननेवाले ज्ञानी की, आत्मानुभवी के, ज्ञानवान (को)

विजानीतः—२-१९ (वे दो) जानते हैं

विजानीयाम्—४-४ (मैं) जानूं

विजितात्मा—५-७ शरीर के ऊपर जिसने विजय प्राप्त की है वह, जिसने अपना मन जीता है वह

विजितेन्द्रियः—६-८ जिसकी इन्द्रियां वश में हैं वह, जिसने इन्द्रियां जीती हैं वह, इन्द्रियजित्

विज्ञातुम्—११-३१ (विशेष रूप से) जानने को

विज्ञानम्—१८-४२ विशेष ज्ञान, अनुभवज्ञान, अनुभव

विज्ञानसहितम्—९-१ अनुभवज्ञानसहित, अनुभववाला

विज्ञाय—१३-१८ जानकर

वितताः—४-३२ विस्तारित, वर्णित, वर्णन किये हुए

वित्तेशः—१०-२३ कुबेर

विदधामि—७-२१ (मैं) देता हूं, करता हूं

विदितात्मनाम्—५-२६ आत्मज्ञानियों का, जिन्होंने अपने को पहचाना है उनका

विदित्वा—२-२५; ८-२८ जानकर

विदुः—४-२; ७-२९; ३०; ८-१७; १०-२; १४; १३-३४; १३-७; १८-२ (वे) जानते थे, जानते हैं

विद्धि—२-१७; ३-१५, ३२, ३७; ४-१३, ३२, ३४; ३-२; ७-५, १०, १२; १०-२४, २७; १३-२, १९, २६; १४-७, ८; १५-१२; १७-६, १२; १८-२०, २१ (तू) जान, समझ

विद्मः—२-६ (हम) जानते हैं

विद्यते—२-१६, ३१, ४०; ३-१७; ४-३८; ६-४०; ८-१६; १६-७ (वह) होता है, है

विभक्तम्—१३-१६ विभक्त
विभक्तेषु—८-२० विविधता में बंटे हुओं में
विभावसौ—७-९ अग्नि में
विभुम्—१०-१२ सर्वव्यापी (ईश्वर रूप) को
विभुः—५-१५ परमेश्वर
विभूतिभिः—१०-१६ विभूतियों द्वारा
विभूतिम्—१०-७, १८ विस्तार को, विभूति को
विभूतिमत्—१०-४१ विभूति-वाला, वैभववान
विभूतीनाम्—१०-४० विभूतियों का
विभूतेः—१०-४० विभूति का
विमत्सरः—४-२२ ईर्ष्यारहित, द्वेषरहित
विमुक्तः—९-२८; १४-२०; १६-२२ मुक्त
विमुक्ताः—१५-५ मुक्त
विमुच्य—१८-५३ छोड़कर
विमुञ्चति—१८-३५ (वह) तजता है, छोड़ता है
विमुह्यति—२-७२ (वह) मोह-ग्रस्त होता है
विमूढः—६-३८ मूढ, गड़बड़ में पड़ा हुआ, भूल में पड़ा हुआ
विमूढभावः—११-४९ विमूढ-चित्तता, परेशानी
विमूढात्मा—३-६ मूढ पुरुष
विमूढाः—१५-१० मूर्ख
विमृश्य—१८-६३ भली प्रकार से विचार करके
विमोक्षाय—१६-५ मोक्ष के लिए
विमोक्ष्यसे—४-३२ (तू) मुक्त होगा, मोक्ष प्राप्त करेगा
विमोहयति—३-४० (वह) विविध प्रकार से मोह में डालता है, मूर्च्छित करता है
विराटः—१-४, १७ मत्स्यदेश का राजा
विलग्नाः—११-२७ चिपटे हुए, लिपटे हुए
विवस्वतः—४-४ सूर्य का, विवस्वान का
विवस्वते—४-१ सूर्य को, विवस्वान को
विवस्वान्—४-१ सूर्य
विविक्तदेशसेवित्वम्—१३-१० एकांत स्थल का सेवन करने की वृत्ति
विविक्तसेवी—१८-५२ एकांत-सेवी
विविधाः—१७-२५; १८-१४ जुदी-जुदी, विविध
विविधैः—१३-४ जुदे-जुदे, विविध प्रकार के (द्वारा)

विवृद्धम्—१४-११ बढ़ा हुआ
विवृद्धे—१४-१२, १३ बढ़े हुए में, वृद्धि पाये हुए (में)
विशते—१८-५५ (वह) प्रवेश करता है
विशन्ति—८-११; ९-२१; ११-२१, २७, २८, २९; (वे) प्रवेश करते हैं
विशालम्—९-२१ विस्तीर्ण, विशाल
विशिष्टाः—१-७ मुख्य, खास-खास
विशिष्यते—३-७, ५-२; ६-९; ७-१७; १२-१२ (वह) विशेष है, श्रेष्ठ है, बढ़ जाता है, अच्छा है
विशुद्धया—१८-५१ संस्कारी—शुद्ध (द्वारा)
विशुद्धात्मा—५-७ जिसने अपने हृदय को शुद्ध किया है वह
विश्वतोमुखम्—९-१५; ११-११ विश्वव्यापक को, चारों ओर जिसके मुख हैं उसे, सर्वव्यापी को
विश्वतोमुखः—१०-३३ चारों ओर मुखवाला, सर्वव्यापी
विश्वम्—११-१९, ३८ विश्व, जगत, जगत को; ११-४७ विश्वव्यापी को
विश्वमूर्ते—११-४६ हे विश्वमूर्ति
विश्वरूपम्—११-१६ विश्वरूप को
विश्वस्य—११-१८, ३८ जगत का, विश्व का
विश्वे—११-१२ विश्वेदेव
विश्वेश्वर—११-१६ हे जगत के ईश्वर
विषमे—२-२ कठिन समय में; संकट में
विषयप्रवालाः—१५-२ विषयरूपी जिनके पल्लव—अंकुर—है वे विषयरूपी कोंपलवाली
विषयान्—२-६२, ६४; ४-२६; १५-९; १८-५१ विषयों को
विषयाः—२-५९ विषय
विषयेन्द्रियसंयोगात्—१८-३८ विषय और इंद्रियों के संयोग से—मिलाप से
विषम्—१८-३७, ३८ जहर
विषादम्—१८-३५ खिन्नता को, निराशा
विषादी—१८-२८ शोकातुर, गमगीन
विषीदन्—१-२८ खिन्न होता हुआ, खेद पाता हुआ
विषीदन्तम्—२-१, १० दुःखी को, उदास होकर बैठे हुए को
विष्टभ्य—१०-४२ व्याप्त होकर, धारण करके
विष्ठितम्—१३-१७ विशेष रूप

वेत्ता—११-३८ जाननेवाला, ज्ञाता
वेत्ति—२-१९; ४-९; ६-२१; ७-३; १०-३, ७; १३-१, २३; १४-१९; १८-२१, ३० (वह) जानता है, मानता है, अनुभव करता है
वेत्थ—४-५; १०-१५ (तू) जानता है
वेद—२-२१, २९; ७-२६; १५-१ (वह) जानता है, मानता है; ४-५; ७-२६ (मैं) जानता हूं
वेदयज्ञाध्ययनैः—११-४८ वेदों से (वेदाभ्यास से), यज्ञ से और शास्त्रों के अध्ययन से
वेदवादरताः—२-४२ वेदवादी
वेदवित्—१५-१, १५ वेद जाननेवाला, ज्ञानी
वेदविदः—८-११ वेद जाननेवाले
वेदानाम्—१०-२२ वेदों में
वेदान्तकृत्—१५-१५ वेदान्त का कर्त्ता—प्रकट करनेवाला, वेद का रहस्य प्रकट करनेवाला
वेदाः—२-४५; १७-२३ वेद
वेदितव्यम्—११-१८ जानने योग्य
वेदितुम्—१८-१ जानने के लिए
वेदेषु—२-४६; ८-२८ वेदों में
वेदे—१५-१८ वेद में, वेदों में
वेदैः—११-५३; १५-१५ वेदों द्वारा
वेद्यम्—९-१७; ११-३८ जानने योग्य
वेद्यः—१५-१५ जानने योग्य
वेपथुः—१-२९ कंपकंपी
वेपमानः—११-३५ कांपता हुआ, धूजता हुआ
वैनतेयः—१०-३० विनता का पुत्र—गरुड़
वैराग्यम्—१३-८; १८-५२ विरक्तता, वैराग्य, वैराग्य को
वैराग्येण—६-३५ वैराग्य से
वैरिणम्—३-३७ वैरी—दुश्मन को
वैश्यकर्म—१८-४४ वैश्य का कर्म
वैश्याः—९-३२ वैश्य
वैश्वानरः—१५-१४ जठराग्नि, वैश्वानर अग्नि
व्यक्तमध्यानि—२-२८ जिनका मध्यकाल प्रकट हो गया है ऐसे, जिनके बीच की स्थिति व्यक्त है ऐसे
व्यक्तयः—४-१८ स्थावर-जंगमादि भूत, व्यक्त भूत—सृष्टि
व्यक्तिम्—७-२४; १०-१४ प्रकट होना, व्यक्तता, स्वरूप
व्यतितरिष्यति—२-५२ (वह) पार उतर जायगा

शङ्खाः—१-१३ शंख
शङ्खान्—१-१८ शंखों (को)
शङ्खौ—१-१४ (दो) शंख
शठः—१८-२८ वंचक, धोखा देनेवाला, शठ
शतशः—११-५ सैकड़ों में, सैकड़ों
शत्रुत्वे—६-६ शत्रुत्व में
शत्रुम्—३-४३ शत्रु को
शत्रुवत्—६-६ शत्रु-जैसा
शत्रुः—१६-१४ शत्रु
शत्रून्—११-३३ शत्रुओं को
शत्रौ—१२-१८ शत्रु में
शनैः—६-२५ धीरे
शब्दब्रह्म—६-४४ वेद, वेदोक्त कर्म का फल, सकाम वैदिक कर्म करनेवाले की स्थिति
शब्दः—१-१३; ७-८ आवाज, ध्वनि, शब्द
शब्दादीन्—४-२६; १८-५१ शब्द आदि को, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि पाच इन्द्रियविषयों को
शमम्—११-२४ शांति को
शमः—६-३; १०-४; १८-४२ अंतर्निग्रह, शांति, शम
शरणम्—२-४९; ९-१८; १८-५२, ६६ आश्रय, शरण
शरीरम्—१३-१; १५-८ शरीर, शरीर को
शरीरयात्रा—३-८ शरीर का व्यापार—चेष्टा—स्थिति
शरीरवाङ्मनोभिः—१८-१५ शरीर, वाणी और मन द्वारा
शरीरविमोक्षणात्—५-२३ शरीर के अन्त—देहांत—के पहले
शरीरस्थम्—१७-६ शरीर में स्थित को
शरीरस्थः—१३-३१ शरीर में स्थित
शरीराणि—२-२२ देह, शरीर
शरीरिणः—२-१८ शरीरी—जीव-आत्मा का
शरीरे—१-२९; २-२०; ११-१३ शरीर में
शर्म—११-२५ सुख, शांति
शशाङ्कः—११-३९; १५-६ चंद्रमा
शशिसूर्यनेत्रम्—११-१९ चंद्र और सूर्य जिसकी आंखें हैं, उसे
शशिसूर्ययोः—७-८ चंद्र और सूर्य में, चंद्र-सूर्य की
शशी—१०-२१ चंद्रमा
शश्वत्—९-३१ शाश्वत, सनातन
शश्वच्छान्तिम्—९-३१ निरंतर सनातन शांति को
शस्त्रपाणयः—१-४६ हाथ में शस्त्रवाले
शस्त्रभृताम्—१०-३१ शस्त्र-

शुक्लपक्ष

शुचः—१६-५; १८-६६ देखो 'मा शुचः' (शोक न कर)

शुचिः—१२-१६ पवित्र

शुचीनाम्—६-४१ पवित्र (लोगों) का

शुचौ—६-११ पवित्र (में)

शुनि—५-१८ कुत्ते में

शुभान—१८-७१ शुभ (लोकों) को

शुभाशुभपरित्यागी—१२-१७ शुभ और अशुभ का त्याग करनेवाला

शुभाशुभफलैः—९-२८ अच्छे-बुरे फलवाले (के द्वारा)

शुभाशुभम्—२-५७ शुभ और अशुभ को

शूद्रस्य—१८-४४ शूद्र का

शूद्राणाम्—१८-४१ शूद्रों का

शूद्राः—९-३२ शूद्र लोग, शूद्र

शूराः—१-४, ९ शूरवीर

शृणु—२-३९; ७-१; १०-१; १३-३; १६-६; १७-२, ७; १८-४, १९, २९, ३६, ४५, ६४ (तू) सुन

शृणुयात्—१८-७१ (वह) सुने

शृणोति—२-२९ (वह) सुनता है

शृण्वतः—१०-१८ सुननेवाले को; सुनते हुए

शृण्वन्—५-८ सुनते हुए

शैब्यः—१-५ एक राजा का नाम. शिबि लोगों का राजा

शोकम्—२-८; १८-३५ शोक को

शोकसंविग्नमानसः—१-४७ शोक से व्याकुल, व्यग्रचित

शोचति—१२-१७; १८-५४ (वह) शोक करता है, चिंता करता है

शोचितुम्—२-२६, २७, ३० शोक करने को

शोषयति—२-२३ (वह) सुखाता है

शौचम्—१३-७; १६-३, ७; १७-१४; १८-४२ अंतर और बाहर की शुद्धि, शौच, पवित्रता

शौर्यम्—१८-४३ पराक्रम, शौर्य

श्यालाः—१-३४ साले

श्रद्दधानाः—१२-२० श्रद्धा रखनेवाले

श्रद्धया—६-३७; ७-२१, २२; ९-२३; १२-२; १७-१, १७ श्रद्धा द्वारा—से

श्रद्धा—१७-२, ३ श्रद्धा

श्रद्धामयः—१७-३ श्रद्धावाला, श्रद्धामय

श्रद्धावन्तः—३-३१ श्रद्धावाले

श्रद्धावान्—४-३९ ६-४७; १८-७१ श्रद्धावाला

श्रद्धाविरहितम्—१७-१३ श्रद्धा-

शून्य, श्रद्धारहित

श्रद्धाम्—७-२१ श्रद्धा को

श्रिताः—९-१२ आश्रित, आश्रय लेनेवाले

श्रीमत्—१०-४१ लक्ष्मीवाला, कांतिवाला

श्रीमताम्—६-४१ श्रीमंतों का, विभूतिमानों का, साधन-संपन्नों का

श्रीः—१०-३४; १८-७८ श्री, शोभा, लक्ष्मी

श्रुतम्—१८-७२ सुना हुआ, सुना

श्रुतवान्—१८-७५ (मैं) सुनता था, (मैंने) सुना

श्रुतस्य—२-५२ सुना हुआ

श्रुतिपरायणाः—१३-२५ सुने हुए पर श्रद्धा रखनेवाले

श्रुतिविप्रतिपन्ना—२-५३ (अनेक प्रकार के) सिद्धांत (श्रुतियां), सुनकर व्यग्र बनी हुई

श्रुतौ—११-२ सुने हुए, सुने

श्रुत्वा—२-२९; ११-३५; १३-२५ सुनकर

श्रेयः—१-३१; २-७; ३-२, ११; १६-२२ श्रेय, कल्याण; २-५, ३१; ३-३५; ५-१; १८-४७ अधिक अच्छा, श्रेयस्कर

श्रेयान्—३-३५; ४-३३; १८-४७ अच्छा, अधिक अच्छा

श्रेष्ठः—३-२१ प्रधान पुरुष, उत्तम पुरुष

श्रोतव्यस्य—२-५२ सुनने योग्य का, जिसका सुनना बाकी रहा हो उसमें, सुने हुए के विषय में

श्रोत्रम्—१५-९ कान

श्रोत्रादीनि—४-२६ कान आदि (इन्द्रियों) को

श्रोष्यसि—१८-५८ (तू) सुनेगा

श्वपाके—५-१८ कुत्तों को पकाकर खानेवाले—चांडाल में

श्वशुरान्—१-२७ श्वशुरों को

श्वशुराः—१-३४ श्वशुर

श्वसन्—५-८ श्वास लेते हुए

श्वेतैः—१-१४ धौले, सफेद (के द्वारा)

ष

षण्मासाः—८-२४, २५ छः मास

स

सक्तम्—१८-२२ आसक्त

सक्तः—५-१२ लिपटा हुआ, फंसा हुआ, आसक्त

सक्ताः—३-२५ आसक्त

सखा—४-३; ११-४१, ४४ मित्र

सखीन्—१-२६ मित्रों को, सखाओं को

सखे—११-४१ हे मित्र

सख्युः—११-४४ सखा का, मित्र का

सगद्गदम्—११-३५ गद्गद् होकर, गद्गद् कंठ से

संकरस्य—३-२४ संकर का, अव्यवस्था का, वर्णसंकर का

संकरः—१-४२ (वर्णों का) मिश्रण, संकर

संकल्पप्रभवान्—६-२४ संकल्पों से उत्पन्न हुए (कामों) को

संख्ये—१-४७; २-४ संग्राम में

संगम्—२-४८; ५-१०, ११; १८-६, ९ आसक्ति—संग को

संगरहितम्—१८-२३ आसक्ति बिना

संगवर्जितः—११-५५ (धनादि की) आसक्ति से रहित

संगविवर्जितः—१२-१८ काम-त्यागी, आसक्तिरहित

संगः—२-४७ संग, आग्रह; २-६२ आसक्ति

संगात्—२-६२ संग से, आसक्ति से

संग्रहेण—८-११ संक्षेप में

संग्रामम्—२-३३ लड़ाई, संग्राम

संघातः—१३-६ (शरीर, इंद्रिय आदि का) समुदाय, संघात

सचराचरम्—९-१० स्थावरजंगम पदार्थों को; ११-७ स्थावर-जंगमसहित (जगत) को

सचेताः—११-५१ प्रसन्नचित्त, शांत

सच्छब्दः—१७-२६ 'सत्' शब्द

सज्जते—३-२८ (वह) आसक्त होता है

सज्जन्ते—३-२९ (वे) आसक्त होते हैं, रहते हैं

संजनयन्—१-१२ उत्पन्न करता हुआ, पैदा करता हुआ

संजय—१-२ हे संजय

संजयति—१४-९ उत्पन्न करता है, संयोग करता है, आसक्त करता हैं

संजयः—१-२, २४, ४७; २-१, ९; ११-९, ३५, ५०; १८-७४ संजय

संजायते—२-६२; १३-२६; १४-१७ उत्पन्न होता है

संज्ञार्थम्—१-७ नाम (जानने) के लिए, जानकारी के लिए

सत्—९-१९; ११-३७; १३-१२; १७-२३, २६, २० ईश्वर का नाम, सत्

सततयुक्तानाम्—१०-१० (मुझमें) सतत तन्मय रहनेवालों का

सततयुक्ताः—१२-१ अहर्निश समाहित रहते हुए, निरन्तर ध्यान करते हुए

सततम्—३-१९; ६-१०; ८-१४; ९-१४; १२-१४; १७-२४;

१८-५७ निरंतर, सदा, हमेशा
सतः—२-१६ सत का
सति—१८-१६ होने पर, होते हुए भी
सत्कारमानपूजार्थम्—१७-१८ सत्कार, मान और पूजा के निमित्त—प्राप्त करने के लिए
सत्त्वम्—१०-३६; १४-५, ६, ९, १०, ११; १७-१ सत्त्व, सत्त्व-गुण; १०-४१; १३-२६; १८-४० वस्तु, पदार्थ, प्राणी
सत्त्ववताम्—१०-३६ सात्त्विक पुरुषों का, सात्त्विक भावना-वालों का
सत्त्वसमाविष्टः—१८-१० आत्मा-अनात्मा का विवेक करनेवाला, शुद्ध भावनावाला
सत्त्वसंशुद्धिः—१६-१ अंतःकरण की निर्मलता—शुद्धि
सत्त्वस्थाः—१४-१८ सात्त्विक (वृत्तिवाले), सत्त्वगुण से युक्त
सत्त्वात्—१४-१७ सत्त्वगुण से
सत्त्वानुरूपी—१७-३ अंतःकरण—स्वभाव के अनुसार, प्रकृति—स्वभाव का अनुसरण करने-वाली
सत्त्वे—१४-१४ सत्त्वगुण में
सत्यम्—१०-४; १८-२७; १७-१५ जैसा सुना, देखा, अनुभव किया हो वैसा कहना, सत्य; १८-६५ सत्य, सचमुच
सदसत्—११-३७ सत् (व्यक्त) और असत् (अव्यक्त)
सदसद्योनिजन्मसु—१३-२१ अच्छी-बुरी योनि में जन्म की बाबत (जन्म मिलने का)
सदा—५-२८; ६-१५, २८; ८-६; १०-१७; १८-५६ हमेशा, सदा, निरंतर
सदृशम्—३-३३ (के) जैसा, अनु-सार; ४-३८ (के) समान
सदृशः—१५-१६ के जैसा, समान
सदृशी—११-१२ के जैसी, समान
सदोषम्—१८-४८ दूषित, दोष-वाला
सद्भावे—१७-२६ अस्तित्व भाव में—जैसे पुत्र न हो, वहां पुत्र हो, इस भाव में, सत्य या अस्तित्व के अर्थ में
सन्—(अपि) ४-६ होते हुए
सनातनम्—४-३१; ७-१० सना-तन, शाश्वत
सनातनः—२-२४; ८-२०; ११-१८; १५-७ प्राचीन, अनादि, सनातन
सनातनाः—१-४० सनातन
संतरिष्यसि—४-३६ (तू) तर जायगा

सन्तः—३-१३ सत्पुरुष, संत, वे होते हैं

संतुष्टः—३-१७; १२-१४, १६ संतोष पाया हुआ, तृप्त

संदृश्यन्ते—११-२७ (वे) दिखाई देते हैं

संनियम्य—१२-४ संयम करके, वश में रखकर

संनिविष्टः—१५-१५ प्रवेश करके, रहा हुआ

संन्यसनात्—३-४ (बाह्य) त्याग से

संन्यस्य—३-३०; ५-१३; १२-६; १८-५७ त्यागकर; अर्पण करके

संन्यासयोगयुक्तात्मा—९-२८ अर्पणरूप संन्यास और कर्मरूप योग—अथवा कर्मसंन्यासरूपी योग—से समाहित हुआ, फलत्यागरूपी समत्व को पाया हुआ

संन्यासस्य—१८-१ संन्यास का

संन्यासम्—५-१; ६-२; १८-२ सर्वथा त्याग को, कर्मों के त्याग को, संन्यास को

संन्यासः—५-२, ६; १८-७ (कर्मों का) त्याग; संन्यास

संन्यासिनाम्—१८-१२ संन्यासियों का, त्यागियों का

संन्यासी—६-१ सर्वकर्मत्यागी, संन्यासी

संन्यासेन—१८-४९ संन्यास द्वारा

सपत्नान्—११-३४ शत्रुओं को

सप्त—१०-६ सात (ऋषि-भृगु वशिष्ठ, मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु)

समक्षम्—११-४२ उपस्थिति में, सोहबत में, जाहिर में

समग्रम्—४-२३; ११-३० सब, सर्व, सारा, सारे को; ७-१ संपूर्ण को, संपूर्णरूप से

समग्रान्—११-३० सब (को)

समचित्तत्वम्—१३-९ समचित्तता, समानता, समभाव

समता—१०-५ समचित्तता, समता, बराबरीपना

समतीतानि—७-२६ बीते हुए (को)

समतीत्य—१४-२६ लांघकर, पार करके

समत्वम्—२-४८ समानता, समता

समदर्शनः—६-२९ समान देखनेवाला, समभाव रखनेवाला

समदर्शिनः—५-१८ समान भाव रखनेवाले, समदृष्टि रखते हैं

समदुःखसुखम्—२-१५ सुख-दुःख में सम रहनेवाले (को)

समदुःखसुखः—१२-१४; १४-२४ जिसे सुख-दुःख समान है ऐसा,

सुख-दुःख के बारे में समान
समधिगच्छति—३-४ पाता है, प्राप्त करता है
समन्ततः—६-२४ चारों ओर से, सब दिशाओं से
समन्तात्—११-१७, ३० चारों ओर, सब दिशाओं में
समबुद्धयः—१२-४ समान बुद्धि-वाले, समदर्शी
समबुद्धिः—६-९ सम भाववाला, समान भाव रखनेवाला
समम्—५-१९ समभावी; ६-१३ समरेखा में; ६-३२; १३-२७, २८ समान रीति से, समान भाव से
समलोष्टाश्मकाञ्चनः—६-८; १४-२४ जिसे मिट्टी का ढेला, पत्थर और सोना समान है ऐसा
समवस्थितम—१३-२८ समभाव से रहनेवाले को
समवेतान्—१-२५ इकट्ठे हुओं (को)
समवेताः—१-१ इकट्ठे हुए
समः—२-४८; ४-२२; ९-२९; १२-१८; १८-५४ समान भाववाला, समान, तटस्थ, समतावाला
समागताः—१-२३ इकट्ठे हुए
समाचर—३-९, १९ (तू) अच्छी तरह कर, बरत, (कर्म) कर
समाचरन्—३-२६ करता हुआ, अच्छी तरह (कर्म) करता हुआ
समाधातुम्—१२-९ स्थापित करने के लिए, समाहित करने के लिए
समाधाय—१७-११ निश्चित करके, स्थिर करके, पिरोकर
समाधिस्थस्य—२-५४ स्थिरचित्त योगी की, समाधिस्थ की
समाधौ—२-४४, ५३ समाधि में समाधि के बारे में
समाप्नोषि—११-४० (तू) व्याप्त है, धारण करता है
समारम्भाः—४-१९ आरंभ
समासतः—१३-१८ थोड़े में, संक्षेप में
समासेन—१३-३, ६; १८-५० संक्षेप में, थोड़े में
समाहर्तुम्—११-३२ नाश करने को, संहार करने को
समाहितः—६-७ सम-स्थिर रहा हुआ,—रहता है, एक समान
समाः—६-४१ संवत्सर
समितिञ्जयः—१-८ युद्ध में जय प्राप्त करनेवाला
समिद्धः—४-३७ सुलगा हुआ, प्रज्वलित

समीक्ष्य—१-२७ ध्यानपूर्वक देखकर
समुद्रम्—२-७०; ११-२८ सागर को
समुद्धर्ता—१२-७ बचानेवाला, उद्धार करनेवाला
समुपस्थितम्—१-२८ इकट्ठा हुए (को); २-२ उत्पन्न हुआ, उपस्थित हुआ
समुपाश्रितः—१८-५२ आश्रय लेकर रहनेवाला, आश्रय लिया हुआ
समृद्धवेगाः—११-२९, २९ बढ़ते जाते वेगवाले (होकर), बढ़ते हुए वेग में
समृद्धम्—११-३३ समृद्धिवाला, धन-धान्य से भरा हुआ
समे—२-३८ समान (दो)
समौ—५-२७ समान, समभावी, एक समान (दो)
संपत्—१६-५ संपत्ति
संपदम्—१६-३, ४, ५ संपत्ति को
संपद्यते—१३-३० होती है
संपश्यन्—३-२० देखकर,—का विचार करते हुए
संप्रकीर्तितः—१८-४ वर्णन किया गया है, कहा गया है
संप्रतिष्ठा—१५-३ पाया, नींव
संप्रवृत्तानि—१४-२२ प्राप्त होने पर, आ जाने पर
संप्रेक्ष्य—६-१३ अच्छी तरह निगाह डालकर, नजर टिकाकर, देखकर
संप्लुतोदके—२-४६ सरोवर में (से)
संबन्धिनः—१-३४ सगे-संबंधी
संभवन्ति—१४-४ (वे) उत्पन्न होते हैं
संभवः—१४-३ उत्पत्ति
संभवामि—४-६, ८ (मैं) जन्म लेता हूं
संभावितस्य—२-३४ प्रतिष्ठित का, मान पाये हुए का (को)
संमोहम्—७-२७ मूर्च्छा को
संमोहः—२-६३ अविवेक, मूढ़ता
संमोहात्—२-६३ संमोह से, मूढ़ता से
सम्यक्—५-४; ८-१०; ९-३० भली प्रकार से
सरसाम्—१०-२४ सरोवरों में
सर्गः—५-१९ संसार, जन्म
सर्गाणाम्—१०-३२ सृष्टियों में
सर्गे—७-२७ सृष्टि में, जगत में, १४-२ उत्पत्तिकाल में
सर्पाणाम्—१०-२८ सर्पों में
सर्व—११-४० हे सर्वरूप (ईश्वर)
सर्वकर्मणाम्—१८-१३ सब कर्मों की, कर्ममात्र की
सर्वकर्मफलत्यागम्—१२-११; १८-२ सब कर्मों के फल-

प्राणिमात्र के हित में

सर्वभूतात्मभूतात्मा—५-७ सर्व प्राणियों को अपने-जैसा मानने वाला, सम्यग्दर्शी, समदर्शी

सर्वभूतानाम्—२-६९; ५-२९; ७-१०; १०-३९; १२-१३; १४-३; १८-६१ सब प्राणियों का भूतमात्र का

सर्वभूतानि—९-२९; १८-६१ भूतमात्र को, प्राणीमात्र को, ७-२७; ९-४, ७ भूतमात्र, सर्व प्राणी

सर्वभूताशयस्थितः—१०-२० सब प्राणियों के हृदय मे रहा हुआ

सर्वभूतेषु—३-१८; ७-९; ९-२९; ११-५५; १८-२० भूतमात्र में

सर्वभृत्—१३-१४ सब का पोषण-कर्त्ता, धारण करनेवाला

सर्वम्—२-१७; ४-३३, ३६; ६-३०; ७-७, १३, १९; ८-२२, २८; ९-४; १०-८, १४; ११-४०; १३-१३; १८-४६ सब, सारा, सब को, सारे को

सर्वयज्ञानाम्—९-२४ सब यज्ञों का

सर्वयोनिषु—१४-४ सब योनियों में

सर्वलोकमहेश्वरम्—५-२९ सब लोकों के महेश्वर (को)

सर्ववित्—१५-१९ सर्वज्ञ, सब कुछ जाननेवाला

सर्ववृक्षाणाम्—१०-२६ सब पेड़ों में

सर्ववेदेषु—७-८ सब वेदों में

सर्वशः—१-१८ सबने; २-५८, ६८ सब ओर से; ३-२३, २७; ४-११; १०-२; १३-२९ सबों ने, सर्व प्रकार से

सर्वसंकल्पसंन्यासी—६-४ सब संकल्पों का त्याग करनेवाला

सर्वस्य—२-३०; ७-२५; ८-९; १०-८; १३-१७; १५-१५; १७-३, ७ सब का (—को)

सर्वहरः—१०-३४ सब का संहार-कर्ता, सबको हरण करनेवाला

सर्वः—३-५; ११-४० सर्व, सारे

सर्वाणि—२-३०, ६१; ३-३०; ४-५; २७; ७-६; ९-६; १५-१६ सब, सबों को

सर्वान्—१-२७; २-५५, ७१; ४-३२; ६-२४; ११-१५ सब को

सर्वारम्भपरित्यागी—१२-१६; १४-२५ सब आरंभ का त्याग करनेवाला, संकल्पमात्र का जिसने त्याग किया है वह

सर्वारम्भाः—१८-४८ सब कर्म

सर्वार्थान्—१८-३२ सब वस्तुओं को

सर्वाश्चर्यमयम्—११-११ सब प्रकार से आश्चर्यमय को

संवादम्—१८-७०, ७४, ७६ संवाद को
संवृत्तः—११-५१ शांत हुआ—हुआ हू
संशयम्—४-४२; ६-३९ संशय को
संशयस्य—६-३९ संशय का
संशयः—८-५; १०-७; १२-८ शंका, संशय
संशयात्मनः—४-४० शंकाशील का
संशयात्मा—४-४० शंकाशील
संशितव्रताः—४-२८ तीक्ष्ण व्रत करनेवाले, कठिन व्रतधारी
संशुद्धकिल्बिषः—६-४५ जिसके पाप धुल गये हैं वह, पापमुक्त
संश्रिताः—१६-१८—का आश्रय लेनेवाले
संसारेषु—१६-१९ संसार में, लोक में
संसिद्धिम्—३-२०; ८-१५; १८-४५ ज्ञान को, मोक्ष को, परम सिद्धि को
संसिद्धौ—६-४३ मोक्ष के लिए, परम सिद्धि के लिए
संस्तभ्य—३-४३ स्थिर करके वश में करके
संस्पर्शजा—५-२२ विषयेन्द्रिय-संबंध से होनेवाले, विषयजन्य
संस्मृत्य—१८-७६, ७७ याद करके
संहरते—२-५८ (वह) समेट लेता है, इकट्ठा कर लेता है

सः—१-१३, इ० वह
सा—२-६९; ६-१९; ११-१२; १७-२; १८-३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५ वह (स्त्रीलिंग)
साक्षात्—१८-७५ स्वयं, प्रत्यक्ष
साक्षी—९-१८ कृताकृत को देखने-वाला, साक्षी
सागरः—१०-२४ समुद्र
सात्त्विकप्रियाः—१७-८ सात्त्विक लोगों को प्रिय
सात्त्विकम्—१४-१६; १७-२०; १८-२०, २३, ३७ सात्त्विक; सत्त्वगुणयुक्त
सात्त्विकः—१७-११; १८-९, २६ सात्त्विक
सात्त्विकाः—७-१२ सात्त्विक, सत्त्वगुणात्मक; १७-४ सात्त्विक लोग
सात्त्विकी—१७-२; १८-३०, ३३ सात्त्विक, सत्त्वगुणात्मक
सात्यकिः—१-१७ एक यादव, युयुधान, श्रीकृष्ण का सारथि
साधर्म्यम्—१४-२ समान भाव को, सरूपता को
साधिभूताधिदैवम्—७-३० अधि-भूत—पंचमहाभूतों और अधि-दैव—देवसहित को
साधियज्ञम्—७-३० अधियज्ञवाले को

सुकृतस्य—१४-१६ सत्कर्म का, अच्छी तरह किये हुए का
सुकृतम्—५-१५ पुण्य
सुकृतिनः—७-१६ अच्छे काम करनेवाले, सदाचारी
सुखदुःखे—२-३८ सुख और दुःख में
सुखदुःखसंज्ञैः—१५-५ सुख-दुःख नाम से पहचाने जानेवाले (के द्वारा)
सुखदुःखानाम्—१३-२० सुख-दुःखों का
सुखम्—२-६६; ४-४०; ५-२१; ६-२१, २७, २८, ३२; १०-४; १३-६; १६-२३; १८-३६, ३७, ३८, ३९ सुख, सुख को; ५-३ सरलता से ५-१३ सुख से, सुख में
सुखसङ्गेन—१४-६ सुख के संबंध से, सुख के साथ
सुखस्य—१४-२७ सुख का
सुखानि—१-३२, ३३ सुख, सुखों को
सुखिनः—१-३७; २-३२ सुखी, भाग्यशाली (लोग)
सुखी—५-२३; १६-१४ सुखी
सुखे—१४-९ सुख में
सुखेन—६-२८ सुख से, सहजता से, अनायास
सुखेषु—२-५६ सुखों में
सुघोषमणिपुष्पकौ—१-१६ सुघोष और मणिपुष्पक नामक नकुल और सहदेव के शंख
सुदुराचारः—९-३० अत्यंत दुराचारी
सुदुर्दर्शम्—११-५२ बहुत कठिनाई से देखा जा सके ऐसा, बहुत दुर्लभ दर्शनवाला
सुदुर्लभः—७-१९ कठिनाई से मिलनेवाला, बहुत दुर्लभ
सुदुष्करम्—६-३४ अत्यन्त कठिनाई से किया जा सकने योग्य
सुनिश्चितम्—५-१ ठीक निश्चयपूर्वक, अच्छी तरह से निश्चय करके
सुरगणाः—१०-२ देवों के संघ, देव
सुरसंघाः—११-२१ देवों के समुदाय, संघ
सुराणाम्—२-८ देवों का
सुरेन्द्रलोकम्—९-२० स्वर्ग को, देवलोक को, इंद्रलोक को
सुलभः—८-१४ सहज, मिलने-जैसा
सुविरूढमूलम्—१५-३ गहराई तक गई हुई जड़ोंवाले
सुसुखम्—९-२ सुख देनेवाला, सहल
सुहृत्—९-१८ हितेच्छु, मित्र
सुहृदम्—५-२९ हित करनेवाले (को)

स्त्रियः—९-३२ स्त्रियां
स्त्रीषु—१-४१ स्त्रियों में
स्थाणुः—२-२४ स्थिर
स्थानम्—५-५; ८-२८; ९-१८; १८-६२ पद, स्थिति, स्थान
स्थाने—११-३६ योग्य है, उचित स्थान पर है
स्थापय—१-२१ खड़ा रखो
स्थापयित्वा—१-२४ स्थापन करके, खड़ा रखकर
स्थावरजङ्गमम्—१३-२६ अचर और चर, स्थावर-जंगम
स्थावराणाम्—१०-२५ स्थिर वस्तुओं में, स्थावरों में
स्थास्यति—२-५३ (वह) स्थिर होगा—रहेगा
स्थितप्रज्ञस्य—२-५४ स्थिर बुद्धि-वाले की स्थितप्रज्ञ की
स्थितप्रज्ञः—२-२५ स्थितप्रज्ञ
स्थितधीः—२-५४, ५६ स्थिर बुद्धिवाला
स्थितम्—५-१९; १३-१६; १५-१० रहा हुआ, स्थिर
स्थितः—५-२०; ६-१०, १४, २१, २२; १०-४२; १८-७३ रहा हुआ, स्थिर
स्थितान्—१-२६ खड़े हुए (को)
स्थिताः—५-१९ स्थिर, स्थिर हुए हैं
स्थितिम्—९-३३ स्थिति को
स्थितिः—२-७२ निष्ठा, स्थिति; १७-२७ दृढ़ता, स्थिरता, स्थिर भावना
स्थितौ—१-१४ बैठे हुए (दो)
स्थित्वा—२-७२ रहकर, स्थिर होकर
स्थिरबुद्धिः—५-२० स्थिर बुद्धि-वाला
स्थिरम्—६-११; १२-९ स्थिर अचल
स्थिरमतिः—१२-१९ स्थिर बुद्धि-वाला
स्थिरः—६-१३ स्थिर
स्थिराम्—६-३३ स्थिर (को)
स्थिराः—१७-८ पौष्टिक
स्थैर्यम्—१३-७ स्थिरता
स्निग्धाः—१७-८ स्निग्ध, चिकना-हटवाले, चिकने
स्पर्शनम्—१५-९ स्पर्शेन्द्रिय, त्वचा
स्पर्शान्—५-२७ इन्द्रियों के विषयोंवाले स्पर्श को, विषयभोगों को
स्पृशन्—५-८ छूता हुआ, स्पर्श करता हुआ
स्पृहा—४-१४; १४-१२ तृष्णा, लालसा, इच्छा
स्म—२-३ निषेधवाची 'मा' के साथ आनेवाला अतिरिक्त

पूर्वसंस्कार से उत्पन्न, स्वभाव-जन्य, स्वाभाविक
स्वभावजा—१७-२ स्वभाव के साथ जन्मी हुई, स्वभाव-सहज, स्वभावत:
स्वभावजेन—१८-६० स्वभाव-जन्य (द्वारा)
स्वभावनियतम्—१८-४७ स्व-भावसिद्ध, स्वभावानुरूप
स्वभावप्रभवैः—१८-४१ स्वभाव-जन्य—प्रकृति से उत्पन्न हुए (गुणों के द्वारा)
स्वभाव:—५-१४; ८-३ आत्मा का मूल स्वरूप, प्रकृति
स्वम्—६-१३ अपना
स्वयम्—४-३८; १०-१३, १५; १८-७५ अपने आप, खुद
स्वया—७-२० अपनी (प्रकृति द्वारा)
स्वर्गतिम्—९-२० स्वर्ग की गति को, स्वर्गप्राप्ति को
स्वर्गद्वारम्—२-३२ स्वर्ग का दरवाजा
स्वर्गपरा:—२-४३ स्वर्ग को श्रेष्ठ माननेवाले
स्वर्गम्—२-३७ स्वर्ग को
स्वर्गलोकम्—९-२१ स्वर्गलोक को
स्वल्पम्—२-४० थोड़ा, यत्किंचित् (पालन)
स्वस्ति—११-२१ भला हो, कल्याण हो
स्वस्थ:—१४-२४ आत्मस्थ, स्वस्थ
स्वस्या:—३-३३ अपनी
स्वाध्यायज्ञानयज्ञा:—४-२८ वेदाभ्यास और शास्त्रज्ञानरूपी यज्ञ करनेभाले, स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञ करनेवाले
स्वाध्याय:—१६-१ वेदादि का अभ्यास, स्वाध्याय
स्वाध्यायाभ्यसनम्—१७-१५ वेदों का, धर्मग्रन्थों का अभ्यास
स्वाम्—४-६; ९-८ अपनी (प्रकृति) को
स्वे—१८-४५ अपने में
स्वेन—१८-६० अपने (द्वारा)

ह

ह—२-९ एक उपपद है
हतम्—२-१९ मारे हुए (को)
हत:—२-३७; १६-१४ मारा हुआ
हतान्—११-३४ मारे हुओं को
हत्वा—१-३१, ३६, ३७; २-५, ६; १८-१७ मारकर, हनन करके
हनिष्ये—१६-१४ (मैं) मारूंगा
हन्त—१०-१९ अब, अच्छा
हन्तारम्—२-१९ मारनेवाले (को)

हन्ति—२-१६, २१; १८-१७ (वह) मारता है, हनन करता है
हन्तुम्—१-३५, ३७, ४५ मारने को
हन्यते—२-१६, २० (वह) मारा जाता है, हनन किया जाता है
हन्यमाने—२-२० हनन होने पर, नाश होने पर, नाश होने से
हन्युः—१-४६ (वे) मारें, मार डालें
हयैः—१-१४ घोड़ों द्वारा
हरति—२-६७ (वह) हरण कर लेता है, खींच ले जाता है
हरन्ति—२-६० (वे) हर लेते हैं
हरिः—११-६ कृष्ण
हरेः—१८-७७ हरि का, कृष्ण का
हर्षशोकान्वितः—१८-२७ हर्ष और शोक से घिरा हुआ, हर्ष और शोकवाला
हर्षम्—१-१२ आनन्द (को) हर्ष (को)
हर्षामर्षभयोद्वेगैः—१२-१५ हर्ष, अमर्ष (क्रोध), भय और उद्वेग से
हविः—४-२४ वलि, हवन की वस्तु
हस्तात्—१-३० हाथ से
हस्तिनि—५-१८ हाथी में
हानिः—२-६५ नाश
हि—१-११ इत्यादि, एक पादपूरक उपपद; सचमुच, कारण कि; 'पर' के अर्थ में भी कभी-कभी उपयोग में आता है
हितकाम्यया—१०-१ हितेच्छा से, हित के लिए
हितम्—१८-६४ लाभ, हित
हित्वा—२-३३ छोड़कर, खोकर
हिनस्ति—१३-२८ (वह) नाश करता है, घात करता है
हिमालयः—१०-२५ हिमालय पर्वत
हिंसात्मकः—१८-२७ हिंसक स्वभाववाला, हिंसावान
हिंसाम्—१८-२५ हिंसा पर-पीडन को
हुतम्—४-२४ होमा हुआ; ९-१६ हवन, हवनद्रव्य; १७-२८ हवन किया हुआ, यज्ञ
हृतज्ञानाः—७-२० जिनका ज्ञान हरा गया है वे
हृत्स्थम्—४-२२ हृदय में रहे हुए
हृदयदौर्बल्यम्—२-३ हृदय की दुर्बलता
हृदयानि—१-१९ हृदयों को
हृदि—८-१२; १३-१७; १५-१५ हृदय में
हृद्देशे—१८-६१ हृदयस्थान में, हृदय में

हृद्याः—१७-८ हृदय को प्रिय, मन को प्रिय लगें ऐसे
हृषितः—११-४५ आनंदित
हृषीकेश—११-३६; १८-१ हे इंद्रियों के ईश—कृष्ण
हृषीकेशम्—१-२१; २-६ हृषीकेश को
हृषीकेश.—१-१५, २४; २-१० कृष्ण
हृष्टरोमा—११-१४ रोमांचित
हृष्यति—१२-१७ (वह) हर्षित होता है
हृष्यामि—१८-७६, ७७ (मैं) हर्षित होता हूं, प्रसन्न होता हूं
हे—११-४१ हे, संबोधनार्थक उपपद
हेतवः—१८-१५ कारण, हेतु
हेतुना—९-१० हेतु से, कारण से
हेतुमद्भिः—१३-४ कार्यकारण के हेतुवाले (के द्वारा), युक्तिवाले (के द्वारा), उदाहरण तर्क (के द्वारा)
हेतुः—१३-२० कारण, हेतु
हेतोः—१-३५ कारण से, हेतुसे
ह्रियते—६-४४ (वह) खिंचता है
ह्रीः—१६-२ अकार्य में लज्जा, मर्यादा, व्रीड़ा
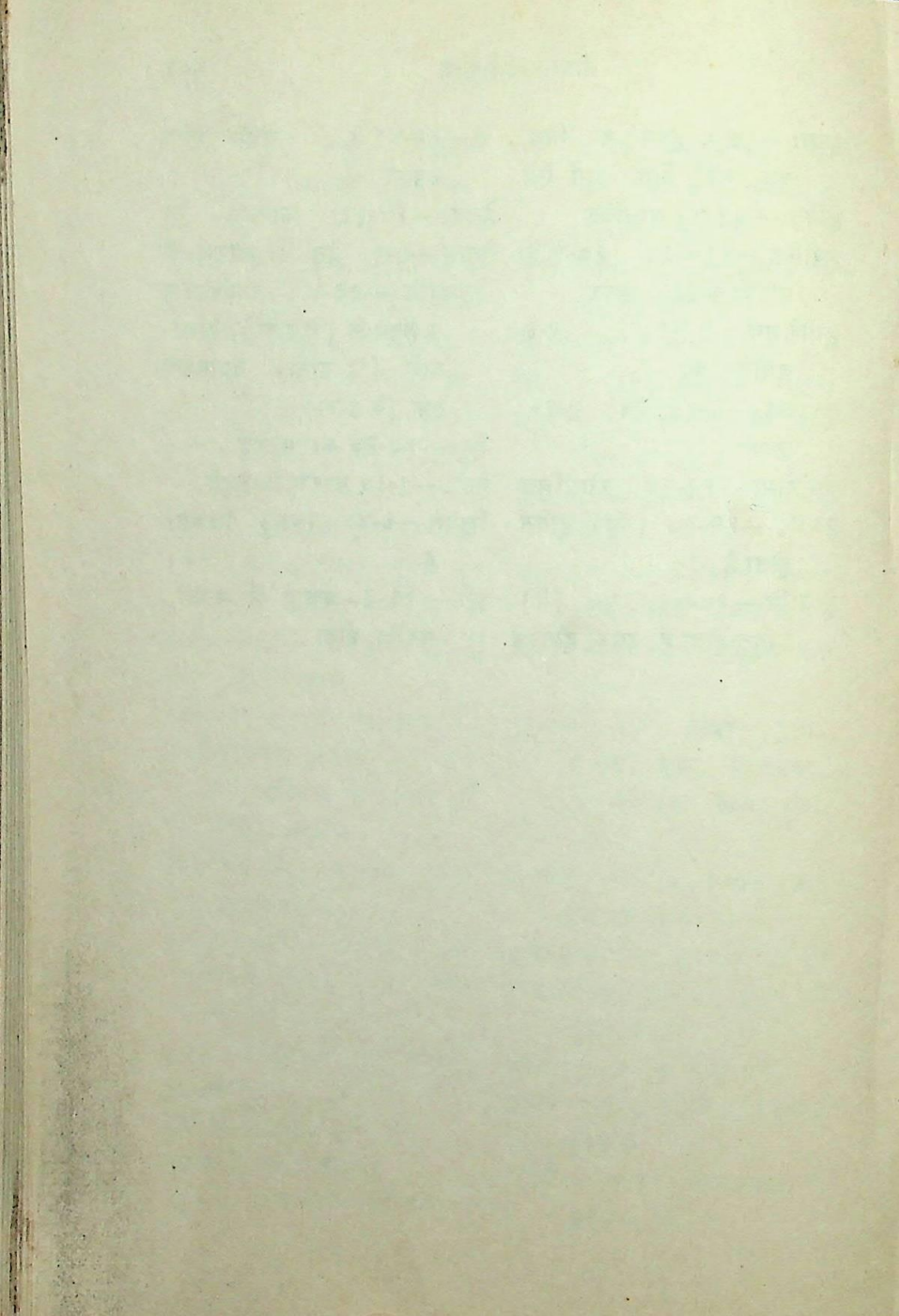
गीता-माता

[गीता-संबंधी विविध विचार]
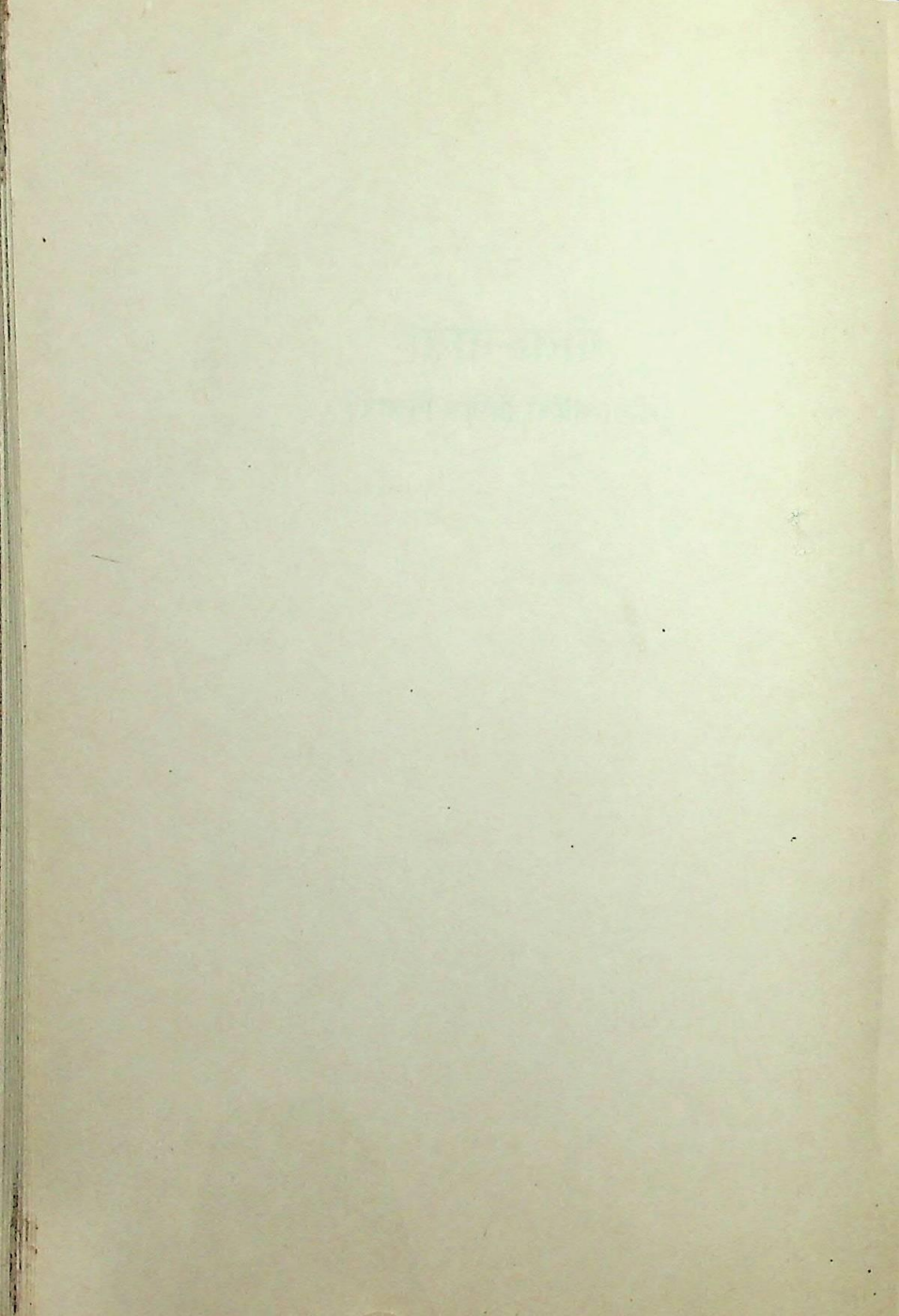
गीता की महिमा

: १ :

गीता-माता

गीता शास्त्रों का दोहन है। मैंने कहीं पढ़ा था कि सारे उपनिषदों का निचोड़ उसके ७०० श्लोकों में आ जाता है। इसलिए मैंने निश्चय किया कि कुछ न हो सके तो भी गीता का ज्ञान प्राप्त कर लूं। आज गीता मेरे लिए केवल बाइबिल नहीं है, केवल कुरान नहीं है, मेरे लिए वह माता हो गई है। मुझे जन्म देनेवाली माता तो चली गई, पर संकट के समय गीता-माता के पास जाना मैं सीख गया हूं। मैंने देखा कि जो कोई इस माता की शरण जाता है, उसे ज्ञानामृत से वह तृप्त करती है।

कुछ लोग कहते हैं कि गीता तो महा गूढ़ ग्रंथ है। स्व० लोकमान्य तिलक ने अनेक ग्रंथों का मनन करके पंडित की दृष्टि से उसका अभ्यास किया और उसके गूढ़ अर्थों को वे प्रकाश में लाये। उसपर एक महाभाष्य की रचना भी की। तिलक महाराज के लिए यह गूढ़ ग्रंथ था; पर हमारे जैसे साधारण मनुष्य के लिए वह गूढ़ नहीं है। सारी गीता का वाचन आपको कठिन मालूम हो तो आप पहले केवल तीन अध्याय पढ़ लें। गीता का सब सार इन तीन अध्यायों में आ जाता है। बाकी के अध्याय में वही बात अधिक विस्तार से और अनेक दृष्टियों से सिद्ध की गई है। यह भी किसी को कठिन मालूम हो तो इन तीन अध्यायों में से कुछ ऐसे श्लोक छांटे जा सकते हैं[1], जिनमें गीता

---

१. गांधीजी ने स्वयं चुने हुए श्लोकों का एक संग्रह 'गीता प्रवेशिका' के नाम से किया था, जो इस पुस्तक में पृष्ठ २५१ पर छपा है।

का निचोड़ आ जाता है। तीन जगहों पर तो गीता में यह भी आता है कि सब धर्मों को छोड़कर तू केवल मेरी ही शरण ले। इससे अधिक सरल और सादा उपदेश क्या हो सकता है ? जो मनुष्य गीता में से अपने लिए आश्वासन प्राप्त करना चाहे तो उसे उसमें तो वह पूरा-पूरा मिल जाता है। जो मनुष्य गीता का भक्त होता है, उसके लिए निराशा की कोई जगह नहीं है, वह हमेशा आनंद में रहता है।

पर इसके लिए बुद्धिवाद नहीं, बल्कि अव्यभिचारिणी भक्ति चाहिए। अबतक मैंने एक भी ऐसे आदमी को नहीं जाना, जिसने गीता का अव्यभिचारिणी भक्ति से सेवन किया हो और जिसे गीता से आश्वासन न मिला हो। तुम विद्यार्थी लोग कहीं परीक्षा में फेल हो जाते हो तो निराशा के सागर में डूब जाते हो। गीता निराश होनेवालों को पुरुषार्थ सिखाती है, आलस्य और व्यभिचार का त्याग बताती है। एक वस्तु का ध्यान करना, दूसरी चीज बोलना और तीसरे को सुनना इसको व्यभिचार कहते हैं। गीता सिखाती है कि पास हो या फेल, दोनों चीज़ें समान हैं। मनुष्यों को केवल प्रयत्न करने का अधिकार है, फल पर कोई अधिकार नहीं। यह आश्वासन मुझे कोई नहीं दे सकता, वह तो अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होता है। सत्याग्रही की हैसियत से मैं कह सकता हूं कि इसमें से नित्य ही मुझे कुछ-न-कुछ नई वस्तु मिलती रहती है। कोई मुझे कहेगा कि यह तुम्हारी मूर्खता है तो मैं उसे कहूंगा कि मैं अपनी इस मूर्खता पर अटल रहूंगा। इसलिए सब विद्यार्थियों से मैं कहूंगा कि सवेरे उठकर तुम इसका अभ्यास करो। तुलसीदास का मैं भक्त हूं; पर तुम लोगों को इस समय मैं तुलसीदास नहीं सुझाता हूँ।

विद्यार्थी की हैसियत से तुम गीता का ही अभ्यास करो, पर द्वेष-भाव से नहीं, भक्ति-भाव से। तुम उसमें भक्तिपूर्वक प्रवेश करोगे तो जो तुम्हें चाहिए वह उसमें से मिलेगा। अठारहों अध्याय कंठ करना कोई खेल नहीं है, पर करने जैसी चीज़ तो है ही। तुम एक बार उसका आश्रय लोगे तो देखोगे कि दिनों-दिन उसमें तुम्हारा अनुराग बढ़ेगा। फिर तुम कारागृह में हो या जंगल में, आकाश में हो या अंधेरी कोठरी में, गीता का रटन तो निरंतर तुम्हारे हृदय में चलता ही रहेगा और उसमें से तुम्हें आश्वासन मिलेगा। तुमसे यह आधार तो कोई छीन ही नहीं सकता। इसके रटन में जिसका प्राण जायगा, उसके लिए तो वह सर्वस्व ही है; केवल निर्वाण नहीं, बल्कि ब्रह्म-निर्वाण है।

: २ :

गीता से प्रथम परिचय

विलायत में रहते हुए कोई एक साल हुआ होगा, इस बीच दो थियोसाफिस्ट मित्रों से मुलाकात हुई। दोनों सगे भाई थे और अविवाहित थे। उन्होंने मुझसे गीता की बात चलाई। उन दिनों ये एडविन आरनॉल्ड-कृत गीता के अंग्रेजी अनुवाद को पढ़ रहे थे, पर मुझे उन्होंने अपने साथ संस्कृत में गीता पढ़ने के लिए कहा। मैं लज्जित हुआ, क्योंकि मैंने तो गीता न संस्कृत में, न भाषा में ही पढ़ी थी। मुझे उनसे यह बात झेंपते हुए कहनी पड़ी; पर साथ यह भी कहा कि मैं आपके साथ पढ़ने के लिए तैयार हूं। यों तो मेरा संस्कृत-ज्ञान नहीं के बराबर है, फिर भी

मैं इतना समझ सकूंगा कि अनुवाद कहीं गड़बड़ होगा तो वह बता सकूं। इस तरह इन भाइयों के साथ मेरा गीता-वाचन आरंभ हुआ। दूसरे अध्याय के अंतिम श्लोकों में :

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥[१]

इन श्लोकों का मेरे दिल पर गहरा असर हुआ। बस कानों में उनकी ध्वनि दिन-रात गूंजा करती। तब मुझे प्रतीत हुआ कि भगवद्गीता तो अमूल्य ग्रंथ है। यह धारणा दिन-दिन अधिक दृढ़ होती गई और अब तो तत्त्व ज्ञान के लिए मैं उसे सर्वोत्तम ग्रंथ मानता हूं। निराशा के समय इस ग्रंथ ने मेरी अमूल्य सहायता की है। यों इसके लगभग तमाम अंग्रेजी अनुवाद मैं पढ़ गया हूं; परन्तु एडविन आरनॉल्ड का अनुवाद सबमें श्रेष्ठ मालूम होता है। उन्होंने मूल ग्रंथ के भावों की अच्छी रक्षा की है और तिसपर भी वह अनुवाद जैसा नहीं मालूम होता। फिर भी यह नहीं कह सकते कि इस समय मैंने भगवद्गीता का अच्छा अध्ययन कर लिया है। उसका रोजमर्रा पाठ तो वर्षों बाद शुरू हुआ।

'आत्मकथा,' नवां संस्करण
पृष्ठ ७१

---

१. विषय का चिंतन करने से पहले तो उसके साथ संग पैदा होता है और संग से काम की उत्पत्ति होती है। कामना के पीछे-पीछे क्रोध आता है। फिर क्रोध से संमोह, संमोह से स्मृतिभ्रम और स्मृतिभ्रम से बुद्धि का नाश होता है और अंत में पुरुष स्वयं ही नष्ट हो जाता है।

: ३ :

गीता का अध्ययन

गीता का अध्ययन शुरू किया। एक छोटा-सा 'जिज्ञासु-मंडल' भी बनाया गया और नियमपूर्वक अध्ययन आरंभ हुआ। गीताजी के प्रति मेरा प्रेम और श्रद्धा तो पहले ही से थी। अब उसका गहराई के साथ रहस्य समझने की आवश्यकता दिखाई दी। मेरे पास एक-दो अनुवाद रखे थे, उनकी सहायता से मूल संस्कृत समझने का प्रयत्न किया और नित्य एक या दो श्लोक कंठ करने का निश्चय किया।

सुबह का दतौन और स्नान का समय मैं गीताजी कंठ करने में लगाता। दतौन में १५ और स्नान में २० मिनट लगते। दतौन अंग्रेजी रिवाज के मुताबिक खड़े-खड़े करता। सामने दीवार पर गीताजी के श्लोक लिखकर चिपका देता और उन्हें देख-देखकर रटता रहता। इस तरह रटे हुए श्लोक स्नान करने तक पक्के हो जाते। बीच में पिछले श्लोकों को भी दुहरा जाता। इस प्रकार मुझे याद पड़ता है कि १३ अध्याय तक गीता कंठ कर ली थी, पर बाद में काम की झंझटें बढ़ गईं। सत्याग्रह का जन्म हो गया और उस बालक की परिवरिश का भार मुझपर आ पड़ा, जिससे विचार करने का समय भी उसके लालन-पालन में बीता और कह सकते हैं कि अब भी बीत रहा है।

गीता-पाठ का असर मेरे सहाध्यायियों पर तो जो कुछ पड़ा हो, वह वही बता सकते हैं, किन्तु मेरे लिए तो गीता आचार की एक प्रौढ़ मार्गदर्शिका बन गई है। वह मेरा धार्मिक कोश हो गई है। अपरिचित अंग्रेजी शब्द के हिज्जे या अर्थ को देखने के

लिए जिस तरह मैं अंग्रेजी कोश को खोलता, उसी तरह आचार-संबंधी कठिनाइयों और उसकी अटपटी गुत्थियों को गीताजी के द्वारा सुलझाता। उसके अपरिग्रह, समभाव इत्यादि शब्दों ने मुझे गिरफ्तार कर लिया। यही धुन रहने लगी कि समभाव कैसे प्राप्त करूं, कैसे उसका पालन करूं? जो अधिकारी हमारा अपमान करे, जो रिश्वतखोर हैं, रास्ते चलते जो विरोध करते हैं जो कल के साथी हैं, उनमें और उन सज्जनों में, जिन्होंने हम पर भारी उपकार किया है, क्या कुछ भेद नहीं है? अपरिग्रह का पालन किस तरह मुमकिन है? क्या यह हमारी देह ही हमारे लिए कम परिग्रह है? स्त्री-पुरुष आदि यदि परिग्रह नहीं तो फिर क्या है? क्या पुस्तकों से भरी इन अलमारियों में आग लगा दूं? पर यह तो घर जलाकर तीर्थ करना हुआ। अन्दर से तुरंत उत्तर मिला, "हां, घरबार को खाक किये विना तीर्थ नहीं किया जा सकता।" इसमें अंग्रेजी कानून के अध्ययन ने मेरी सहायता की। स्नेल-रचित कानून के सिद्धान्तों की चर्चा याद आई। ट्रस्टी शब्द का अर्थ, गीताजी के अध्ययन की बदौलत अच्छी तरह समझ में आया। कानूनशास्त्र के प्रति मन में आदर बढ़ा, उसके अंदर भी मुझे धर्म का तत्त्व दिखाई पड़ा। ट्रस्टी यों करोड़ों की संपत्ति रखते हैं, फिर भी उसकी एक पाई पर उनका अधिकार नहीं होता। इसी तरह मुमुक्ष को अपना आचरण रखना चाहिए, यह पाठ मैंने गीताजी से सीखा। अपरिग्रही होने के लिए, समभाव रखने के लिए, हेतु का और हृदय का परिवर्तन आवश्यक है, यह बात मुझे दीपक की तरह स्पष्ट दिखाई देने लगी। बस, तुरंत रेवाशंकरभाई को लिखा कि बीमे की पालिसी बंद कर दीजिए। कुछ रुपया वापस मिल जाय तो ठीक, नहीं तो खैर। बाल-बच्चों

और गृहिणी की रक्षा वह ईश्वर करेगा, जिसने उनको और हमको पैदा किया है। यह आशय मेरे उस पत्र का था। पिता के समान अपने बड़े भाई को लिखा, "आजतक मैं जो कुछ बचाता रहा, आपके अर्पण करता रहा। अब मेरी आशा छोड़ दीजिए। अब जो कुछ बच रहेगा, वह यहीं के सार्वजनिक कामों में लगेगा।"

आत्मकथा', नवां संस्करण
पृष्ठ २६५

: ४ :

गीता-ध्यान

कल्पना का चित्र कुछ भी खींचा हो और उसका ध्यान किया हो तो इसमें दोष नहीं देखता। लेकिन गीतामाता के ध्यान से संतोष होता हो तो और क्या चाहिए ? गीता का ध्यान दो तरह से हो सकता है: एक तो उसे माता के रूप में माना है। इसलिए सामने माता की तस्वीर की जरूरत रहती हो तो या तो अपनी माँ में ही, यदि वह मर गई हो तो, कामधेनु का आरोपण करके गीता के रूप में मानकर उसका ध्यान करना चाहिए, या कोई भी काल्पनिक चित्र मन में खींच लिया जाय। उसे गो-माता का रूप दिया हो तो भी काम चल सकता है। दूसरी तरह हो सके तो इसे मैं ज्यादा अच्छा समझता हूं। हम हमेशा जो अध्याय बोलते हों, उसमें से या किसी भी अध्याय के किसी भी श्लोक या किसी शब्द का ध्यान धरना ही उसका चिन्तवन करना है। गीता में जितने शब्द हैं, उतने ही उसके आभूषण हैं

और प्रियजनों के आभूषणों का ध्यान करना भी उन्हीं का ध्यान धरने के बराबर है। यही बात गीता की है। लेकिन इसके सिवा किसी को और कोई ढंग मिल जाय तो भले ही वह उस ढंग से ध्यान धरे। जितने दिमाग, उतनी ही विविधता होती है। कोई दो व्यक्ति एक ही तरीके से एक ही चीज का ध्यान नहीं करते। दोनों के वर्णन और कल्पना में कुछ-न-कुछ फर्क तो रहेगा ही।

छठे अध्याय के अनुसार जरा-सी भी की हुई साधना बेकार नहीं जाती, और जहां से रह गई हो, वहां से दूसरे जन्म में आगे चलती है। इसी तरह जिसमें कल्याणमार्ग की तरफ मुड़ने की इच्छा तो जरूर हो, मगर अमल करने की शक्ति न हो, उसे ऐसा मौका जरूर मिलेगा, जिससे दूसरे जन्म में उसकी यह इच्छा दृढ़ हो। इस बारे में भी मेरे मन में कोई शंका नहीं है। मगर इसका यह अर्थ न किया जाय कि तब तो हम इस जन्म में शिथिल रहें, तो भी काम चलेगा। ऐसी इच्छा इच्छा नहीं है, या वह बौद्धिक है, मगर हार्दिक नहीं है। बौद्धिक इच्छा के लिए कोई स्थान ही नहीं है। वह मरने के बाद नहीं रहती; पर जो इच्छा दिल में पैठ जाती है, उसके पीछे प्रयत्न तो होना ही चाहिए। मगर कई कारणों से और शरीर की कमजोरी से संभव है कि यह इच्छा इस जन्म में पूरी न हो और इस तरह का अनुभव हमें रोज होता है। मगर इस इच्छा को लेकर जीव देह को छोड़ता है और दूसरे जन्म में इस जन्म की उपाधियां कम होकर यह इच्छा फलती है या ज्यादा मजबूत तो होती ही है। इस तरह कल्याणकृत लगातार आगे बढ़ता ही रहता है।

ज्ञानेश्वर महाराज ने निवृत्तिनाथ के जीते हुए उनका ध्यान धरा हो तो भले ही धरा हो; लेकिन इतना होने पर भी मेरी

पक्की राय है कि वह हमारे नकल करने लायक नहीं है। जिसका ध्यान करना है, वह पूर्णता को पाया हुआ व्यक्ति होना चाहिए। जीवित व्यक्ति के लिए इस तरह का ख्याल करना बिलकुल बेजा और गैरजरूरी है। किन्तु यह हो सकता है कि ज्ञानेश्वर महाराज ने शरीरधारी निवृत्तिनाथ का ध्यान किया हो। मगर हम इस झगड़े में कहां पड़ें ? और जब जीवित मूर्ति का ध्यान करने का सवाल उठता है तब कल्पना की मूर्ति की गुंजायश नहीं रहती और इसका उल्लेख करके जवाब दिया हो तो इस जवाब से बुद्धिभ्रंश होना संभव है।

पहले अध्याय में जो नाम दिये हैं, वे सब नाम, मेरी राय में, व्यक्तिवाचक होने के बजाय गुणवाचक ज्यादा हैं। दैवी और आसुरी वृत्तियों के बीच की लड़ाई का बयान करते हुए कवि ने वृत्तियों को मूर्तिमान बनाया है। इस कल्पना में इस बात से इनकार नहीं किया गया है कि पांडवों और कौरवों के बीच हस्तिनापुर के पास सचमुच युद्ध हुआ होगा। मेरी ऐसी कल्पना है कि उस जमाने का कोई दृष्टान्त लेकर कवि ने इस महान ग्रंथ की रचना की है। इसमें भूल हो सकती है, या ये सब नाम ऐतिहासिक हों तो ऐतिहासिक आरंभ के लिए ये नाम देना बेजा भी नहीं माना जा सकता। विषय-विचार के लिए पहला अध्याय ज़रूरी है, इसलिए गीता-पाठ के वक्त उसे पढ़ लेना भी जरूरी है।

'महादेवभाईनी डायरी',
पहला भाग, पृष्ठ २२३
१८ जून, १६३२

वह दिन याद आता है जब मि० बेकर मुझे वेलिंग्टन कन्वेन्शन में ईसाई बनाने को ले गये। वे हमेशा मेरे साथ चर्चा करते थे। मैं उन्हें कहता कि आप मुझमें श्रद्धा जाग्रत कीजिए। जो भी अच्छा असर आप मुझपर डालना चाहते हों, वह डालने देने के लिए मैं तैयार हूं। इसलिए उन्होंने कहा कि वेलिंग्टन कन्वेन्शन में चलो। वहां समर्थ लोग आयंगे। आप उनसे मिलेंगे तो आपको विश्वास हुए बिना रहेगा ही नहीं। सारे डिब्बे में गोरे बैठे थे और मैं अकेला ऊपर के बंक पर दबा हुआ बैठा था। वे लोग कहने लगे, "देखिये, ह्विक्स नदी आई, भव्य प्रदेश है। देखिये, सूर्योदय के दर्शन तो कीजिये !" मगर मैं उतरता ही न था। मैं तो ११वें अध्याय का पाठ कर रहा था। बेकर ने मुझसे पूछा, "क्या पढ़ रहे हैं ?" मैंने कहा, "भगवद्गीता।" उन्हें लगा होगा कि कैसा मूर्ख है कि बाइबिल नहीं पढ़ता ! मगर क्या करते ? उन्हें मुझपर जबरदस्ती तो करनी न थी। कन्वेन्शन में मेरे लिए विशेष प्रार्थना भी हुई। मगर मैं कोरा-का-कोरा ही लौटा।

'महादेवभाईनी डायरी'
पहला भाग, पृष्ठ २२७
१९ जून, १९३२

: ५ :

गीता पर आस्था

...फिर एक 'विशाल बुद्धि' पुरुष—गीता का प्रणेता उत्पन्न हुआ। उसने हिन्दू-समाज को गहरे तत्वज्ञान से भरा

और साथ ही हिन्दू-धर्म का ऐसा दोहन अर्पित किया कि जो मुग्ध जिज्ञासु को सहज ही समझ में आ सकता है। हिन्दू-धर्म का अध्ययन करने की इच्छा रखनेवाले प्रत्येक हिन्दू के लिए यह एकमात्र सुलभ ग्रंथ है और यदि अन्य सभी धर्मशास्त्र जलकर भस्म हो जायं तब भी इस अमर ग्रंथ के सात सौ श्लोक यह बताने के लिए पर्याप्त होंगे कि हिन्दू-धर्म क्या है और उसे जीवन में किस प्रकार उतारा जाय। मैं सनातनी होने का दावा करता हूं; क्योंकि चालीस वर्षों से उस ग्रंथ के उपदेशों को जीवन में अक्षरश: उतारने का मैं प्रयत्न करता आया हूं। गीता के मुख्य सिद्धान्त के विपरीत जो कुछ भी हो, उसे मैं हिन्दू-धर्म का विरोधी मानकर अस्वीकार करता हूं। गीता में किसी भी धर्म या धर्म-गुरु के प्रति द्वेष नहीं। मुझे यह कहते बड़ा आनंद होता है कि मैंने गीता के प्रति जितना पूज्य भाव रखा है, उतने ही पूज्य भाव से मैंने बाइबिल, कुरान, जंदअवस्ता और संसार के अन्य धर्म-ग्रंथ पढ़े हैं। इस वाचन ने गीता के प्रति मेरी श्रद्धा को दृढ़ बनाया है। उससे मेरी दृष्टि और उससे मेरा हिन्दू धर्म विशाल हुआ है। जैसे कि जरथुस्त्र, ईसा और मुहम्मद के जीवन-चरित्र को मैंने समझा है, वैसे ही गीता के बहुत से वचनों पर मैंने प्रकाश डाला है। इससे इन सनातनी मित्रों ने मुझे जो ताना दिया है, वह मेरे लिए तो आश्वासन का कारण बन गया है। मैं अपने को हिन्दू कहने में गौरव मानता हूं; क्योंकि मेरे मन में यह शब्द इतना विशाल है कि पृथ्वी के चारों कोनों के पैगंबरों के प्रति यह केवल सहिष्णुता ही नहीं रखता, वरन् उन्हें आत्मसात् कर लेता है। इस जीवन-संहिता में कहीं भी अस्पृश्यता को स्थान हो, ऐसा मैं नहीं देखता। इसके

विपरीत, लौह-चुंबक के समान चित्ताकर्षक वाणी में मेरी बुद्धि को स्पर्श करके और इसके भी आगे मेरे हृदय को पूर्णतया स्पर्श करके मेरे मन में यह आस्था उत्पन्न करती है कि भूतमात्र एक-रूप हैं, वे सभी ईश्वर में से निकले हैं और उसी में विलीन हो जानेवाले हैं। भगवती गीता माता द्वारा उपदिष्ट सनातन धर्म के अनुसार जीवन का साफल्य बाह्य आचार और कर्मकांड में नहीं, वरन् सम्पूर्ण चित्त-शुद्धि में और शरीर, मन और आत्मा-सहित समग्र व्यक्तित्व को परब्रह्म के साथ एकाकार कर देने में है। गीता के इस संदेश को अपने जीवन में ओत-प्रोत करके मैं करोड़ों की मानवमेदिनी के पास गया हूं और उन्होंने मेरी बातें सुनी हैं, सो मेरी राजनीतिज्ञता के कारण अथवा मेरी वाणी की छटा के कारण नहीं, बल्कि मेरा विश्वास है कि मुझे अपना, अपने धर्म का मानकर सुनी हैं। समय के साथ-साथ मेरी यह श्रद्धा अधिकाधिक दृढ़ होती गई है कि मैं सनातन-धर्मी होने का दावा करूं; यह चीज गलत नहीं और यदि ईश्वर की इच्छा होगी तो वह मुझे इस दावे पर मेरी मृत्यु की मुहर लगा लेने देगा।

'महादेवभाईनी डायरी,'
भाग २, पृष्ठ ४३५
४ नवंबर, १९३२

: ६ :

गीता का अर्थ

एक मित्र इस प्रकार प्रश्न करते हैं:

"गीता का संदेश क्या है ? हिंसा या अहिंसा ? मालूम होता है कि यह झगड़ा हमेशा ही चलता रहेगा। यह बात और है कि हम गीता में किस संदेश को देखना चाहते हैं और उसमें से कौन-सा संदेश निकालना चाहते हैं और यह दूसरी ही बात है कि उसको सीधे ही पढ़ने पर क्या छाप पड़ती है। जिसके दिल में यह बात जम गई है कि अहिंसा-तत्त्व ही जीवन-संदेश है, उसके लिए तो यह प्रश्न गौण है। वह तो यही कहेगा कि गीता में से अहिंसा निकलती हो तो मुझे वह ग्राह्य है। इतने भव्य ग्रंथ में से अहिंसा जैसा भव्य धार्मिक सिद्धान्त ही निकालना चाहिए; किन्तु यदि न निकलता हो तो गीता को भी रहने दीजिए। उसको आदर से पूजेंगे; लेकिन उसे प्रमाण ग्रंथ नहीं मानेंगे।

"प्रथम अध्याय को पढ़ने पर यही प्रतीत होता है कि अहिंसा-वृत्ति से प्रेरित अर्जुन अशस्त्र होकर कौरवों के हाथों मरने को तैयार है। हिंसा से होनेवाले पाप और हानि उसकी निगाह में साफ़ नजर आते हैं। विषाद से वह कांप उठता है और कहता है :

" 'अहो बत् महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयम् ।' इस पर श्रीकृष्ण उससे कहते हैं—'समझदार होकर भी यह क्या बोलते हो ? कोई किसी को न मारता है, न कोई मरता ही है। आत्मा अमर है और शरीर का नाश तो होगा ही। इसलिए इस धर्म-प्राप्त युद्ध को लड़ लो। जय क्या और पराजय क्या ? केवल अपना कर्तव्य पूरा करो।'

"ग्यारहवें अध्याय में भी उसे विश्वरूप दिखाकर भगवान् श्रीकृष्ण यही कहते हैं :

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकात्समाहर्त्तुमिहो प्रवृत्तः ।

× × ×

मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा ।

"ईश्वर की दृष्टि में हिंसा और अहिंसा दोनों समान ही हैं; लेकिन मनुष्य के लिए ईश्वर का संदेश क्या हो सकता है ?"

'युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ।'

यह क्या ? गीता का संदेश यदि अहिंसा हो तो १ और ११ अध्याय सुसम्बद्ध नहीं मालूम होते। वे उसके पोषक तो हैं ही नहीं। ऐसी शंकाओं का समाधान कौन करे ?

"काम की भीड़ में से कुछ समय निकालकर आप इसका जवाव दें तो कितना अच्छा हो !"

ऐसे प्रश्न तो हुआ ही करेंगे। जिसने कुछ अध्ययन किया है, उसे उनका यथाशक्ति जवाव भी देना होगा; किन्तु इनका समाधान करने पर भी आखिर मुझे यह तो कहना ही पड़ेगा कि मनुष्य वही करेगा, जो उसका हृदय उसे करने को कहेगा। प्रथम हृदय है और फिर बुद्धि; प्रथम सिद्धांत और फिर प्रमाण; प्रथम स्फुरण और फिर उसके अनुकूल तर्क; प्रथम कर्म और फिर बुद्धि, इसीलिए बुद्धि कर्मानुसारिणी कही गई है। मनुष्य जो कुछ भी करता है या करना चाहता है, उसका समर्थन करने के लिए प्रमाण भी ढूंढ़ निकालता है।

इसलिए मैं समझता हूं कि मेरा गीता का अर्थ सबके अनुकल न होगा। ऐसी स्थिति में यदि मैं इतना कहूं कि गीता के मेरे अर्थ पर मैं किस तरह पहुंचा और धर्मशास्त्रियों के अर्थ

निकालने में मैंने किन-किन सिद्धान्तों को मान्य रखा है तो यही बस होगा। "परिणाम चाहे कुछ आवे, मुझे तो युद्ध करना चाहिए। जो शत्रु मरने योग्य हैं, वे तो स्वयं ही मरे हुए हैं। मुझे तो उनको मारने में मात्र निमित्त बनना है।"

१८८९ के साल में गीताजी से मेरा प्रथम परिचय हुआ। उस समय मेरी उम्र २० साल की थी। मैं अहिंसाधर्म को बहुत ही थोड़ा समझता था। शत्रु को भी प्रेम से जीतना चाहिए, यह मैं गुजराती कवि शामल भट्ट के इस छप्पय से "पाणी आपे ने वाय भलुं भोजन तो दीजे" सीखा था। इसमें जो सत्य है, वह मेरे हृदय में अच्छी तरह बैठ गया था, किन्तु उस समय मुझे उसमें से जीव-दया की स्फुरणा नहीं हुई थी। इसके पहले मैं देश ही में मांसाहार कर चुका था। मैं मानता था कि सर्पादिका नाश करना धर्म है। मुझे याद आता है कि मैंने खटमल इत्यादि जीव मारे हैं। मुझे तो यह भी याद आता है कि मैंने एक बिच्छू को भी मारा था। आज यह समझा हूं कि ऐसे जहरीले जीवों को भी न मारना चाहिए। उस समय मैं यह मानता था कि हमें अंग्रेजों के साथ लड़ने के लिए तैयारी करनी होगी। 'अंग्रेज राज्य करते हैं, इसमें आश्चर्य ही क्या है'—इस आशय की एक कविता गुनगुनाया करता था। मेरा मांसाहार इसी तैयारी का कारण था। विलायत जाने के पहले मेरे ऐसे विचार थे। मैं मांसाहार इत्यादि से बच गया, इसका कारण माता को दिये हुए वचनों को मरते दम तक पालन करने की मेरी वृत्ति ही थी। सत्य के प्रति मेरे प्रेम ने बहुत-सी आपत्तियों में से मेरी रक्षा की है।

अब दो अंग्रेजों से प्रसंग पड़ने पर मुझे गीता पढ़नी पड़ी।

'पढ़नी पड़ी' इसलिए कहता हूं, क्योंकि उसे पढ़ने की मुझे कोई खास इच्छा न थी; लेकिन जब इन दो भाइयों ने मुझे उनके साथ गीता पढ़ने को कहा तब मैं शर्मिन्दा हुआ। मुझे अपने धर्मशास्त्रों का कुछ भी ज्ञान नहीं है, इस ख्याल से मुझे बड़ा दुःख हुआ। मालूम होता है, इस दुःख का कारण अभिमान था। मेरा संस्कृत का अध्ययन ऐसा तो था ही नहीं कि गीताजी के सब श्लोकों का अर्थ मैं बिना किसी मदद के ठीक-ठीक समझ लूं। ये दोनों भाई तो कुछ भी न समझते थे। उन्होंने सर एडविन आरनॉल्ड का गीताजी का उत्तमोत्तम काव्यानुवाद मेरे सामने रख दिया। मैंने तो फौरन ही उस पुस्तक को पढ़ डाला और उस पर मुग्ध हो गया। तब से लेकर आजतक दूसरे अध्याय के अंतिम १९ श्लोक मेरे हृदय में अंकित हैं। मेरे लिए तो सब धर्म उन्हीं में आ जाता है। उसमें संपूर्ण ज्ञान है। उसमें कहे हुए सिद्धांत अचल हैं। उसमें बुद्धि का भी संपूर्ण प्रयोग किया गया है; लेकिन यह बुद्धि संस्कारी बुद्धि है। उसमें अनुभव ज्ञान है।

इस परिचय के बाद तो मैंने बहुत-से अनुवाद पढ़े, बहुत-सी टीकाएं पढ़ीं, बहुत-से तर्क किये और सुने, लेकिन उसे पढ़ने पर जो छाप मुझ पर पड़ी थी, वह दूर नहीं हुई। ये श्लोक गीता-जी के अर्थ को समझने की कुंजी हैं। उससे विरोधी अर्थ वाले वचन यदि मिलें तो उन्हें त्याग करने की भी सलाह मैं दूंगा। नम्र और विनयी मनुष्य को त्याग करने की भी जरूरत नहीं है। वह तो सिर्फ योंही कह दे कि दूसरे श्लोकों का आज इसके साथ मेल नहीं मिलता है तो यह मेरी बुद्धि का ही दोष है। समय बीतने पर इनका और इन उन्नीस श्लोकों में कहे गये

सिद्धांतों का भी मेल बैठ जायगा। अपने मन से और दूसरों से यह कहकर वह शांत हो जायगा।

शास्त्र का अर्थ करने में संस्कार और अनुभव की आवश्यकता है। 'शूद्र को वेद का अभ्यास नहीं होता', यह वाक्य सर्वथा गलत नहीं है। शूद्र अर्थात् असंस्कारी, मूर्ख, अज्ञान। वह वेदादि का अभ्यास करके उनका अनर्थ करेगा। बड़ी उम्र के भी सब लोग बीजगणित के कठिन प्रश्न अपने-आप समझने के अधिकारी नहीं हैं। उनको समझने के पहले उन्हें कुछ प्राथमिक शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। व्यभिचारी के मुख से 'अहं ब्रह्मास्मि' क्या शोभा देगा ? उसका वह क्या अर्थ (या अनर्थ) करेगा ?

अर्थात् शास्त्र का अर्थ करनेवाला यमादि का पालन करनेवाला होना चाहिए। यमादि का शुष्क पालन जैसा कठिन है, वैसा ही निरर्थक भी है। शास्त्रों ने गुरु का होना आवश्यक माना है; लेकिन इस जमाने में गुरुओं का तो करीब-करीब लोप-सा हो गया है। ज्ञानी लोग इसीलिए भक्ति-प्रधान प्राकृत ग्रंथों का पठन-पाठन करने की शिक्षा देते हैं; किन्तु जिनमें भक्ति नहीं, श्रद्धा नहीं, वे शास्त्र का अर्थ करने के अधिकारी नहीं होते। विद्वान् लोग विद्वत्तापूर्ण अर्थ उसमें से भले ही निकालें; लेकिन वह शास्त्रार्थ नहीं। शास्त्रार्थ तो अनुभवी ही कर सकता है।

परंतु प्राकृत मनुष्यों के लिए भी कुछ सिद्धांत तो हैं ही। शास्त्रों के वे अर्थ, जो सत्य के विरोधी हैं, सही नहीं हो सकते। जिसे सत्य के सत्य होने के बारे में ही शंका है, उसके लिए शास्त्र हैं ही नहीं, अथवा यों कहिए कि उसके लिए सब शास्त्र अशास्त्र

हैं। उसको कोई नहीं पहुंच सकता। जिसे शास्त्र में से अहिंसा प्राप्त नहीं हुई है, उसके लिए भय है, लेकिन यह बात नहीं कि उसका उद्धार न हो। सत्य विध्यात्मक है, अहिंसा निषेधात्मक है। सत्य वस्तु का साक्षी है, अहिंसा वस्तु होने पर भी उसका निषेध करती है। सत्य है, असत्य नहीं है। हिंसा है, अहिंसा नहीं है। फिर भी अहिंसा ही होनी चाहिए। यही परम धर्म है। सत्य स्वयंसिद्ध है। अहिंसा उसका संपूर्ण फल है। सत्य में वह छिपी हुई ही है; किंतु वह सत्य की तरह व्यक्त नहीं है। इसलिए उसको मान्य किये बिना मनुष्य भले ही शास्त्र की शोध करे, उसका सत्य आखिर उसे अहिंसा ही सिखावेगा।

सत्य का अर्थ तपश्चर्या तो है ही। सत्य का साक्षात्कार करनेवाले तपस्वी ने चारों ओर फैली हुई हिंसा में से अहिंसा देवी को संसार के सामने प्रकट करके कहा—हिंसा मिथ्या है, माया है, अहिंसा ही सत्य वस्तु है। अहिंसा के बिना सत्य का साक्षात्कार असंभावित है। ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह भी अहिंसा के अर्थ में हैं। ये अहिंसा को सिद्ध करनेवाले हैं। अहिंसा सत्य का प्राण है। उसके बिना मनुष्य पशु है। सत्यार्थी अपनी शोध के लिए प्रयत्न करते हुए यह सब बड़ी जल्दी समझ लेगा और फिर उसे शास्त्र का अर्थ करने में कोई मुसीबत पेश नहीं आवेगी।

शास्त्र का अर्थ करने में दूसरा नियम यह है कि उसके प्रत्येक अक्षर को न पकड़कर उसकी ध्वनि खोजनी चाहिए, उसका रहस्य समझना चाहिए। तुलसीदासजी की रामायण उत्तम ग्रंथ है; क्योंकि उसकी ध्वनि स्वच्छता है, दया है, भक्ति है। उसने 'शूद्र गंवार ढोल पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी'

लिखा, इसलिए यदि कोई पुरुष अपनी स्त्री को मारे तो उसकी अधोगति होगी। रामचंद्रजी ने सीताजी पर कभी प्रहार नहीं किया। इतना ही नहीं, उन्हें कभी दुःख भी नहीं पहुंचाया। तुलसीदासजी ने केवल प्रचलित वाक्य को लिख दिया। उन्हें इस बात का ख्याल कभी न हुआ होगा कि इस वाक्य का आधार लेकर अपनी अर्धांगना का ताड़न करनेवाले पशु भी कहीं निकल पड़ेंगे। यदि स्वयं तुलसीदासजी ने भी रिवाज के वशवर्त्ती होकर अपनी पत्नी का ताड़न किया हो तो भी क्या ? यह ताड़न अवश्य ही दोष है। फिर भी रामायण पत्नी के ताड़न के लिए नहीं लिखी गई है। रामायण तो पूर्ण-पुरुष का दर्शन कराने के लिए, सती-शिरोमणि सीताजी का परिचय कराने के लिए और भरत की आदर्श भक्ति का चरित्र चित्रित करने के लिए लिखी गई है। उसमें मिलनेवाला दोषयुक्त रिवाजों का समर्थन त्याज्य है। तुलसीदासजी ने भूगोल सिखाने के लिए अपना अमूल्य ग्रंथ नहीं बनाया है, इसलिए उनके ग्रंथ में यदि गलत भूगोल पाया जाय तो उसका त्याग करना अपना धर्म है।

अब गीताजी देखें। ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति और उसके साधन, यही गीताजी के विषय हैं। दो सेनाओं के बीच युद्ध का होना निमित्त है। भले ही ऐसा कहें कि कवि स्वयं युद्धादि को निषिद्ध नहीं मानते थे और इसलिए उन्होंने युद्ध के प्रसंग का इस प्रकार उपयोग किया है। महाभारत पढ़ने के बाद तो मेरे ऊपर दूसरी ही छाप पड़ी है। व्यासजी ने इतने सुंदर ग्रंथ की रचना करके युद्ध के मिथ्यात्व का ही वर्णन किया है। कौरव हारे तो उससे क्या हुआ ? और पांडव जीते तो भी उससे क्या हुआ ? विजयी

कितने बचे ? उनका क्या हुआ ? कुंती माता का क्या हाल हुआ ? और आज यादव-कुल कहां है ?

जहां विषय युद्ध-वर्णन और हिंसा का प्रतिपादन नहीं है, वहां उसपर जोर देना बिलकुल अनुचित ही माना जायगा और यदि कुछ श्लोकों का संबंध अहिंसा के साथ बैठाना मुश्किल मालूम होता है तो सारी गीताजी को हिंसा के चौखटे में मढ़ना तो उससे कहीं ज्यादा मुश्किल है।

कवि जब किसी ग्रंथ की रचना करता है तो वह उसके सब अर्थों की कल्पना नहीं कर लेता है। काव्य की यही खूबी है कि वह कवि से भी बढ़ जाता है। जिस सत्य का वह अपनी तन्मयता में उच्चारण करता है, वही सत्य उसके जीवन में अक्सर नहीं पाया जाता। इसलिए बहुतेरे कवियों का जीवन उनके काव्यों के साथ सुसंगत नहीं मालूम होता। दूसरा अध्याय, जिससे विषय का आरंभ होता है और अठारहवां अध्याय, जिसमें उसकी पूर्णाहुति होती है, देखने से यही प्रतीत होगा कि गीताजी का सर्वांश तात्पर्य हिंसा नहीं, वरन् अहिंसा है। मध्य में देखोगे तो भी यही प्रतीत होगा। बिना क्रोध, राग या द्वेष के हिंसा का होना संभव नहीं और गीता तो क्रोधादि को पार करके गुणातीत की स्थिति में पहुंचाने का प्रयत्न करती है। गुणातीत में क्रोध का सर्वथा अभाव होता है। अर्जुन ने कान तक खींच-कर जब-जब धनुष चढ़ाया, उस समय की उसकी लाल-लाल आंखें मैं आज भी देख सकता हूं।

परंतु अर्जुन ने कब अहिंसा के लिए युद्ध छोड़ने की हठ की थी ? उसने तो बहुत से युद्ध किये थे। उसे तो एकाएक मोह हो गया था। वह तो अपने सगे-संबंधियों को नहीं मारना

चाहता था। अर्जुन ने दूसरों को, जिन्हें वह पापी समझता हो, न मारने की बात तो की न थी। श्रीकृष्ण तो अंतर्यामी हैं। वह अर्जुन का यह क्षणिक मोह समझ लेते हैं और इसलिए उससे कहते हैं, "तुम हिंसा तो कर चुके हो। अब इस प्रकार एकाएक समझदार बनने का दंभ करके तुम अहिंसा नहीं सीख सकोगे। इसलिए जिस काम का तुमने आरंभ किया है, उसे अब तुम्हें पूरा ही करना चाहिए।" घंटे में चालीस मील के वेग से जानेवाली रेलगाड़ी में वैठा हुआ व्यक्ति एकाएक प्रवास से विरक्त होकर यदि चलती हुई गाड़ी से ही कूद पड़े तो यही कहा जायगा कि उसने आत्म-हत्या की है। उससे उसने प्रवास या रेलगाड़ी में बैठने के मिथ्यात्व को कुछ नहीं सीखा है। अर्जुन का भी यही हाल था। अहिंसक कृष्ण अर्जुन को दूसरी सलाह दे ही नहीं सकते थे; लेकिन उससे यह अर्थ नहीं निकाल सकते कि गीताजी में हिंसा ही का प्रतिपादन किया गया है। यह अर्थ निकालना उतना ही अनुचित है जितना कि यह कहना कि शरीर-व्यापार के लिए कुछ हिंसा अनिवार्य है और इसलिए हिंसा ही धर्म है। सूक्ष्मदर्शी इस हिंसामय शरीर से अशरीरी होने का अर्थात् मोक्ष का ही धर्म सिखाता है।

लेकिन धृतराष्ट्र कौन थे? दुर्योधन, युधिष्ठिर और अर्जुन कौन थे? कृष्ण कौन थे? क्या ये सब ऐतिहासिक पुरुष थे? और क्या गीताजी में उनके स्थूल व्यवहार का ही वर्णन किया गया है? अकस्मात् अर्जुन सवाल करता है और कृष्ण सारी गीता पढ़ जाते हैं! और अर्जुन यह कहकर भी कि उसका मोह नष्ट हो गया है, यही गीता फिर भूल जाता है और कृष्ण से दुबारा अनुगीता कहलवाता है!

मैं तो दुर्योधनादि को आसुरी और अर्जुनादि को दैवी वृत्ति मानता हूं। धर्मक्षेत्र यह शरीर ही है। उसमें द्वंद्व चलता ही रहता है और अनुभवी ऋषि कवि उसका तादृश वर्णन करते हैं। कृष्ण तो अंतर्यामी हैं और हमेशा शुद्ध-चित्त में घड़ी की तरह टिक-टिक करते रहते हैं। यदि चित्त को शुद्धरूपी चाबी नहीं दी गई तो अंतर्यामी यद्यपि वहां रहते तो हैं, तथापि उनका टिक-टिकाना तो अवश्य ही बंद हो जाता है।

कहने का आशय यह नहीं कि इसमें स्थूल युद्ध के लिए अवकाश ही नहीं है। जिसे अहिंसा सूझी ही नहीं है, उसे यह धर्म नहीं सिखाया गया है कि कायर बनना चाहिए। जिसे भय लगता है, जो संग्रह करता है, जो विषय में रत है, वह अवश्य ही हिंसामय युद्ध करेगा; लेकिन उसका वह धर्म नहीं है। धर्म तो एक ही है। अहिंसा के मानी है मोक्ष और मोक्ष है सत्यनारायण का साक्षात्कार। इसमें पीठ दिखाने को तो कहीं अवकाश ही नहीं है। इस विचित्र संसार में हिंसा तो होती ही रहेगी। उससे बचने का मार्ग गीता दिखाती है; लेकिन साथ-ही-साथ गीता यह भी कहती है कि कायर होकर भागने से हिंसा से नहीं बच सकोगे। जो भागने का विचार करता है, वह तो मारेगा और मरेगा।

प्रश्नकर्त्ता ने जिन श्लोकों का उल्लेख किया है, उनका अर्थ यदि अब भी उनकी समझ में न आवे तो मैं समझाने में असमर्थ हूं। सर्वशक्तिमान् ईश्वर कर्ता, भर्त्ता और संहर्त्ता है और वह ऐसा ही होना चाहिए। इस विषय में कोई शंका तो न होगी न ? जो उत्पन्न करता है, वह उसका नाश करने का अधिकार भी रखता है। फिर भी वह किसी को नहीं

मारता; क्योंकि वह उत्पन्न भी नहीं करता। नियम यह है कि जिसने जन्म लिया है, उसने मरने ही के लिए जन्म लिया है। ईश्वर भी इस नियम को नहीं तोड़ सकता। यही उसकी दया है। यदि ईश्वर ही स्वच्छंद और स्वेच्छाचारी बन जाय तो फिर हम सब कहां जावेंगे ?

१५ अक्तूबर, १९२५

: ७ :

गीता कंठ करो

गीता को कंठ करने के विषय में मैं बहुत बार लिख चुका हूं, कह चुका हूं। मेरे अपने किये यह न हो सका, इसलिए यह कहना मुझे शोभा नहीं देता। फिर भी इस बात को बारंबार कहते मुझे शर्म नहीं मालूम होती, इसलिए कि उसका लाभ मैं समझता हूं। मेरी गाड़ी ज्यों-त्यों चल गई है, क्योंकि एक बार तो मैं तेरहवें अध्याय तक कंठ कर गया था और गीता का मनन तो वरसों से चल रहा है। इसलिए यह मान लिया जा सकता है कि उसकी छाया के नीचे मेरा कुछ निर्वाह हो गया; पर मैं उसे कंठ कर सका होता, अब भी उसमें अधिक गहराई में पैठ सका होता तो, हो सकता है, मैंने बहुत अधिक पाया होता; पर मेरा चाहे जो हुआ हो और हो, मेरा समय बीता हुआ माना जा सकता है या मानना चाहिए। यद्यपि मुझे सहज ही इसका सुयोग मिल जाय तो गीता कंठ करने का प्रयत्न आरंभ कर दूं।

यहां गीता का अर्थ थोड़ा विस्तृत करना चाहिए। गीता,

अर्थात् हमारा आधाररूप ग्रंथ। हममें से बहुतों का आधार गीता है, इसलिए मैंने गीता का नाम लिया है। पर अमतुल (अमतुस्सलाम) प्रार्थना या कुरेशी गीता के बदले कुरान-शरीफ़, पूरा या उसका कोई भाग, कंठ कर सकते हैं। जिन्हें संस्कृत न आती हो, जो अब उसे सीख न सकते हों, वे गुजराती या हिन्दी में कंठ करें। जिन्हें गीता पर आस्था न हो और दूसरे किसी धर्म-ग्रंथ पर हो, वे उसे कंठ करें।

और कंठ करने का अर्थ भी समझ लीजिए। जिस चीज को हम कंठ करें, उसके आदेशानुसार आचरण करने का हमारा आग्रह होना चाहिए। वह मूल सिद्धान्तों का घातक न होना चाहिए। उसका अर्थ हम समझ चुके हों।

इसका फल है। हमारे पास ग्रंथ न हो, चोरी हो जाय, जल जाय, हमें भूल जाय, हमारी आँख चली जाय, हम वाक्शक्ति से रहित हो जायं, पर समझ बनी हो—ऐसे और भी दैवयोग सोचे जा सकते हैं—उस समय अगर अपना प्रिय आधार-रूप ग्रंथ कंठ हो तो वह हमारे लिए भारी शांति देनेवाला हो जायगा और मार्गदर्शक होगा, संकट का साथी होगा।

दुनिया का अनुभव भी यही है। हमारे पुरखा—हिन्दू-मुसलमान, ईसाई, पारसी—कुछ विशेष पाठ कंठ किया करते थे। आज भी बहुतेरे करते हैं। इन सबके अमूल्य अनुभव को हम फेंक न दें। इसमें कुछ अंशों में हमारी श्रद्धा की परीक्षा है।

आश्रमवासियों से,

३१ जुलाई १९३२

: ८ :

नित्य व्यवहार में गीता[1]

कुछ युवकों ने यहां आते ही मुझे अनेक प्रश्न दिये। उनका जवाब ही मेरा आज का भाषण होगा।

प्रश्न—हिंदुस्तान की वर्तमान परिस्थिति में क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि बतौर हिंदू के आपको श्रद्धानंद स्मारक कोप पर और अधिक जोर देना चाहिए ? अगर आपको ऐसा मालूम होता हो तो फिर यह कोष इकट्ठा करने में आप क्यों हाथ नहीं बंटाते ?

उत्तर—मैं तो एक अपूर्ण मनुष्य हूं। संपूर्ण सर्वशक्तिमान् तो एक ईश्वर है। मैं अर्थशास्त्र जानता हूं। मेरे पास जो समय और शक्ति है, वह सब मैंने देश को अर्पण कर दी है। मुझे यह अभिमान नहीं कि सारा काम मैं ही करूं। जिस काम में पंडित मालवीयजी और लालाजी के समान अनुभवी नेता पड़े हुए हों, उसमें मुझे और अधिक क्या करना था ? जब कलकत्ते में श्रद्धा-नंद-स्मारक के लिए ५० हजार रुपया इकट्ठा किया गया, उस समय मालवीयजी की आज्ञा से मैं वहां उपस्थित था। इसके बाद और कुछ अधिक की आशा मालवीयजी ने मुझसे रक्खी नहीं। मेरे कार्यक्षेत्र की मर्यादा बंधी हुई है। भगवान् श्रीकृष्ण के, गीता के उपदेशानुसार चलने का प्रयत्न करनेवाला मैं एक अल्प मनुष्य हूं और मैं यह समझता हूं कि मेरा अपना धर्म

---

१. नासिक में गांधीजी का भाषण

थोड़े-से-थोड़े में भी क्या है :

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।

दूसरा धर्म चाहे जितना अच्छा लगता हो, पर मेरे लिए मेरा मर्यादित धर्म ही भला है, दूसरा भयावह है।

प्रश्न—आज आप जो चंदा इकट्ठा कर रहे हैं, क्या वह केवल खादी के लिए ही है ? अगर यह ठीक हो तो आप उसका किस प्रकार उपयोग करेंगे ?

उत्तर—हां, यह धन केवल खादी के लिए ही है; क्योंकि यह अखिल भारत देशबंधु-स्मारक कोष के लिए इकट्ठा किया जा रहा है। इस कोष के साथ देशबंधु का नाम केवल इसीलिए लगाया गया है कि देहांत के थोड़े ही दिनों पहले उन्होंने खादी की योजना तैयार की थी और खादी-कार्य उनको प्रिय था। खादी के लिए चंदा उगाहकर उसकी व्यवस्था करने के लिए ही अखिल भारत चर्खा-संघ की योजना की गई है। इस कोष की पाई-पाई का हिसाब रक्खा जाता है और देखने का किसी भी मनुष्य को अधिकार है। इस संघ का एक कार्यवाहक मंडल है, हिसाब जांचनेवाले हैं, निरीक्षक हैं। इस संघ ने अभी देश के सामने खादी-सेवक-संघ की योजना पेश की है। आप कहेंगे कि जान लिया आपका मंडल। दीजिएगा तीस रुपल्ली। उससे भला होगा क्या ? हां, हमारा मंडल तो भिखारी-मंडल है, क्योंकि बहुत से गरीब भिखारियों से पैसा लेकर यह स्थापित हुआ है। यह कुछ इंडियन सिविल सर्विस नहीं है कि हमें हजारों रुपया वेतनों में देने पड़ें। इंडियन सिविल सर्विस तो लोगों के करों पर अवलंबित है। वह तो लोगों पर राज्य करने के लिए है और

हमारा मंडल तो लोगों की सेवा के लिए है।

प्रश्न—आप मुसलमानों के लिए पक्षपात क्यों करते हैं? कितने मुसलमान नेता आप पर व्यक्तिगत आक्षेप करते हैं। उनका आप जवाब भी नहीं देते। ऐसा क्यों?

उत्तर—परम धर्म का शुद्ध पक्ष लेने में मैं अपने धर्म की रक्षा ही करता हूं। मैं हिंदू धर्म का नाश नहीं चाहता, मैं नाश कर नहीं सकता; क्योंकि मैं हिंदू महासागर की एक बूंद भर हूं। मुसलमान मुझे काफिर कहें तो उससे क्या हुआ? उसका जवाब क्या देना है! मेरा भानजा मेरे साथ ही रहता था। जब दूसरों को लगा कि मैं उसका पक्षपात करता हूं, उस समय मैंने और उसने भी समझा कि मैं उसके साथ न्याय ही करता था। मुसलमान जब मुझपर आक्षेप करते हैं तो इससे शायद यह मालूम होता है कि मैं उन्हें पूरा न्याय न देता होऊंगा। मुझे जवाब देने की आवश्यकता किसलिए हो? मेरे तो चौबीसों घंटे श्रीकृष्ण भगवान् को समर्पित हैं। वही मेरी रक्षा करते हैं और दासानुदास श्रीकृष्ण भगवान् से मैं सदा प्रार्थना करता हूं कि 'हे कृष्ण, मेरी ओर से जो जवाब देना हो, वह तू ही जाकर दे आ।'

प्रश्न—आपने खिलाफत की लड़ाई जी-जान से लड़ी। उसी प्रकार आज हिंदू-संगठन के लिए क्यों नहीं जुट जाते?

उत्तर—खिलाफत के लिए प्राण अर्पण करने की मेरी प्रतिज्ञा थी। परधर्मी के लिए जो कुछ भी हो सका, मैंने किया। मैं मानता था और अब भी मानता हूं कि मेरी इस सेवा से गोरक्षा होगी। आप पूछेंगे कि गोरक्षा हुई? गोरक्षण नहीं हुआ, इससे पर मुझे क्या! मैं तो प्रयत्न का अधिकारी था। फल के अधिकारी तो

श्रीकृष्ण भगवान् हैं। भगवान् ने कहा कि मुहम्मद अली से मिल, शौकत अली से मिल, उनके साथ काम कर ! मैंने वही किया। उन्हें जितनी मदद दी जा सकी, दी। इस काम के लिए मुझे जरा भी पछतावा नहीं है। फिर ऐसा प्रसंग आवे तो मैं यही करूंगा। गीता-भागवत आदि धर्म-ग्रंथ मुझे यही सिखलाते हैं। लोग मेरी निन्दा करें, मेरा अपमान करें, इसके उत्तर में मैं भी उनकी निन्दा और अपमान करनेवाला नहीं। मैं तो वही करूंगा, जो करने का तुलसीदासजी ने उपदेश दिया है, यानी तपश्चर्या। मेरी प्रकृति ही ऐसी बनी है। मुझसे दूसरा क्या होगा ? गीता-जी ने कहा है न कि सब जीव अपनी प्रकृति के अनुसार ही चलते हैं, निग्रह क्या करेगा ? इसलिए मुझे तो तपश्चर्या करनी रही। जब मुसलमानों के दिल में खुदा बसेंगे और जब एक दिन ऐसा आवेगा कि हिंदुओं के समान वे भी गोरक्षा करेंगे, मैं भविष्यवाणी करता हूं कि तब आप कहेंगे कि यह गोरक्षा पुराने जमाने के किसी गांधी नाम के पागल की आभारी है।

मैं नहीं मानता कि आज के जैसी तबलीग या शुद्धि या धर्म-परिवर्तन करने की आज्ञा इस्लाम या हिंदूधर्म या ईसाईधर्म में है। तब मैं शुद्धि में किस प्रकार हाथ बंटा सकता हूं ? तुलसीदास और गीता तो मुझे सिखलाते हैं कि जब तुम्हारे ऊपर या तुम्हारे धर्म पर हमला हो तो तुम आत्मशुद्धि कर लेना। और जो पिंड में है, वह ब्रह्मांड में। आत्मशुद्धि—तपश्चर्या करने का मेरा प्रयत्न चौबीसों घंटों चल रहा है। पार्वती के नसीब में अशुभ लक्षणोंवाला पति था। ऐसे लक्षण होने पर भी शुभंकर तो शिवजी ही थे। पार्वती ने उन्हें तपोबल

से पाया। संकट के समय में ऐसा ही तप हिंदूधर्म सिखलाता है। इस धर्म ज्ञानका साक्षी हिमालय है, वही हिमालय जिसके ऊपर हिंदूधर्म की रक्षा के लिए लाखों ऋषि-मुनियों ने अपने शरीर गला डाले हैं। वेद कुछ कागज पर लिखे अक्षर नहीं हैं। वेद तो अंतर्यामी हैं और अंतर्यामी ने मुझे वतलाया है कि यम-नियमादि का पालन कर और कृष्ण का नाम ले। मैं विनय के साथ, परंतु सत्यता से कहता हूं कि हिंदूधर्म की सेवा, हिंदूधर्म की रक्षा के सिवा मेरी दूसरी प्रवृत्ति नहीं। हां, उसे करने की मेरी रीति भले ही निराली हो।

प्रश्न—आज जो पैसा आपको मिलता है, उसे देनेवाले अधिकांश में विलायती कपड़ों के ही व्यापारी हैं और आपको वे जो पैसा देते हैं, वह आपके प्रेम के कारण देते हैं, खादी के प्रेम के कारण नहीं। क्या आप यह जानते हैं ?

उत्तर—प्रेम से मुझे एक पैसा भी नहीं चाहिए। मैं चाहता हूं कि मेरे काम को समझकर लोग मुझे पैसा दें। प्रेम से आप मुझे दूसरी वस्तु दे सकते हैं, प्रेम से आप मुझे अपने विलायती कपड़े दे सकते हैं, पर पैसा नहीं चाहिए। सच्ची वात तो यह है कि व्यापारी लोग मुझे पैसा देते हैं तो यह समझकर कि मेरा व्यापार जमे तो उससे उनकी या देश की हानि नहीं है। वे जानते हैं कि अंत में उन्हें खादी का ही व्यापार करना पड़ेगा। वे इसे खूब समझते हैं; परंतु उनमें आज निश्चय-बल नहीं है। यह बल उन्हें मिले, इसके लिए वे मुझे ईश्वर से प्रार्थना करने को कहते हैं। इस बीच में वे धन देकर इस प्रवृत्ति का पोषण करते हैं। वे मुझे फुसलाने को धन नहीं देते।

प्रश्न—केवल खादी का ही काम करके आप दूसरे ऐसे ही

महत्त्वपूर्ण या इससे भी अधिक महत्त्व के राजनैतिक कामों की ओर से लापरवाह क्यों हैं ?

उत्तर—मैं कह चुका हूं कि मेरा कार्यक्षेत्र मर्यादित है। दुर्योधन ने भी अपने योद्धाओं की मर्यादा का वर्णन किया था। 'यथाभागमवस्थिता:', सभी को अपने-अपने स्थान पर रहने को और अपने स्थान पर रहकर भीष्म की रक्षा करने को कहा था। गीता का वर्णाश्रम धर्म यही कहता है। वह सबको अपनी-अपनी मर्यादा समझने को कहता है। हिंदुस्तान को अगर मुझसे काम लेना हो तो उसे मेरी मर्यादा समझनी होगी। यह भले ही संभव हो कि मैं दूसरे काम भले प्रकार कर सकूं, पर उन्हें दूसरे लोग करते हैं। खादी का काम, जिसे मैं परम कर्तव्य मानता हूं, यही विश्वास होने के कारण कर रहा हूं कि उसे मेरे जैसा कोई नहीं करेगा। मुझे सत्याग्रह पसंद है, मुझे वह करना है, परंतु उसके लिए अनुकूल वातावरण कहां है ? खादी से वह मुझे पैदा करना है। सत्याग्रह तो मेरी प्राणवायु के समान है, परन्तु उसे खादी के विना अशक्य मानता हूं।

प्रश्न—जरा यह तो बतलाइयेगा कि इस दौरे में आपको मुसलमानों से कितनी प्रत्यक्ष सहायता मिली है ?

उत्तर—यह बात सच्ची है कि आज मुसलमान खादी के काम में मेरी नहीं के बराबर ही मदद कर रहे हैं; पर इससे क्या हुआ ? मैं अपनी स्त्री या भाई के साथ कुछ व्यापार नहीं करता। घर में उनके साथ मैं यह सौदा करता ही नहीं कि तुम यह करो तो मैं वह करूं। उसी प्रकार मुसलमान भाइयों के साथ या पंडितजी या केलकर के साथ अदला-बदली का सौदा करना नहीं चाहता। मुसलमान से हम किसलिए डरें ? परमेश्वर

से क्यों न डरें ? मनुष्य से डरना न चाहिए, मनुष्य से धोखा खाने का भय ही नहीं रखना चाहिए। ईश्वर के ऊपर विश्वास रखकर कि लोग धोखा देंगे तो भी ईश्वर देख लेगा, स्वधर्म करना चाहिए।

३ मार्च, १९२१

: ६ :

भगवद्गीता अथवा अनासक्तियोग

गीता पढ़ते, विचारते और उसका अनुसरण करते हुए अब मुझे चालीस साल से ज्यादा हो चुके हैं। मित्रों ने यह इच्छा प्रकट की थी कि मैं जनता को बताऊं कि मैंने गीता को किस रूप में समझा है। फलतः मैंने अनुवाद शुरू किया।[1] विद्वान की दृष्टि से देखने बैठूं तो अनुवाद करने की मेरी अपनी योग्यता कुछ भी नहीं ठहरती। हां, आचरण करनेवाले की दृष्टि से ठीक-ठीक मानी जा सकती है। यह अनुवाद अब छपा है। बहुतेरी गीताओं के साथ संस्कृत भी होती है। इसमें जान-बूझकर संस्कृत नहीं रखी। संस्कृत सब जानें, समझें तो मुझे अच्छा लगे; लेकिन सब संस्कृत कभी जानेंगे नहीं और संस्कृत के तो अनेक सस्ते संस्करण मिल सकते हैं। इसलिए संस्कृत छोड़कर आकार और कीमत बचाने का निश्चय किया। अतएव १८ सफों की प्रस्तावना और १९१ सफों के अनुवादवाला जेबी संस्करण छपवाया है। इसकी कीमत दो आना रखी है। मेरा लोभ तो यह

१. जो 'अनासक्तियोग' नाम से छपा है।

हैं, कि हरएक हिन्दी भाषा-भाषी इस गीता को पढ़े, विचारे और वैसा आचरण करे। इसके विचार का सरल उपाय यह है कि संस्कृत का ख्याल किये बिना ही इसके अर्थ को समझने का प्रयत्न किया जाय और फिर तदनुसार आचरण किया जाय। मसलन् जो यह कहते हैं कि गीता तो अपने-पराये का भेद रखे बिना दुष्टों का संहार करने की शिक्षा देती है, उन्हें अपने दुष्ट माता-पिता या अन्य प्रियजनों का संहार शुरू कर देना चाहिए। पर वे वैसा तो कर नहीं सकते। तो फिर जहां संहार का जिक्र आता है, वहां उसका कोई दूसरा अर्थ होना संभव है, यह बात पाठकों को सहज ही सूझेगी। अपने-पराये के बीच भेद न रखने की बात तो गीता के पन्ने-पन्ने में आती है। पर यह कैसे हो सकता है? यों सोचते-सोचते हम इस निश्चय पर पहुंचेंगे कि अनासक्तिपूर्वक सब काम करना ही गीता की प्रधान ध्वनि है; क्योंकि पहले ही अध्याय में अर्जुन के सामने अपने-पराये का झगड़ा खड़ा होता है। गीता के प्रत्येक अध्याय में यह बताया गया है कि ऐसा भेद मिथ्या और हानिकारक है। गीता को मैंने 'अनासक्तियोग' का नाम दिया है। यह क्या है, कैसे सिद्ध हो सकता है, अनासक्ति के लक्षण क्या हैं, आदि तमाम बातों का जवाब इस पुस्तक में है। गीता का अनुसरण करते हुए मैं इस युद्ध को प्रारंभ किये बिना न रह सका। एक मित्र के शब्दों में, मेरे मन यह युद्ध धर्मयुद्ध है। और ठीक इस आखिरी फैसले के मौके पर इस पुस्तक का प्रकाशित होना मेरे लिए शुभ शकुन है।

२२ मई, १९३०

: १० :

गीता-जयन्ती

पूना से 'केसरी' वाले श्री जी. वी. केतकर लिखते हैं :

"इस वर्ष गीता-जयंती शुक्रवार २२ दिसंबर को पड़ती है। जो प्रार्थना मैं कई साल से आपसे करता आया हूं, वही इस बार भी दुहराता हूं कि आप 'हरिजन' में गीता और गीता-जयंती पर लिखें। एक बात और भी पिछले वर्ष कही थी, वह फिर से कहता हूं। गीता पर आपने अपने व्याख्यानों में एक जगह कहा है कि जिन्हें ७०० श्लोकों की पूरी गीता का पारायण करने का अवकाश नहीं, उनके लिए दूसरा और तीसरा अध्याय पढ़ लेना काफ़ी है। आपने यह भी कहा है कि इन दो अध्यायों का भी सार किया जा सकता है। संभव हो तो आप समझाइए कि आप दूसरे और तीसरे अध्याय को क्यों आधारभूत मानते हैं? मैंने भी दूसरे और तीसरे अध्याय के श्लोक गीता-बीज के रूप में प्रकाशित करके यही विचार जनता के सामने रखने का प्रयत्न किया है। अवश्य ही आपके इस विषय पर लिखने का प्रभाव अधिक पड़ेगा।"

अबतक मैंने श्री केतकर की बात नहीं मानी थी। मैं नहीं जानता कि जिस उद्देश्य से ये जयंतियां मनाई जाती हैं, वह इस तरह पूरा होता है। आध्यात्मिक विषयों में विज्ञापन के साधारण साधनों का स्थान नहीं होता। आध्यात्मिक वस्तुओं का उत्तम विज्ञापन तो उनके अनुरूप कर्म ही होता है। मेरा विश्वास है कि सभी आध्यात्मिक ग्रंथों का प्रभाव दो बातें होने से पड़ता है। एक तो यह कि उनमें लेखकों के अनुभवों का

सच्चा इतिहास हो और दूसरे उनके भक्तों का जीवन यथा-संभव उनके उपदेशकों के अनुसार रहा हो। इस प्रकार ग्रंथ-कार अपने ग्रंथों में प्राण-संचार करते हैं और अनुयायी उनके अनुसार आचरण करके उनका पोषण करते हैं। मेरी सम्मति में करोड़ों पर गीता, तुलसीकृत रामायण आदि पुस्तकों के प्रभाव का यही रहस्य है। श्री केतकर के आग्रह को मानने में मैं यह आशा रखता हूं कि आगामी जयंती-उत्सव में भाग लेनेवाले उचित भावना से प्रेरित होंगे और गीता के पवित्र संदेश के अनुसार अपना जीवन बनाने का दृढ़ निश्चय करेंगे। मैंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यह संदेश आसक्ति छोड़कर स्वधर्मपालन करना ही है। मेरा यह मत रहा है कि गीता का मुख्य विषय दूसरे अध्याय में है और उसके अनुसार आचरण करने की विधि तीसरे अध्याय में बताई गई है। ऐसा कहने का यह अर्थ नहीं है कि दूसरे अध्यायों की महिमा कम है। वास्तव में एक अध्याय का अपना महत्त्व अलग ही है। विनोबा ने गीता को 'गीताई' अर्थात् 'गीता-माता' कहकर पुकारा है। उन्होंने उसका बहुत ही सरल और ओजस्वी मराठी में पद्यानुवाद किया है। उसका छंद भी वही रखा है, जो मूल संस्कृत में है। हजारों के लिए गीता ही सच्ची माता है; क्योंकि वह कठिनाइयों में सान्त्वना-रूपी पौष्टिक दूध देती है। मैंने उसे अपना आध्यात्मिक कोश कहा है; क्योंकि दु:ख में मैं उससे कभी निराश नहीं हुआ हूं। इसके अतिरिक्त, यह ऐसी पुस्तक है जिसमें साम्प्रदायिकता और धार्मिक अधिकारवाद का नाम भी नहीं है। यह मनुष्य-मात्र को प्रेरणा देती है। मैं गीता को क्लिष्ट पुस्तक नहीं मानता। नि:सन्देह पंडितों के तो जो चीज

भी हाथ पड़ जाय, उसी में वे गहनता देख लेते हैं; परन्तु मेरी सम्मति में साधारण बुद्धि के मनुष्य को भी गीता के सरल संदेश को समझ लेने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। इसकी संस्कृत तो अत्यंत सरल है। मैंने गीता के कई अंग्रेजी अनुवाद पढ़े हैं, परन्तु एडविन आरनॉल्ड के छन्दानुवाद की तुलना का एक भी नहीं है। इसका नाम भी उन्होंने 'स्वर्गीय गीत' बहुत सुन्दर और उपयुक्त रखा है।

११ दिसंबर, १९३९

: ११ :

गीता और रामायण

बहुतेरे नौजवान कोशिश करते हुए भी पाप से बच नहीं पाते, जिससे वे हिम्मत खो बैठते हैं और फिर दिन-दिन पाप की गहराई में उतरते जाते हैं। बहुतेरे तो बाद में पाप ही को पुण्य भी मानने लगते हैं। ऐसों को मैं बहुत बार सलाह देता हूं कि वे गीताजी और रामायण का बार-बार अध्ययन और मनन करें; लेकिन वे इस बात में दिलचस्पी नहीं लेते। इसी तरह के नौजवानों की दिलजमई के लिए, उन्हें धीरज बंधाने की गरज से, एक नौजवान के पत्र का कुछ हिस्सा, जो इस विषय से संबंध रखता है, नीचे देता हूं :

"मन साधारणतः स्वस्थ है; किंतु जब कुछ दिनों तक मन बिलकुल स्वस्थ रह चुकता है और खुद इस बात का खयाल हो आता है तो फिर से पछाड़ खानी ही पड़ती है। विकार इतने जबर्दस्त बन जाते हैं कि उनका विरोध करने में बुद्धिमानी नहीं

मालूम पड़ती; लेकिन ऐसे समय प्रार्थना, गीता-पाठ और तुलसी-रामायण से बड़ी मदद मिलती है। रामायण को एक बार पढ़ चुका हूं, दुबारा सती की कथा तक आ पहुंचा हूं। एक समय था, जब रामायण का नाम सुनते ही जी घबराता था, लेकिन आज तो उसके पन्ने-पन्ने में रस पा रहा हूं। एक ही पृष्ठ को पांच-पांच बार पढ़ता हू, फिर भी दिल ऊबता नहीं। काग-भुशुण्डजी की जिस कथा के कारण मेरे दिल में तुलसी-रामायण के प्रति घृणा पैदा हो गई थी और वह बुरी लगती थी, वही आज सबसे अच्छी मालूम होती है। उसमें मैं गीता के ११वें अध्याय से भी ज्यादा काव्य देख रहा हूं। दो-चार साल पहले आधे दिल से स्वच्छता पाने की कोशिश करने पर भी उसे न पाकर जो निराशा पैदा होती थी, आज उस निराशा का पता भी नहीं है; उलटे मन में विचार आता है कि जो विकास अनंत काल बाद होनेवाला है, उसे आज ही पा लेने का हठ करना मूर्खता है ! सारे दिन में कातते समय और रामायण का अभ्यास करते समय आराम मिलता है।"

इस पत्र के लेखक में जितनी निराशा और जितना अविश्वास था, शायद ही किसी दूसरे नौजवान में उतनी निराशा और उतना अविश्वास हो। दोनों ने उसके शरीर में घर कर लिया था; लेकिन आज उसमें जिस श्रद्धा का उदय हुआ है, उससे सब नवयुवकों में आशा का संचार होना चाहिए। जो लोग अपनी इंद्रियों को जीत सके हैं, उनके अनुभव पर भरोसा करके लगन के साथ रामायण आदि का अभ्यास करनेवाले का दिल पिघले बिना रह ही नहीं सकता। मामूली विषयों के अभ्यास के लिए भी जब हमें अक्सर बरसों तक मेहनत करनी पड़ती है, कई

तरकीबों से काम लेना पड़ता है, तो फिर जिस विषय में सारी जिंदगी की और उसके बाद की शान्ति का भी प्रश्न छिपा हुआ है, उस विषय के अभ्यास के लिए हममें कितनी लगन होनी चाहिए ? इसपर भी जो लोग थोड़े-से-थोड़ा समय और ध्यान देकर रामायण तथा गीता में से रसपान करने की आशा रखते हैं, उनके लिए क्या कहा जाय ?

ऊपर के पत्र में लिखा है कि पत्र-लेखक को जैसे ही अपने तन्दुरुस्त होने का खयाल आता है, विकार फिर से चढ़ दौड़ते हैं। जो बात शरीर के लिए है, वही मन के लिए भी है। जिसका शरीर बिलकुल चंगा है, उसे अपने अच्छेपन का खयाल कभी आता ही नहीं, न उसकी कोई जरूरत ही है, क्योंकि तंदुरुस्ती तो शरीर का स्वभाव है। यही बात मन को भी लागू होती है। जिस दिन मन की तंदुरुस्ती का खयाल आवे, समझ लें कि विकार पास आकर झांक रहे हैं। अतः मन को हमेशा स्वस्थ बनाये रखने का एकमात्र उपाय उसे हमेशा अच्छे विचारों में लगाये रखना ही है। इसी कारण रामनाम आदि के जप की बात की शोध हुई और वे गाये गए। जिसके हृदय में हर घड़ी राम का निवास हो, उसपर विकारों का हमला हो ही नहीं सकता। सच तो यह है कि जो शुद्ध बुद्धि से रामनाम का जप करता है, समय पाकर रामनाम उसके हृदय में घर कर लेता है। इस तरह हृदय-प्रवेश होने के बाद रामनाम उस मनुष्य के लिए एक अभेद्य किला बन जाता है। बुराई, बुराई का खयाल करते रहने से नहीं मिटती। हां, अच्छाई का विचार करने से बुराई जरूर मिट जाती है। लेकिन बहुत बार देखा गया है कि लोग सच्ची नीयत से उलटी तरकीबें काम में लाते हैं।

'यह कैसे आई, कहां से आई ?—वगैरा विचार करने से बुराई का ध्यान बढ़ता जाता है। बुराई को मेटने का यह उपाय हिंसक कहा जा सकता है। इसका सच्चा उपाय तो बुराई से असहयोग करना है। जब बुराई हम पर आक्रमण करे तो उससे 'भाग जाना' कहने की कोई जरूरत नहीं। हमें तो यह समझ लेना चाहिए कि बुराई नाम की कोई चीज है ही नहीं और हमेशा स्वच्छता का, अच्छाई का, विचार करते रहना चाहिए। 'भाग जा' कहने में डर का भाव है। उसका विचार तक न करने में निडरता है। हमें सदा यह विश्वास बढ़ाते रहना चाहिए कि बुराई मुझे छू तक नहीं सकती। अनुभव द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है।

१८ अप्रैल, १९२९

: १२ :

राष्ट्रीय शालाओं में गीता

एक संवाददाता पूछते हैं कि क्या राष्ट्रीय शालाओं में हिंदू और अहिंदू सब बालकों को गीता अनिवार्य रूप में सिखाई जा सकती है ? दो साल पहले जब मैं मैसूर में सफर कर रहा था, मुझे यह दुःख के साथ कहना पड़ा था कि एक हाईस्कूल के हिंदू बालक गीता से परिचित न थे। इस तरह गीता के प्रति मेरा पक्षपात स्पष्ट है। मैं तो चाहता हूं कि गीता न केवल राष्ट्रीय शालाओं में ही, बल्कि प्रत्येक शिक्षा-संस्था में पढ़ाई जाय। एक हिंदू बालक या बालिका के लिए गीता का न जानना शर्म की बात होनी चाहिए। मगर अनिवार्यता के बारे में मेरा आग्रह

कम हो जाता है, खासकर राष्ट्रीय शालाओं के संबंध में। यह सच है कि गीता विश्व-धर्म की एक पुस्तक है, फिर भी यह एक दावा है, जो किसी पर लादा नहीं जा सकता। संभव है, कोई ईसाई, मुसलमान या पारसी इस दावे का विरोध करे और बाइबिल, कुरान या अवेस्ता के बारे में ऐसा ही दावा पेश करे। मुझे भय है कि हिंदू कहे जानेवालों के लिए भी गीता की शिक्षा अनिवार्य नहीं बनाई जा सकती है। कई सिख और जैन अपने आपको हिंदू मानते हैं? मगर संभव है, वे अपने बालक-बालिकाओं को अनिवार्य रूप से गीता के पढ़ाये जाने का विरोध करें। साम्प्रदायिक या जातीय शालाओं की बात ही दूसरी होगी। मसलन्, एक वैष्णवशाला के लिए गीता को धार्मिक शिक्षा का अंग बनाना मेरी राय में बिलकुल उचित होगा। प्रत्येक स्वतंत्र शाला को हक़ है कि वह अपनी पढ़ाई का पाठ्यक्रम स्वयं निश्चित करे। मगर एक राष्ट्रीय शाला को तो स्पष्ट मर्यादाओं में रहकर काम करना पड़ता है। जहां अधिकार या हक में दस्तंदाजी नहीं होती, वहां अनिवार्यता का भी प्रश्न नहीं उठता। एक खानगी पाठशाला में प्रवेश करने का कोई दावा नहीं कर सकता, मगर यह मानी हुई बात है कि राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य को राष्ट्रीय शाला में जाने का अधिकार है। अतएव एक जगह जो बात प्रवेश की शर्त मानी जायगी, वही दूसरी जगह अनिवार्य न होगी। बाहरी दबाव से गीता कभी विश्व-व्यापिनी नहीं होगी। वह विश्व-व्यापिनी तो तभी होगी, जब उसके प्रशंसक उसे जबर्दस्ती दूसरों के गले न उतारकर स्वयं अपने जीवन द्वारा उसकी शिक्षाओं को मूर्तरूप देंगे।

१८ मार्च, १९२९

: १३ :

अहिंसा परमोधर्मः

कैनन शेप्पर्ड और दूसरे सच्चे और उत्साही ईसाई इंग्लैंड में युद्धों के ख़िलाफ़ आंदोलन कर रहे हैं। दिल्ली के 'स्टेट्समैन' ने चार लेख लिखकर इस आंदोलन की बेहद निंदा की है। इस पत्र ने अपने पक्ष-समर्थन में भगवद्गीता को भी घसीटा है :

"असल में, क्रिश्चियानिटी की वास्तविक किन्तु कठिन शिक्षा यही मालूम पड़ती है कि समाज को अपने शत्रुओं से लड़ना चाहिए, पर साथ ही, उनसे प्रेम भी करना चाहिए।

"मिस्टर गांधी भी इस बात पर खासतौर से ध्यान दें कि गीता की भी साफ-साफ यही शिक्षा है। कृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि विजय उसे ही मिलती है, जो पूर्णतया निर्भय और निर्वैर होकर लड़ता है। सचमुच, इस महाकाव्य के द्वितीय अध्याय ने एक विवेकशील युद्धविरोधी तथा एक सच्चे योद्धा के बीच, सर्वोच्च भूमिका पर सोचने पर भी, सारा विवाद खत्म कर दिया है। स्थानाभाव के कारण, हम उनमें से अधिक उद्धरण तो नहीं दे सकते; पर वह सारा काव्य (गीता) एक बार नहीं, बारंबार पढ़ने की चीज़ है।"...

इन लेखों का लेखक शायद यह नहीं जानता कि आतंकवादियों ने भी इन्हीं श्लोकों का हवाला दिया है। सच्ची बात तो यह है कि निर्विकार चित्त से पढ़ने पर मुझे तो भगवद्गीता में इस लेखक ने जो अर्थ लगाया है, उससे ठीक विपरीत अर्थ मिला है। वह भूल जाता है कि पश्चिम के युद्ध-विरोधी

जिस अर्थ में विवेकशील कहे जाते हैं, वैसा अर्जुन नहीं था। अर्जुन तो युद्ध का हिमायती था। कौरवों की सेना से पहले वह कई बार लोहा ले चुका था। उसके हाथ-पैर तो तब ढीले पड़ गये, जब उसने दोनों सेनाओं को युद्ध के लिए तैयार देखा और उनमें अपने प्यारे-से-प्यारे स्वजनों तथा पूज्य गुरुजनों को पाया। न तो वहां मानवता के प्रति प्रेम था और न युद्ध के प्रति घृणा ही थी, जिससे प्रेरित होकर अर्जुन ने कृष्ण से वे प्रश्न पूछे थे और कृष्ण भी ऐसी परिस्थिति में दूसरा कोई उत्तर दे ही नहीं सकते थे। महाभारत तो रत्नों की एक खान है, जिनमें से गीता केवल एक किन्तु सबसे अधिक देदीप्यमान रत्न है। लिखा है कि उस युद्ध में लाखों योद्धा एकत्र हुए थे और दोनों तरफ से अवर्णनीय अमानुषिकताएं बरती गई थीं। इन लाखों की सेना में से केवल सात को जीवित रखकर तथा उन्हें वह निःसार विजय प्रदान करके इस महाकाव्य के अमर कवि ने तो युद्ध की निरर्थकता ही सिद्ध की है; किंतु युद्ध को केवल एक मूर्खतापूर्ण धोखे की चीज सिद्ध करने के अलावा भी, महाभारत एक उससे भी ऊंचा संदेश हमें देता है। मनुष्य को अगर एक अमर प्राणी समझा जाय तो महाभारत उसका एक आध्यात्मिक इतिहास है और इसके वर्णन में एक ऐतिहासिक घटना का उसने उपयोगमात्र किया है, जो तत्कालीन छोटे-से जगत के लिए तो बड़ी महत्वपूर्ण थी, पर आजकल की दुनिया के लिए कोई भी महत्व नहीं रखती। अनेक आधुनिक आविष्कारों के कारण आज तो यह सारा संसार हथेली पर रखे हुए आंवले के समान मालूम होने लगा है। उसके किसी एक कोने में घटी हुई घटना का असर दूर-दूर तक सारे संसार

में फैल जाता है। यह बात उस समय नहीं थी। हमारे हृदयों में जो दिन-रात सत् और असत् के बीच सनातन संघर्ष चल रहा है, महाभारतकार उसे इस कथानक द्वारा एक अमर काव्य के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत करता है। वह बताता है कि यद्यपि अंत में तो सत्य ही की विजय होती है, तो भी असत् किस तरह सशक्त होकर अत्यन्त विवेकशील पुरुष को भी 'किंकर्तव्य-विमूढ़' बना देता है। महाभारत सदाचार का एक-मात्र मार्ग भी हमें बताता है।

लेकिन भगवद्गीता का वास्तविक संदेश जो कुछ भी हो, शांति-स्थापन आंदोलन के नेताओं के लिए तो गीता की शिक्षा नहीं, बाईबिल की शिक्षा महत्त्व रखती है, क्योंकि उसी को उन्होंने अपना आध्यात्मिक मार्ग-दर्शक बना रखा है। फिर बाइबिल का भी तो कई तरह से अर्थ लगाया जाता है। उन्हें बाइबिल का वह अर्थ स्वीकार नहीं है, जो साधारणतया ईसाई धर्माधिकारी लगाते हैं। उन्हें तो वह अर्थ मंजूर है, जो इसके श्रद्धायुक्त अन्तःकरण से पढ़ने पर मालूम होता है। असल में, सबसे महत्त्वपूर्ण चीज़ तो है युद्ध विरोधियों का अहिंसा अर्थात् प्रेम-धर्मविषयक ज्ञान। अहिंसा का अर्थ बहुत व्यापक है। अंग्रेजी का 'नान-वायलेन्स' शब्द उसके लिए बिलकुल अपर्याप्त है। 'स्टेट्समैन' के ये लेख युद्ध-विरोधियों के लिए एक खासी चुनौती ही हैं। मुझे दुःख है, इस आंदोलन के विषय में मुझे पूरी जानकारी नहीं है। युद्ध-विरोधियों के नज़दीक भले ही मेरे विचारों का विशेष महत्त्व न हो, पर जहां तक मुझे भीतरी बातों का पता है, कुछ लोग तो ज़रूर उसका खयाल करेंगे, क्योंकि वे भी अक्सर मुझसे पत्र-व्यवहार करते हैं और अब तो

वे एक क़दम और आगे बढ़ गये हैं; क्योंकि उन्होंने रिचर्ड ग्रेग की 'अहिंसा की शक्ति' नामक पुस्तक को लगभग अपनी पाठ्य-पुस्तक बना लिया है। लेखक (श्री ग्रेग) के शब्दों में यह पुस्तक अहिंसा के दावे का, जैसा कि मैं उसे समझा हूं, पाश्चात्य संसार की भाषा में प्रतिपादन है। इसलिए बग़ैर किसी प्रकार की दलील वग़ैरा दिये, अगर मैं यहां अहिंसा की सफलता की कुछ शर्तें तथा अप्रकट अर्थ लिख दूं तो शायद धृष्टता न होगी।

१. अहिंसा परमश्रेष्ठ मानव-धर्म है, पशुबल से वह अनंत गुना महान् और उच्च है।

२. अंततोगत्वा वह उन लोगों को कोई लाभ नहीं पहुंचा सकती, जिनकी उस प्रेमरूपी परमेश्वर में सजीव श्रद्धा नहीं है।

३. मनुष्य के स्वाभिमान और सम्मान-भावना की वह सबसे बड़ी रक्षक है। हां, वह मनुष्य की चल-अचल सम्पत्ति की हमेशा रक्षा करने का आश्वासन नहीं देती, हालांकि अगर मनुष्य उसका अभ्यास कर ले तो शस्त्रधारियों की सेनाओं की अपेक्षा वह इसकी अधिक अच्छी तरह रक्षा कर सकती है। यह तो स्पष्ट है कि अन्याय से अर्जित सम्पत्ति तथा दुराचार की रक्षा में वह जरा भी सहायक नहीं हो सकती।

४. जो व्यक्ति और राष्ट्र अहिंसा का अवलंबन करना चाहें, उन्हें आत्म-सम्मान को छोड़कर, अपना सर्वस्व (राष्ट्रों को तो एक-एक आदमी) गंवाने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसलिए वह दूसरे के मुल्कों को हड़पने अर्थात्, आधुनिक साम्राज्यवाद से, जो कि अपनी रक्षा के लिए पशुबल पर निर्भर रहता है, बिलकुल मेल नहीं खा सकता।

५. अहिंसा एक ऐसी शक्ति है, जिसका सहारा बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री-पुरुष सब ले सकते हैं, बशर्ते कि उनकी उस करुणामय में तथा मनुष्य-मात्र में सजीव श्रद्धा हो। जब हम अहिंसा को अपना जीवन-सिद्धांत बना लें तो वह हमारे संपूर्ण जीवन में व्याप्त होना चाहिए, यों कभी-कभी उसे पकड़ने और छोड़ने से लाभ नहीं हो सकता।

६. यह समझना एक जबर्दस्त भूल है कि अहिंसा केवल व्यक्तियों के लिए ही लाभदायक है; जन-समूह के लिए नहीं। जितना वह व्यक्ति के लिए धर्म है, उतना ही वह राष्ट्रों के लिए भी धर्म है।

५ सितंबर, १९३६

: १४ :

गीताजी

मेरे लिए तो गीता जीवित मां है, कामधेनु है। गीता का नित्य वाचन नीरस लगता है; क्योंकि उसका मनन नहीं होता। हमें रोज रास्ता दिखानेवाली माता है, ऐसा समझकर पढ़ें तो नीरस नहीं लगेगी। हर रोज के पाठ के बाद एक मिनट के लिए उसपर विचार कर लें। रोज ही कुछ-न-कुछ नया मिलेगा। हां, संपूर्ण मनुष्य को उसमें से कुछ नहीं मिलेगा। पर जिससे नित्य कोई दोष हो जाते हों, उसे उबारनेवाली यह गीतामाता है, यह समझकर नित्य-पाठ से थके नहीं।

तुम्हें गीता के सतत अभ्यास से सब चिंताओं से मुक्त रहना सीखना है। हम सबकी फिक्र रखनेवाला ईश्वर बैठा

है। तब यह बोझा व्यर्थ ही हम क्यों ढोते फिरें ? हमें तो अपने हिस्से आया हुआ काम करते रहना है।

... ...

ज्यों-ज्यों श्रद्धा बढ़ेगी त्यों-त्यों बुद्धि बढ़ेगी। गीता तो यह सिखाती मालूम देती है कि बुद्धियोग ईश्वर कराता है। श्रद्धा बढ़ाना हमारा कर्त्तव्य है। यहां श्रद्धा और बुद्धि का अर्थ समझना रहता है। यह समझ भी व्याख्या करने से नहीं आती; बल्कि सच्ची नम्रता का विकास करने से आती है। जो यह मानता है कि वह सबकुछ जानता है, वह कुछ नहीं जानता। जो मानता है कि वह कुछ नहीं जानता, उसे यथासमय ज्ञान प्राप्त हो जाता है। भरे हुए घड़े में गंगाजल ईश्वर भी नहीं भर सकता। इसलिए हमें तो ईश्वर के सामने रोज खाली हाथ ही खड़े होना है। हमारा अपरिग्रहव्रत भी यही बताता है।

गीताजी जो धर्म सिखाती है, उसे समझो और उसके अनुसार अपना आचरण रखो।

... ...

गीता का मध्यबिन्दु क्या है, उसका निश्चय कर लेना। फिर प्रत्येक श्लोक का अर्थ, जो अपने जीवन में उपयोगी है, उसको आचार में रखना। यह सबसे बड़ी टीका है और यही गीता का सच्चा अभ्यास है। गीता का मध्यबिन्दु अनासक्ति ही है, इसमें थोड़ा भी शक नहीं होना चाहिए। दूसरे किसी कारण से गीता नहीं लिखी गई, उसमें कुछ मुझे भी शंका नहीं है और मैं तो यह अनुभव से जानता हूं कि बगैर अनासक्ति के न मनुष्य सत्य का पालन कर सकता है, न अहिंसा का। अनासक्त होना कठिन है, इसमें सन्देह नहीं; लेकिन उसमें आश्चर्य क्या

है ? सत्यनारायण का दर्शन करने में परिश्रम तो होना ही चाहिए और बगैर अनासक्ति के यह दर्शन अशक्य है।

'महादेवभाईनी डायरी',
भाग २, पृष्ठ १९१
३१ अक्तूबर, १९३२

... ...

गीता के मुख्य सिद्धान्त से असंगत कोई बात चाहे जहां भी लिखी हुई हो, मेरा मन उसे शास्त्र नहीं मानता। मेरे रूढ़िग्रस्त मित्रों को आघात न लगे तो मैं अपना अर्थ और अधिक स्पष्ट करना चाहता हूं। सदाचार के विश्वमान्य मूलतत्त्वों से असंगत किसी भी चीज को मैं शास्त्रप्रामाण्य में नहीं मानता। शास्त्रों का उद्देश्य इन मूलतत्त्वों को उखाड़ फेंकना नहीं, वरन् इन्हें टिकाये रखना है, और गीता मेरे लिए सम्पूर्ण है, इसका कारण यह है कि वह इन मूलतत्त्वों का समर्थन करती है। इतना ही नहीं, बल्कि वह किसी भी मूल्य पर इनसे चिपके रहने के लिए अचूक कारण बताती है।

'महादेवभाईनी डायरी',
भाग २, पृष्ठ ४६०
१७ नवंबर, १९३२

... ...

इसलिए भगवद्गीता में एक ही जगह, जहां 'शास्त्र' शब्द आता है, वहां मैंने उसका अर्थ यह नहीं किया कि गीता के सिवा कोई अन्य ग्रंथ या विधिवाक्य, बल्कि इसका अर्थ किसी जीवित प्रमाणभूत व्यक्ति में मूर्तिमान होनेवाला

सदाचार है।

'महादेवभाईनी डायरी',
भाग २, पृष्ठ ४६१
१७ नवंबर, १६३२

... ...

गीताजी के तीसरे अध्याय का पांचवां श्लोक बहुत ही चम-त्कारिक है। भौतिकशास्त्री बता चुके हैं कि इसमें बताया हुआ सिद्धान्त सर्वव्यापक है। इसका अर्थ यह है कि कोई आदमी एक क्षण भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। कर्म का अर्थ है गति और यह नियम जड़-चेतन सबके लिए लागू है। मनुष्य इस नियम पर निष्काम भाव से चलता है तो यही उसका ज्ञान और यही उसकी विशेषता है। इसीकी पूर्ति में ईशोपनिषद् के दो मंत्र हैं। वे भी इतने ही चमत्कारी हैं।

'महादेवभाईनी डायरी',
पहला भाग, पृष्ठ ३७४
२३ अगस्त, १६३२

... ...

आश्रम की एक बहन ने लिखा है, "गीता की बजाय अन्य पुस्तकें पढ़ना मुझे ज्यादा अच्छा लगता है।"

तूने तो ऐसी बात लिखी कि मुझे पकौड़ियां खाना अच्छा लगता है और रोटी अच्छी नहीं लगती। किन्तु जिसका शरीर ऐसा हो जाय, वह रोगी माना जायगा। निरोगी का पेट पकौ-ड़ियों से कभी भर नहीं सकता। वह तो रोटी ही मांगेगा। इसी तरह गीता को समझ। अन्तर्पट खुलनेपर तो गीता अच्छी लगेगी ही। जबतक गीता अच्छी नहीं लगती तबतक यह समझना

चाहिए कि कुछ कच्चापन है; लेकिन इसमें मुझ रसोइये का भी दोष तो है ही। मैंने जो गीता भेजी, वह कच्ची थी, इसलिए तुझे पची नहीं ? अब क्या हो ?

... ...

गीता कंठ करने में स्मरण-शक्ति का काम है, जो सरल है। गीता का अर्थ समझने में बुद्धि का काम है। यह कठिन है। इससे तुम्हें रस नहीं मिलता, किन्तु जब बुद्धि के काम में रस मिलने लगेगा तब अर्थ समझने की इच्छा जागेगी। इसलिए बुद्धि के विषयों में रस लेने लगो।

... ...

मुझे तो ऐसा ही लगता है कि मनुष्य कर्म करता हुआ ही सच्ची और शाश्वत चित्तशुद्धि को साध सकेगा।

... ...

कर्म किये विना किसी को सिद्धि नहीं मिली।

जो कर्म आसक्ति बिना नहीं हो सकते हों, वे सब त्याज्य हैं।

... ...

जिस प्रकार आलस्य त्याज्य है, उसी प्रकार अति परिश्रम त्याज्य है। 'समत्वं योग उच्यते' मन में रमता ही रहता है।

... ...

"तू जो कुछ भी करे, वह मुझे अर्पित करके मेरे निमित्त करना।"

"भक्ति करोगे तो ज्ञान तो प्राप्त होकर ही रहेगा।"

"निष्काम होकर कर्म करो।"

... ...

गीता-माता ने इसका उत्तर तो दिया ही है कि हमें पाप करने के लिए कौन प्रेरित करता है। काम और क्रोध हमसे पाप करवाते हैं। अपने पिछले स्मरणों से तुम सब इस बात को अनुभव कर सकोगे।

... ...

चि० धीरु[1],

तेरा पत्र मिला। नया वर्ष तुझे फले और तू और अच्छा सेवक बने। गीता तूने कंठ कर ली, अब उसे हृदय में उतार। ऐसा करने के लिए तुझे उसके अर्थ समझने चाहिए। 'अनासक्ति-योग' की प्रस्तावना दस-बीस पढ़ जा और फिर अर्थ समझने की कोशिश कर। उसे समझने के लिए संस्कृत का अभ्यास बढ़ा। जैसे भी बने, वैसे इसे पूरा कर। नये वर्ष का यही तेरा व्रत हो !

२३ अप्रैल, १९३१ बापू के अशीर्वाद

... ...

हम सब लोग जब कभी बीमार पड़ते हैं, साधारणतया उसके पीछे न केवल आहार-सम्बन्धी त्रुटि ही होती है, अपितु हमारे मस्तिष्क का ठीक-ठीक काम न करना भी होता है। गीताकार ने स्पष्टतः इस चीज को देखा और साफ़-साफ़ भाषा में संस्कार को इसकी रामबाण औषधि बताया। इसलिए जब कभी कोई चीज़ तुम्हारे मस्तिष्क को हैरान करती हो तो तुम्हें गीता की मुख्य शिक्षा पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए और अपने बोझ को उतार फेंकना चाहिए।

'बापूज़ लटर्स टू मीरा'
४ दिसंबर, १९३०

---

१. श्री धीरेन गांधी के नाम पत्र।

"बिना उपवास के प्रार्थना संभव नहीं"—यह कथन पूर्णतया सत्य है। यहां उपवास को व्यापक अर्थ में लेना चाहिए। शरीर के उपवास के साथ-साथ सभी इंद्रियों का उपवास होना आवश्यक है, और गीता में वर्णित 'अल्पाहार' भी शरीर का उपवास है। गीता भोजन-निग्रह का आदेश नहीं देती, बल्कि अल्पाहार के लिए कहती है। अल्पाहार सदा चलने वाला उपवास है। अल्पता का अर्थ है कि केवल उतना ही भोजन किया जाय, जितना शरीर को उस सेवा के लिए कायम रखने को पर्याप्त हो, जिसके करने के लिए उसका निर्माण हुआ है। इसकी कसौटी पुनः इस कथन में मिलती है कि जिस प्रकार स्वाद के लिए नहीं, बल्कि शरीर की निरोगता के लिए नपी-तुली मात्रा में और निश्चित समय पर औषधि का सेवन किया जाता है, उसी प्रकार आहार भी किया जाय। 'नपी-तुली मात्रा' में 'अल्पता' का भाव शायद अधिक अच्छी तरह से आ जाता है। आरनॉल्ड का रूपान्तर मुझे स्मरण नहीं है। पूरा भोजन लेना ईश्वर और मानव के प्रति पाप है। मानव के प्रति इसलिए कि पूरा भोजन करके हम अपने पड़ोसियों को उनके भाग से वंचित करते हैं। भगवान की अर्थ-व्यवस्था में केवल औषधिक मात्रा में प्रतिदिन सबको भोजन लेने की गुंजाइश है। हम सब-के-सब पूरा भोजन लेनेवाली जाति के लोग हैं। अन्तःप्रवृत्ति से यह जान लेना कि औषधिक मात्रा क्या है, भगीरथ काम है; क्योंकि मां-बाप का शिक्षण हमें ऐसा मिलता है कि हम पेटू बन जाते हैं। तब जब हम अभ्यस्त हो जाते हैं, हमें पता चलता है कि भोजन का उपयोग स्वाद के लिए नहीं, बल्कि अपने दास के रूप में अपने शरीर को कायम रखने के लिए होना चाहिए। उस

घड़ी से आनंद के लिए भोजन कर के पैतृक और स्व-अर्जित स्वभाव के विरुद्ध घमसान शुरू हो जाता है। इसलिए कभी-कभी पूर्ण उपवास और सदैव आंशिक उपवास करने की आवश्यकता होती है। आंशिक उपवास का अर्थ अल्पाहार अथवा गीता के अनुसार नपा-तुला भोजन लेना है। इस प्रकार 'उपवास के बिना प्रार्थना संभव नहीं' यह कथन वैज्ञानिक है और इसकी सच्चाई की परीक्षा प्रयोग और अनुभव के द्वारा की जा सकती है।

'बापूज लैटर्स टू मीरा'
२६ जनवरी, १९३३

... ...

मैं गीतामाता के संदेश को हृदय में धारण करूंगा। यह विलक्षण माता है। मेरा खयाल है, तुम जानती हो कि वह माता कहलाती है। गीता का अर्थ है गेय। वह शब्द विशेषण के रूप में 'उपनिषद्' के साथ प्रयुक्त होता है, जो स्त्रीलिंग है। गीता कामधेनु की भांति है, जो सम्पूर्ण इच्छाओं की पूर्ति करती है। इसीलिए वह माता कहलाती है। अपने आध्यात्मिक जीवन को कायम रखने के लिए हमें जितने दूध की आवश्यकता है, उसके लिए अगर हम याचक दुधमुंहे बच्चे की तरह मांग करें तो वह अमर माता हमें सम्पूर्ण दूध दे देती है। उसमें अपने लाखों बच्चों को अपने अजस्त्र थनों से दूध देने की क्षमता है।

'बापूज लैटर्स टू मीरा'
२४ फरवरी, १९३३

... ...

गीताधर्म का अनुयायी प्रसन्नतापूर्वक बिना चीजों के काम चलाना सीखता है। गीता की भाषा में इसे स्थितप्रज्ञ कहते

हैं, कारण कि गीता में वर्णित सुख और दुःख समान हैं। स्थित-प्रज्ञ की अवस्था सुख-दुःख से ऊंची है। गीता का भक्त न सुखी होता है, न दुखी, और जब ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाती है तब पीड़ा, आनंद, विजय, पराजय, च्युति, प्राप्ति किसी की भी अनुभूति नहीं होती।

'बापूज लेटर्स टू मीरा'

४ मार्च १९३३

○